प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड; आगरा।

प्रथम संस्करण—१९५१
द्वितीय संस्करण—१९५४
मूल्य ५)

मुद्रक—
बालकृष्ण बंसल
बंसल प्रेस, आगरा।

हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का संशोधित संस्करण पाठकों के समक्ष आरहा है। विद्वान लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत की है। पुस्तक की विशेषता यह है कि आदि युग से लेकर वर्तमान युग तक हिन्दी साहित्य विशेषकर काव्य में जिन जिन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है उन सब को उसने पुस्तक में स्थान दिया है। प्रवृत्तियों के साथ-साथ कवियों और लेखकों की भी समीक्षा की गई है। ऐतिहासिक क्रम का सदैव निर्वाह किया गया है। आशा है परीक्षार्थी-वर्ग को पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

—प्रकाशक

विषय-सूची

भक्तिकाल

रीतिकाल

आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य की परम्परा

हिन्दी साहित्य की परम्परा कब से चली इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसका विशेष कारण यह है कि इस संबंध में इतिहासवेत्ताओं तथा भाषा-शास्त्रियों द्वारा जितनी खोजें हुई हैं उनसे न तो हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ पता लग सकता है और न उसके आदि स्वरूप का निश्चय हो सकता है। अतः इस संबंध में जो कुछ विचार किया गया है वह अनुमान पर ही आधारित है। हिन्दी साहित्य के उत्पत्ति काल के निश्चय में यह सिद्धान्त विशेष रूप से काम में लाया गया है कि जब से अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रचनाओं के लिए रूढ़ हुई तभी से हिन्दी-साहित्य का सूत्रपात हुआ। यह सिद्धान्त ठीक भी है क्योंकि यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि जब अपभ्रंश का व्यवहार साहित्य में होता था तब पुरानी हिन्दी बोलचाल की भाषा थी। जब साहित्यिक भाषा रूढ़िग्रस्त तथा जनसाधारण की पहुँच से एकदम दूर हो जाती है तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ले लेती है। किन्तु अपभ्रंश कब से रूढ़िबद्ध हुई इस विषय में बिना किसी पुष्ट प्रमाण के निश्चित रूप से अपनी संमति प्रकट करना असंभव है। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के आदिकाल के निर्धारण में एक बड़ी कठिनाई और उपस्थित होती है। वह यह है कि जो कवि अथवा लेखक अपनी रचनाओं को अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं वे साहित्यिक भाषा को छोड़कर जनसाधारण की भाषा का व्यवहार करते हैं। धीरे-धीरे शिष्ट साहित्य में उनकी रचनाओं की गणना होने लगती है। तब से एक नए साहित्य का प्रारम्भ मान लिया जाता है, यद्यपि उसका प्रारंभ बहुत समय पूर्व हो जाता है। अतएव नवीन साहित्य से आदिकाल के निश्चय करने का प्रयत्न भ्रम से शून्य नहीं हो सकता। यही कठिनाई हिन्दी साहित्य के आदिकाल के निर्धारण में विशेष रूप से उपस्थित होती है।

हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने इसका आरम्भ विक्रम की सातवीं शताब्दी में माना है, और अपने मत के समर्थन में उन्होंने राजा भोज के पूर्व-पुरुष राजा मान के सभासद 'पुष्य' नामक कवि के बनाए हुए रीति तथा अलंकार सम्बन्धी ग्रंथ का उल्लेख किया है। शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'शिवशिंह सरोज' में इसका उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है तथा इसके एक भी उद्धृत अंश का पता तक नहीं है। जिस ग्रन्थ का पता तक नहीं है उसे केवल जनश्रुतियों के आधार पर विशेष काल में तथा विशेष व्यक्ति द्वारा रचित मान लेना न्यायसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी लक्षण-ग्रन्थ को किसी साहित्य का आदिम ग्रन्थ मान लेना असंगत है। यदि संस्कृत साहित्य की परंपरा के परिमाण-स्वरूप ऐसा संभव भी हो तो भी इस मत को प्रमाणिक मानने में आपत्ति है। आपत्ति यह है कि इस मत के अनुसार हमें यह मानना पड़ता है कि एक तो इस ग्रंथ के पश्चात दो-तीन सौ वर्ष तक हिन्दी में कोई पुस्तक लिखी ही नहीं गई और यदि लिखी भी गई तो उसका कोई पता तक नहीं। ये दोनों बातें भ्रमात्मक हैं। इस ओर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने बहुत खोज की है। राहुल सांकृत्यायन का मत है कि सरपा आदि सिद्धों की भाषा संस्कृत से अधिक हिन्दी के समीप है। यह भाषा लोकभाषा थी और संस्कृत केवल उच्चवर्ग की भाषा थी। अतः सिद्धों की भाषा को हिन्दी भाषा का ही प्राचीन रूप समझना चाहिए। इसी मत के आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम लेखक मान लिया है। उसका समय संवत् ८१७ है। किन्तु राहुल सांकृत्यायन के विरुद्ध डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय सं० ६९० माना है।

कुछ विद्वान हिन्दी साहित्य का उत्पत्तिकाल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास इस मत के समर्थक हैं। उन्होंने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इस पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि हेमचन्द्र ने जो अपने प्रसिद्ध व्याकरण 'हेमचन्द्र-शब्दानुशासन' में नागर अपभ्रंश के उदाहरण दिए हैं उनमें हिन्दी के प्राथमिक रूप की झलक स्पष्ट दृष्टिगत होती है। डा० साहब ने यह भी लिखा है कि हेमचन्द ने जो उदाहरण उपस्थित किए हैं वे अपने समय से पूर्व के हैं, क्योंकि उदाहरण सदैव अपने स

पूर्व की रचनाओं से लिए जाते हैं। हेमचन्द का व्याकरण बारहवीं शताब्दी को रचना है, अतः हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माननी चाहिए। इसके अतिरिक्त आपने यह भी लिखा है कि ग्यारहवीं शताब्दी से जो हिन्दी-साहित्य की परंपरा चली वह अब तक चलती आई है। आचार्य शुक्ल जी भी इसी मत के समर्थक हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से माना है। उनके कथनानुसार हिन्दी साहित्य का बनना तब प्रारम्भ हुआ जब राजा भोज के समय में (सं० १०५० के लगभग) अपभ्रंश भाषा काव्य के लिए रूढ़ हो चली थी, जैसा कि तत्कालीन रचनाओं की भाषा से स्पष्ट है।

आजकल हिन्दी साहित्य का आरम्भकाल आचार्य शुक्ल के अनुसार संवत् १०५० ही माना जाता है। केवल उनका काल निर्धारण ही प्रमाणिक माना गया है। अधिकांश इतिहासकारों ने उसी का अनुकरण किया है। अतः हिन्दी साहित्य की परंपरा संवत् १०५० से अब तक चली आरही है, यह मान लेना चाहिये। हिन्दी साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में बहुत सी खोजें आजकल हो रही हैं किन्तु कोई संतोषजनक नहीं है। इसका कारण यह है कि पुरानी हिन्दी का खोज-कार्य संयुक्त प्रदेश में ही अधिक हुआ है तथा उसका साहित्य अधिकतर राजपूताने का मिलता है। ऐसी दशा में जब तक राजपूताने में इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जायगा, तब तक हिन्दी साहित्य के आदिकाल का भली भांति निश्चय नहीं हो सकेगा। राजपूताने के राजाओं का ध्यान इस ओर कभी आकृष्ट नहीं हुआ। राजपूताने के अनेक राजकीय पुस्तकालयों में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जिनसे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के निश्चय में सहायता मिल सकती है। यह कार्य बिना राजकीय सहायता के सफलतापूर्वक नहीं हो सकता है। इधर कुछ दिनों से राजस्थान के कुछ उत्साही साहित्य-प्रेमियों ने अपनी रुचि इस ओर प्रकट की है, किन्तु व्यापक सहयोग और आर्थिक सहायता के अभाव में अभीष्ट सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में मिलती है। एक अन्तःसाक्ष्य के रूप में और दूसरी बाह्य साक्ष्य के रूप में। साहित्य के जितने परिचय ग्रन्थ हैं, उनके द्वारा मिली हुई सामग्री अन्तर्साक्ष्य के रूप में है और साहित्य के

अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में। अन्तर्साक्ष्य का उल्लेख करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में २५ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं:—

१—**चौरासी और दो सौ वैष्णवन का वार्ताएँ**—लेखक गोकुलनाथ। इसमें पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर, प्रकाश डाला गया है। अष्ट, छाप के कवि भी इन्ही वैष्णवों में से थे।

२—**भक्तमाल**—लेखक नाभादास। इसमें प्रत्येक प्रसिद्ध वैष्णव कवि की प्रशस्ति में एक-एक छप्पय मिल जाता है।

३—**श्री गुरु ग्रन्थ साहब**—लेखक गुरु अर्जुन देव। इसमें नानक, कबीर, रैदास, नामदेव आदि १६ सन्त कवियों की कविताओं का संकलन है।

४—**गोसाईं चरित्र**—लेखक बाबा बेनीमाधवदास। इसमें गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र गान किया गया है।

५—**भक्त नामावलो**—ध्रुवदास। इसमें ११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र वर्णित है।

६—**कविमाला**—तुलसी। ये तुलसी रामचरित्रमानस के तुलसीदास से भिन्न है। इस ग्रन्थ में सं० १५०० से सं० १७०० तक के प्रसिद्ध कवियों की कवितायों का संग्रह है।

७—**कालिदास हजारा**—कालिदास त्रिवेदी। २१२ कवियों की कविताओं का संग्रह। इन कवियों का समय सं० १४८० से लेकर १५७५ तक है। इसी ग्रन्थ के आधार पर शिवशिंह सेंगर ने अपना 'सरोज' लिखा था।

८—**काव्य निर्णय**—भिखारीदास। इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ-साथ कवियों का निर्देश भी मिल जाता है।

९—**सत्कवि-गिरा-विलास**—बलदेव। सत्रह कवियों का काव्य संग्रह जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।

१०—**कवि नामावली**—सूदन। इसमें सूदन ने दस कवियों के नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम किया है।

११—**विद्वान मोद तरंगिणी**—सुब्बासिंह। ४५ कवियों का काव्य-संग्रह जिसमें षटऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।

१२—राग सागरोद्भव रागकल्पद्रुम—कृष्णानन्द व्यास देव। १०० से अधिक कृष्णोपासक वैष्णवों का वर्णन है जिसमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी कवि आ जाते हैं।

१३—शृंगार संग्रह—सरदार कवि। इसमें १२५ कवियों के उदाहरण हैं।

१४—रस-चंद्रोदय—ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी। बुन्देलखण्ड के २४२ कवियों का संग्रह।

१५—दिग्विजय भूखन—गोकुलप्रसाद। १९२ कवियों का काव्य संग्रह।

१६—सुन्दरी तिलक—हरिश्चन्द्र। ६९ कवियों का काव्य संग्रह।

१७—काव्य संग्रह—महेशदत्त। कवियों का काव्य संग्रह।

१८—कवित्त रत्नाकर—मातादीन मिश्र। २० कवियों का काव्य संग्रह।

१९—शिवसिंह 'सरोज'—शिवसिंह 'सेंगर'। १००० कवियों का जीवन-वृत्तान्त उनकी कविताओं के उदाहरणों सहित। इसी के आधार पर डा० ग्रियर्सन ने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' लिखा है।

२०—विचित्रोपदेश—नकछेदी तिवारी। अनेक कवियों का काव्यसंग्रह।

२१—कवि रत्नमाला—देवीप्रसाद मुन्सिफ। राजपूताने के १०८ प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह तथा जीवन-चरित्र।

२२—हफीजुल्लाखाँ—हफीजुल्ला खाँ। अनेक कवियों की कविताओं का संग्रह।

२३—संतवानी संग्रह तथा अन्य संतों की वानी—'अधम'। जीवन-चरित्र के सहित २४ सन्त कवियों का काव्य संग्रह।

२४—सूक्ति सरोवर—लाला भगवानदीन। व्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियों का संग्रह।

२५—सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर—लाला सीताराम। साहित्य के अनेक विषयों पर आलोचनाएँ और उनका काव्य संग्रह।

अब बाह्य-साक्ष्य की सामग्री पर भी विचार कर लेना चाहिए। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत दो रूपों में सामग्री प्राप्त होती है। पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है तथा दूसरे रूप में शिलालेख तथा अन्य प्राचीन स्थानों के निर्देश आदि हैं। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत निम्नलिखित १० ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं:—

१—राजस्थान—टाड। राजस्थान के चारणों का निर्देश है।

२—हिन्दुइज्म एण्ड ब्राह्मनिज्म—मानियर विलियम। हिन्दू धर्म के सिद्धांतों के निरूपण में हिन्दी कवियों और आचार्यों के विचारों की आलोचना।

३—नागरी प्रचारिणी सभा की खोजों की रिपोर्ट—श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, हीरालाल। अनेक अज्ञात कवियों का परिचय एवं उनकी रचना के उदाहरण।

४—कबीर एण्ड दि कबीर पंथ—वेसकट। कबीर और कबीर के आदर्शों का स्पष्टीकरण।

५—हिस्ट्री आव दि सिख रिलीजन—मैकालिफ। सिक्ख धर्म का आविर्भाव, उसके अन्तर्गत हिन्दी कवियों का भी उल्लेख।

६—इण्डियन थीज्म—मैकनिकाल। हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण। इस सम्बन्ध में कवियों का उल्लेख।

७—ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग आव वार्डिक एण्ड हिस्ट्रीकल मैन्युस्क्रिप्ट—डा० एल० पी० टेसीटेरी। राजस्थान में डिंगल काव्य के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण।

८—एन आउट लाइन आव दि रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया—फर्कहार। धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में कवियों पर आलोचना।

९—गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज—ब्रिग्ज। गोरखनाथ और नाथ सम्प्रदाय का धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन।

१०—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज—मोतीलाल मैनारिया। राजस्थान के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय और उनकी रचना के उदाहरण।

अन्य बाह्य साक्ष्यों में चन्देल राजा परमाल के शिलालेख आदि हैं। ऐसे शिलालेख केवल प्राचीन इतिहास पर ही प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक स्थानों की सामग्री में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१—कबीर चौरा, काशी।

२—असीघाट, काशी।

३—कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट।

४—जायसी की समाधि, अमेठी ।

५—तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, राजापुर ।

६—तुलसीदास के स्थान का अवशेष, सोरों ।

७—नरसिंहजी का मन्दिर, सोरों ।

८—केशवदास का स्थान, टीकमगढ़ और सागर ।

उपर्युक्त सामग्री से तत्कालीन कवियों और लेखकों के जीवन चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः यह आलोचकों और साहित्यिकों के लिए बड़े महत्व की है। इस समस्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों के विषय में जनश्रुतियों द्वारा भी ज्ञान होता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक तो नहीं होतीं तथापि उनके द्वारा सत्य की ओर कुछ संकेत तो मिलता ही है।

अभी जिस बाह्य और अंतः साक्ष्य की सामग्री का उल्लेख हुआ है उसके आधार पर एक सुनिश्चित साहित्य का इतिहास तैयार नहीं हो सकता है। हिन्दी साहित्य में अभी ऐसे बहुत से स्थान हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास की जन्म तिथि, कबीर का चरित्र आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। एक तो हमारे यहाँ इतिहास लेखन की प्रथा ही नहीं थी। यदि घटनाओं और व्यक्तियों के विषय में कुछ लिखा गया तो उनकी तिथि आदि के विषय में कोई महत्व नहीं दिया जाता था। भक्तमाल, वार्ता आदि में चरित्र वर्णित हैं, पर उनमें तिथियों का किंचित् भी निर्देश नहीं है।

इसके अतिरिक्त कवियों ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। वे या तो अपने को तुच्छ समझते थे अथवा पारलौकिक सत्ता में लीन थे। वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के भी होते थे। 'कवित विवेक एक नहीं मोरे' अथवा 'हौं प्रभु सब पतितन कौ टीकौ' कहकर वे अपनी हीनता वर्णित किया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ट परिचय नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवियों ने अपनी ग्लानि और हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया है। तुलसीदास जी ने भी अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन आत्म ग्लानि के

वशीभूत होकर किया था। रीतिकाल के कवियों में अपने विषय में लिखने की परिपाटी ही चल पड़ी। रीतिकाल के प्रवर्तक केशवदास जी ने भी अपने विषय में लिखा है। किन्तु यदि हम वास्तविकता को देखें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे हिन्दी साहित्य में कवियों के विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव है। जो सामग्री हमें अतः साक्ष्य के रूप में मिलती है वह किसी साहित्य के इतिहास के लिये पूर्ण रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती।

हिन्दी साहित्य पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव

हिन्दी साहित्य पर बौद्ध दर्शन ने जो प्रभाव छोड़ा है वह अमिट है। हिन्दी साहित्य के जन्म के समय बौद्ध धर्म अपने विकृत रूप में था यह इतिहास के विद्यार्थियों से छिपा नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन परिस्थितियों, विचार-धाराओं तथा सम्प्रदायों ने हिन्दी साहित्य को जन्म दिया था उन पर भी किसी न किसी रूप में बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा था। अतः यदि विचार पूर्वक विश्लेषण करके देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। यही नहीं उन्होंने वास्तव में जो बौद्ध प्रभाव है उसे विदेशी शासन की प्रतिक्रिया कह कर टाल दिया है। इसका विशेष कारण यही है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा का सूत्रपात करने वाले अँग्रेज विद्वान हैं, जिन्होंने भारतीय चिन्ता का सम्यक् अध्ययन नहीं किया था। इन्हीं का अनुकरण हिन्दी में भी हुआ है। हिन्दी साहित्यकारों ने ऐतिहासिक तत्वों की छान-बीन में अपनी मौलिक प्रतिभा का विशेष परिचय नहीं दिया है। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने में सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन का समुचित लाभ उठाया है। किन्तु शुक्लजी जिन निराशात्मक भावनाओं को हिन्दु-जाति की पराधीनता जन्य प्रतिक्रिया मानते हैं उनमें बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का बहुत कुछ प्रभाव है। यह स्वाभाविक है कि अपने पतनकाल में कोई भी जाति जीवन तथा जगत के प्रति आशावादी विचार नहीं रख सकती। अतः जिन विरागात्मक विचारों के कारण बौद्ध-धर्म को जन-मन से तिरोहित होना पड़ा वही विचार सन्त और भक्त कवियों की वाणी में मिलते हैं। हजारी-

प्रसाद द्विवेदी निराशात्मक विचारों को स्वाभाविक विकास के रूप में देखते हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इस विषय में द्रष्टव्य है। अब हमें यह देखना चाहिये कि वे ऐसे कौन से बौद्ध धर्म प्रभाव हैं जिन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहासकार विदेशी शासन की प्रतिक्रिया कहते हैं। कुछ निम्नलिखित हैः—

१—हिन्दी साहित्य में चिन्ता—हिन्दू जाति के पतनकाल को देखकर हिन्दी साहित्य के इतिहासकार यह कह देते हैं कि निराशात्मक विचार विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी। उनका कहना है कि रीतिकाल में जो रीति-ग्रन्थों का आधिक्य तथा मौलकिता का अभाव दीखता है वह भी मुसलमानों के द्वारा पराजित होने के कारण हुआ। मुसलमानों ने समस्त हिन्दू जाति को पारतन्त्र बना दिया तथा इसी व्यापक पारतन्त्र्य का किंचित् प्रभाव हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में चिन्ता-पारतंत्र्य के रूप में मिलता है। किन्तु यह मत भ्रममूलक है। स्मरण दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि यह चिन्ता-पारतन्त्र्य भारतीय-चिन्ता में मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका थी। परवर्ती हिन्दी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी भ्रमात्मक होगा। वास्तव में, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता-पारतंत्र्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं। और वह कारण बौद्ध प्रभाव ही प्रतीत होता है।

दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में एक टीका की परम्परा सी चल पड़ी थी। मूल ग्रन्थ की टीकाएँ, उन टीकाओं की भी टीकाएँ, इस प्रकार कभी-कभी छ-छः आठ आठ पुश्त तक की टीकाओं की परम्परा चलती गई। ये टीकाएँ सर्वत्र चिन्ता-पारतन्त्र्य की निदर्शक नहीं हैं, कभी-कभी स्वतन्त्र मत के प्रतिपादनार्थ भी लिखी गई थीं प्राचीन ग्रन्थों से उनके जोड़ रखने का मतलब यही होता था कि अपने मत को आर्ष और श्रुतिसम्मत सिद्ध किया जा सके। ये टीकाएँ साधारणतः भाष्य कहलाती थीं, पर इन टीकाओं की भी टीकाएँ तथा उनकी भी टीकाएं लिखी गईं, जिनमें स्वाधीन चिन्ता क्रमशः कम होती चली गई। ग्यारहवीं शताब्दी में आकर इस टीका परम्परा ने एक नया मार्ग पकड़ा। टीका परम्परा की इस नई शाखा को हम निबन्ध-साहित्य कहते हैं। धर्मशास्त्रीय वचनों की छान बीन करके लोक-जीवन के व्यवहार के लिए उपयोगी

विधियों की व्यवस्था देना इन निबन्ध ग्रन्थों का कार्य था। इन निबन्ध ग्रन्थों के प्रचलन का मुख्य कारण यह है कि बौद्ध-धर्म के लोप होने के कारण बहुत सी जातियां ब्राह्मण धर्म के अन्दर आ गई थी। इन जातियों के आने के कारण बहुतसे व्रत, पूजा, पार्वण आदि हिन्दू धर्म में आघुसे। इन जातियों और इनकी समस्त आचार-परम्परा के नियमन और व्यवस्थापन के लिए ही इन निबन्ध-ग्रन्थों का प्रचलन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-धम के कारण ही भारतीय-साहित्य में चिन्ता-पारतन्त्र्य का जन्म हुआ जिसका उग्र रूप हम परवर्ती हिन्दी साहित्य के रीतकाल में देखते हैं।

२—हिन्दी साहित्य में लोकमत का प्राधान्य भी भ्रम में डालनेवाला है। इस लोकमत के प्राधान्य का कारण इतिहासकार यह बताते हैं कि मुसलमानी अत्याचारों से भारतीय जनता को अपना छुटकारा कविता के द्वारा संभव प्रतीत होता था। अतः कवियों ने ऐसी काव्य रचनाएँ लिखीं जिन्हें जनता समझ सकती थी तथा जो जनता पर अपना प्रभाव डाल सकती थीं। किन्तु मुसलमानों के आने से पहले ही भारतीय साहित्य में इस लोकवाद का जन्म हो चुका था। बौद्ध धर्म का जब इस देश से शंकर और कुमारिल द्वारा निर्वासन हुआ तभी से बौद्ध धर्म अपने दार्शनिक युक्ति जाल को छोड़कर लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। वह टोटे, टोने और जादू द्वारा लोकार्पण के रास्ते पर बड़ी तेजी से बढ़ा। इस प्रकार हिन्दी साहित्य से जो लोकमत का प्राधान्य दीखता है वह निश्चय ही बौद्ध-धर्म की देन था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे हिन्दी-साहित्य में जो चिन्ता-पारतन्त्र्य तथा लोकमत का प्राधान्य दृष्टिगत होता है वह एक प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रभाव ही है मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया नहीं। इनके अतिरिक्त भी हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। बौद्ध धर्म में भी महायान संप्रदाय का ही हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अन्य प्रभाव क्या है इसे भली भांति समझने के लिए हमें महायान-संप्रदाय की विशेषताओं की चर्चा भी कर लेनी चाहिए। महायान सम्प्रदाय की निम्नलिखित विशेषताओं की चर्चा पंडितों ने की है:—

१—सर्वभूत-हितवाद में विश्वास रखना और समस्त जगत के

प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना, स्वयं कष्ट सहकर नरक भोगकर भी अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

२—बोधिसत्त्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्तत्व प्राप्त कर सकता है।

३—बुद्धों के लोकोत्तरत्व में विश्वास। यह भी विश्वास रखना कि बुद्धगण काल और देश की सीमा में परिव्याप्त हैं।

४—जगत को सार शून्य और नश्वर मानना।

५—कर्मकाण्ड की बहुलता और मंत्र-तन्त्र में विश्वास।

६—संस्कृत के ग्रन्थों में विश्वास, पाली में नहीं।

७—बुद्ध में और विशेषकर अमिताभ बुद्ध में विश्वास और उनके नाम, जप से निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

हिन्दी साहित्य के सम्यक अध्ययन से हमें यह विश्वास हो सकेगा कि हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी अंग इनमें के एकाधिक सिद्धान्तों से प्रभावित थे। नाम-जप का पुराना सबूत भारतवर्ष के प्राचीन शास्त्रों में न मिलता हो यह बात तो नहीं, पर मध्ययुग के साहित्य में इसका जो रूप रहा वह निश्चयपूर्वक महायान सम्प्रदाय से ही अधिक सम्बद्ध था। इन बातों के अतिरिक्त बौद्ध-तत्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था, मध्य युग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिन्ह छोड़ गया है जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है। इसी प्रकार शास्त्र-सापेक्ष भाव-धारा के भक्तों के अवतार-वाद का जो रूप है, उस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू-चिन्ता के साथ उसका सम्बन्ध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओं से भिन्न ऐसी जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, कैनेडी आदि विद्वानों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कहीं मिल सकते हैं। लेकिन आज शोध की दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वह महायानियों की देन सिद्ध होने चला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य पर बौद्ध-धर्म का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाग

आचार्य शुक्ल जी के अनुसार हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया गया है। वे निम्नलिखित हैं:—

१—आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् (१०५०-१३७५)
२—पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् १३७५-१७००)
३—उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् १७००-१९००)
४—आधुनिक काल (गद्यकाल संवत् १९००........)

इस काल-विभाग का आधार यह है कि जिस काल में किसी विशेष प्रवृत्ति-मूलक रचनाओं का प्राचुर्य हो उसे एक पृथक काल के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और उसका नामकरण भी रचनाओं की विशेषता के अनुसार ही किया गया है। इस प्रकार इस काल-विभाग द्वारा प्रत्येक काल का एक सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी विशेष प्रवृत्ति-मूलक रचनाओं के प्राचुर्य से यह अभिप्राय है कि शेष दूसरी प्रवृत्तिमूलक रचनाओं में से यदि किसी एक प्रकार की रचनाओं को लें तो वे संख्या में उनके समान न हों; यह नहीं कि और सब ढंग की रचनाएँ मिलकर भी उनके समान संख्या में न हों। जैसे, यदि किसी काल में चार ढंग की रचनाएँ १०, ७, ३ और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढंग की १० पुस्तकें प्राप्त हैं उसकी प्रचुरता कही जायगी, यद्यपि अन्य पुस्तकें मिलकर संख्या में १२ हैं। इस काल-विभाग का दूसरा आधार ग्रन्थों की प्रसिद्ध है। जिस काल के भीतर जिस एक ही प्रवृत्ति वाले बहुत से प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं उस प्रकार के ग्रन्थ उस काल के लक्षण के अंतर्गत माने जायेंगे, चाहे और अनेक प्रकार के अप्रसिद्ध और साधारण कोटि के ग्रन्थ इधर-उधर भरे पड़े हों। प्रसिद्धि भी किसी काल को लोकप्रवृत्ति की परिचायक है। सारांश यह है कि इन दो बातों के आधार पर ही शुक्ल जी ने काल-विभाग किया है तथा उसका नामकरण भी किया है।

आदिकाल का नाम शुक्ल जी ने 'वीरगाथाकाल' रखा। इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों का प्राचुर्य ही दृष्टिगत होता है। ये वीरगाथात्मक ग्रन्थ उस समय की जनता में काफी प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके हैं। वीरगाथाकाल के प्रसिद्ध ग्रन्थ १२ हैं तथा नीचे दिए जाते हैं, जिनमें प्रथम चार अपभ्रंश भाषा के तथा अंतिम आठ देशभाषा के हैं:—

१—विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत, सं० १३५५)
२—हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर कृत, सं० १३५७)
३—कीर्तिलता और
४—कीर्तिपताका (विद्यापति कृत, सं० १४६०)
५—खुमान रासो (दलपति विजय, कृत सं० ११८०-१२०५)
६—वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह कृत, सं० १२१२)
७—पृथ्वीराज रासो (चंदबरदाई कृत, सं० १२२५-१२४९)
८—जयचन्द्र प्रकाश (भट्ट केदार कृत सं० १२२५)
९—जयमयंक-जस-चंद्रिका (मधुकर कवि कृत, सं० १२४०)
१०—परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप जगनिक कवि कृत सं० १२३०)
११—खुसरो की पहेलियां आदि (अमीर खुसरो कृत, सं० १३५०)
१२—विद्यापति की पदावली (विद्यापति कृत, सं० १४६०)

उपर्युक्त बारह ग्रन्थों में 'खुसरो की पहेलियाँ' और 'विद्यापति की पदावली' को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। कुछ विद्वान 'वीसलदेव रासो' को वीरगाथात्मक ग्रन्थों में स्थान न देकर शृंगारिक ग्रन्थ बतलाते हैं, किन्तु वीरों के जीवन से संबंधित सभी बातें वीरगाथा के अंतर्गत आजाती हैं। अतः हमें इस ग्रन्थ को वीरगाथात्मक ही मानना चाहिए। हम यह देखते हैं कि वीरगाथाकाल में प्रसिद्ध वीरगाथात्मक ग्रन्थों की प्रचुरता है, इसलिए इस काल का नाम वीरगाथाकाल उपर्युक्त ही है। वीरगाथाकाल के विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि इन वीरगाथात्मक ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'खुमान रासो' है। उसका रचनाकाल सं० ११८०-१२०५ तक का माना जाता है। जब यह इस काल का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, तब इस काल का प्रारंभ 'खुमान रासो' के

रचनाकाल से ही क्यों नहीं मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि हिन्दी भाषा में रचनाओं की परंपरा तो संवत् १०५० के लगभग से ही चल गई थी, किन्तु संवत् १०५० से लेकर 'खुमान रासो' की रचना के समय तक हिन्दी की रचनाओं की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है। जब तक किसी काल की रचनाओं की कोई विशेष प्रवृत्ति न होगी तब तक उसे पृथक् काल के रूप में स्वीकार नहीं किया जायगा। अतः संवत् १०५० से लेकर 'खुमान रासो' की रचना तक का जो समय है उसे कोई नाम न देकर वीरगाथाकाल के ही अंतर्भूत कर दिया है। एक बात और है—विद्यापति की रचनाओं का समय संवत् १४६० के लगभग माना जाता है तथा वीरगाथाकाल का समय सं० १०५०-१३७५ तक ही है। ऐसी दशा में विद्यापति को वीरगाथाकालीन कवि मानना अनुचित प्रतीत होता है। किंतु विद्यापति अपभ्रंश भाषा के अंतिम कवि थे और शुक्ल जी अपभ्रंश की परंपरा की समाप्ति वीरगाथाकाल में ही कर देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त विद्यापति हिन्दी साहित्य में भक्ति और शृंगार की धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं, जिनका भली भाँति स्मरण क्रमशः भक्तिकाल और रीतिकाल में हुआ, अतः ऐसा भी संभव है कि शुक्ल जी ने हिन्दी की भक्ति और शृंगारिक धारा का मूल स्रोत वीरगाथाकाल में दिखाने के लिए विद्यापति को वीरगाथाकालीन माना हो। कुछ विद्वानों ने विद्यापति को भक्तिकालीन कवियों में स्थान दिया है।

अब भक्तिकाल को लीजिए। इस काल में भक्ति विषयक रचनाओं का प्राचुर्य होने के कारण इसका नाम भक्तिकाल पड़ा। इस काल की रचनाओं में भक्ति-भावना का चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि महान कवियों ने इसी काल में रचना कर हिन्दी भाषा को नवीन समृद्धि से अभिवृद्ध किया। यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है। इस काल में अनेक सम्प्रदाय होने के कारण भक्त कवियों में भक्ति भावना विषयक पर्याप्त मतभेद है, किंतु उनकी रचनाएँ एक सामान्य भक्ति की भावना के अंतर्गत ली जा सकती हैं। इन कवियों में परस्पर अनेक प्रकार की विचित्रता तथा विभिन्नता होते हुए भी कुछ सामान्य भावनाएँ भी पाई जाती हैं, जिनको लक्ष्य करके इस काल का नाम भक्ति काल रखा गया है। इस काल में तीन विभिन्न धाराएँ

काल क्रम से प्रवाहित हुई हैं—निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी धारा, निर्गुण पंथ की प्रेममार्गी शाखा तथा सगुण भक्ति की धारा। सगुण भक्ति की धारा दो उप-शाखाओं में विभक्त है—कृष्ण भक्ति शाखा तथा रामभक्ति शाखा। इन दो उप शाखाओं में आगे चलकर कृष्ण भक्ति शाखा का ही अधिक विकास हुआ, किन्तु आगे चलकर इसकी परिणित रीति काल की घोर शृंगारिक धारा में हुई।

अब रीतिकाल का समय आता है। इस काल में रीति-ग्रन्थों को ही अधिक रचना हुई है, जिसके आधार पर इस काल का नाम रीतिकाल रखा गया है। यद्यपि इस काल में लक्ष्य-ग्रन्थों की भी कम रचना नहीं हुई, तथापि वे सब कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते वरन् लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण मात्र हैं। इस काल की कविता का मुख्य विषय शृङ्गार है, किन्तु उसे हम शुद्ध शृंगार के अन्तर्गत नहीं ले सकते क्योंकि उसमें शास्त्रीयता की अपेक्षा मौलिकता को बहुत कम स्थान मिला है। इस काल में नायिका-भेद और अलंकार शास्त्र का संस्कृत के ढंग पर बहुत अधिक विकास हुआ, मौलिक कविताओं के उदाहरण कम ही मिलते हैं। सारांश यह है कि इस काल की रचनाओं की प्रवृत्ति मौलिकता की अपेक्षा रीति की ओर बहुत अधिक झुकी हुई है।

अब अंत में आधुनिक काल आता है। इस काल की सब से महत्व पूर्ण घटना गद्य का विकास है। इसी कारण इस काल को आचार्य शुक्ल जी ने गद्य काल कहा है। कुछ विद्वानों ने इस काल का नाम गद्य-काल मानने से आपत्ति की है। उनका कथन है कि इस काल का पद्य भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। किंतु पद्य तो अन्य तीनों कालों का भी यह महत्वपूर्ण है तथा उनमें गद्य का नितांत अभाव है। इस काल में गद्य की इतनी शीघ्र तथा सर्वतोमुखी उन्नति होना हिंदी साहित्य में अवश्य एक आश्चर्यपूर्ण घटना है, किन्तु किसी काल का निर्धारण अथवा नामकरण घटनाओं के आधार पर न करके प्रवृतियों के आधार पर किया जाता है। यह काल अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है, जिनका पृथक् पृथक् दिग्दर्शन कराने के लिए एक शृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता है। वास्तव में भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी युग एक तो आधुनिक युग की धारा सीधी है, किन्तु छायावाद के जन्म के साथ ही नाना वादों और प्रवृत्तियों की इस युग में बाढ़ सी आ गई, जिससे अभी तक छुटकारा नहीं मिला है। इन

प्रवृत्तियों और वादों के आधार पर इस युग के अनेक विभाग किए जा सकते हैं तथा इस सब का और इनके मूल स्रोतों आदि का विवेचन भी किया जा सकता है। किंतु इन सब के लिए एक सुन्दर इतिहास की आवश्यकता है। हम स्थूल रूप में कालक्रम से आधुनिक युग के चार भाग कर सकते हैं वे हैं; भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग तथा प्रगतिवादी युग।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाग के विषय में एक बात और निवेदित करनी है। इस काल-विभाग से यह अभिप्राय नहीं है कि किसी काल में विशेष प्रवृत्ति मूलक रचनाओं को छोड़ कर किसी अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही न हों। प्रत्येक काल में सब प्रकार की रचनाएँ होती रही हैं, किन्तु यह अवश्य है कि किसी काल में एक प्रकार की रचनाओं का प्राचुर्य होता है, जो उसके लक्षण के अन्तर्गत आती हैं तथा अन्य प्रकार की रचनाएँ कम लिखी जाती हैं। उदाहरण के लिए भक्तिकाल में भी वीरगाथात्मक कविताएँ हुई हैं तथा रीतिकाल में भक्ति और वीरगाथात्मक रचनाएँ मिलती हैं। आजकल भी वीररस पूर्ण तथा भक्ति-सम्बन्धी कविताएँ होती हैं।

वीरगाथा काल

वीर-गाथाकाल की विशेषताएँ और परिस्थितियाँ

हिन्दी साहित्य में वीरगाथाकाल का समय संवत् १०५० से १३७५ तक का माना जाता है। इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों का प्राचुर्य है जिसके आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा-काल पड़ा। भारतवर्ष के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इसके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य थे। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता का केन्द्र बन गया था। कन्नौज, दिल्ली, अन्हलवाड़ा, अजमेर आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर को भाषा ही शिष्ट समझी जाती थी और चारण लोग उसी भाषा का प्रयोग काव्य में किया करते थे। उस काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है वह उसी देश का है। अतः यह स्वभाविक ही है कि उस देश की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर पड़ी हो। हर्षवर्धन के पश्चात देश खंड-खंड हो गया था। इन खण्डों के राजा प्रायः आपस में लड़ा करते थे। लड़ाई का कोई विशेष कारण भी नहीं होता था। कभी-कभी तो केवल शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये ही लड़ाई मोल ले ली जाती थी और बीच-बीच में मुसलमानों के आक्रमण होते रहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हिन्दी-साहित्य का जन्म हुआ तब लड़ाई-भिड़ाई का समय था। उस समय देश आन्तरिक अशान्ति और बाह्य आक्रमणों से त्रस्त था तथा अन्य बातों में उसकी उन्नति नहीं हो रही थी।

इस युद्ध के वातावरण में अन्य प्रकार की कविताओं पर से ध्यान हटकर वीर गाथाओं की ओर गया! इस भीषण हलचल तथा घोर अशांति के युग में प्रधानतः वीरगाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाई में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप

में व्याप्त रहती है उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज सुनाई देती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं हैं और जो थोड़ी-बहुत होती भी हैं, वे सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही काल-कवलित हो जाती हैं। हिन्दी साहित्य के आदि युग में जो वीर रस की कविताओं की प्रधानता पाई जाती है उसकी यही दशा है।

वीर गाथाकाल की कविताओं में मुख्यतः चार निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं:—

१—आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव—वीरगाथा काल की कविताओं की रचना विशेषतः राजाश्रय में हुई थी, अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस समय के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही साँस ली, तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। हिन्दी के आदि युग में अधिकांश ऐसे कवि हुए हैं जिन्हें समाज को संगठित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने में असमर्थ बनाने की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ-साधन करने की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीर गाथा काल के कवियों ने यद्यपि अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है तथापि उन में वांछनीय राष्ट्रीयता का एक प्रकार से अभाव ही रहा।

२—युद्धों के सुन्दर एवं सजीव वर्णन—इस काल के कवियों का युद्ध-वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास गर्भित किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदा-वली के बीच में वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की वह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज-बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा वर्णन इस युग

के कवियों ने किया, वैसा पीछे के कवियों में देखने में नहीं आया। उनकी वीर-वचनावली में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुन पड़ती है, और उनके युद्ध-वर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं।

३—वीर रस के साथ शृङ्गार रस का सम्मिश्रण—जब-जब वीरगाथाकालीन चारणों को युद्ध अथवा अपने आश्रयदाताओं के शौर्य का वर्णन करना पड़ता था तब-तब वे किसी एक ऐसी रमणी की उद्भावना कर लिया करते थे, जो युद्ध का कारण-स्वरूप होती थी। उस समय अधिकांशतः स्त्रियाँ ही पारस्परिक वैमनस्य का कारण हुआ करती थीं। अतः युद्धों के वर्णन के साथ-साथ उनके रूप का वर्णन करना भी कवियों का मुख्य ध्येय था। कभी-कभी तो वीरगाथाओं की शोभा बढ़ाने के लिए ही ऐसी स्त्रियों की कल्पना कर ली जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीरगाथाकाल में वीर रस के साथ शृंगार का भी पर्याप्त संयोग करना कवियों का मुख्य कार्य था। इसके अतिरिक्त शांति के समय में वीरों के विलास-प्रदर्शन में भी शृंगार का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है।

४—ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य—जहाँ केवल प्रशंसा करना मात्र ही कविता का उद्देश्य रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवोन्मेषशालिनी कविता को एक संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध रखना पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती-बहती वीरगाथा काल की कविता परंपरागत हो गई, जिससे भाट-चारणों की जीविका तो चलती रही किन्तु कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में थोड़ा परिवर्तन करके उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली, उससे कविता तो लक्ष्यभ्रष्ट हो ही गई, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीरगाथा काल की रचनाओं में जहाँ राजाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है वहाँ कल्पना का प्राचुर्य तो उपलब्ध होता है किन्तु ऐतिहासिकता का एकदम लोप हो गया है।

वीरगाथाकाल की कविता दो रूपों में उपलब्ध होती है—वीर गीतों के रूप में और प्रबन्ध-काव्य के रूप में। प्रबन्ध काव्य के रूप में पाई जाने वाली रचनाओं में पृथ्वीराज रासो सर्वश्रेष्ठ है तथा मुक्तक वीर गीतों में बीसलदेव

रासो प्रसिद्ध है। वीरगाथा काल में कविता अपभ्रंश और देशी भाषा दोनों भाषाओं में हुई है। अपभ्रंश और समय की बोलचाल की भाषा नहीं थी, किन्तु उसका प्रयोग एक चलती आई परंपरा के अनुसार कविगण अपने काव्यों में करते थे। यह वीरगाथा काल से भी पीछे तक चलती रही। देशी भाषा, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, उस भाषा की भाषा थी। अपभ्रंश में निम्नलिखित चार ग्रंथों की रचना हुई थी:—

१—विजयपाल रासो
२—हम्मीर रासो
३—कीर्तिलता
४—कीर्ति पताका

इसके अतिरिक्त देशी भाषा में निम्नलिखित आठ ग्रंथों की रच नाहुई थी:—

१—खुमान रासो
२—वीसलदेव रासो
३—पृथ्वीराज रासो
४—जयचन्द्र प्रकाश
५—जयमयंकजस चन्द्रिका
६—परमाल रासो
७—खुसरो की पहेलियाँ
८—विद्यापति की पदावली

डा० रामकुमार वर्मा ने स्वरचित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में चारण काल की प्रवृत्तियों का जो निरूपण किया है वह निम्नलिखित है:—

१—वर्ण्य विषय—वीर गाथाओं का विषय प्रधान रूप से राजाओं का यशोगान था। उनका युद्ध-कौशल, उनकी धर्म-वीरता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन ओजस्विनी और शक्तिशालिनी भाषा में किया जाता था। अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए कवि विपक्षी (हिन्दू अथवा मुसलमान) की हीनता का नग्न-चित्र अंकित करता था। कथा का स्वरूप अधिकतर कल्पना से

ही निर्मित हुआ करता था। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उसका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था। तिथि पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। कथा में वर्णनात्मकता ही अधिक होती थी। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक हुआ करता था, यद्यपि इसका उद्देश्य एकमात्र नायक की शक्ति और उसकी वीरता की सूचना देना था। कहीं-कहीं तो ये वर्णन नीरस भी हो गए हैं। अतएव कवि का आदर्श अपने चरित्र-नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित रहता था।

२—भाषा—इस समय की भाषा डिंगल कही गई है। यह राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। इसका छन्द-शास्त्र भी अलग था। इसमें अपभ्रंश से निकली हुई राजस्थानी के स्वरूप मिलते हैं। यह वीर रस के लिए अत्यन्त उपयुक्त थी, इसलिए इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ। डिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुंशी देवीप्रसाद का कथन है कि "मारवाड़ी भाषा में गल्ल शब्द का अर्थ बात या बोली है। 'डीगा' शब्द लम्बे और ऊँचे के लिए तथा 'पांगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और व्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई है—जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।" इससे स्पष्ट हो गया कि वीर रस के लिए डिंगल भाषा ही उपयुक्त थी और इसलिये चारण-काल में उसी का प्रयोग भी हुआ। डिंगल का माध्यमिक काल विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी से माना जाता है। इस काल में भी डिंगल की रचना होती रही; पर धार्मिक काल के उन्मेष के कारण वीररस की तेजस्वी धारा मन्द पड़ गई। अतः डिंगल की रचना अब साहित्य की प्रधान धारा न रही। यह भाषा जन समुदाय को अवश्य स्पर्श करती थी, क्योंकि इसका शब्द भण्डार प्रचलित शब्दों से ही भरा जाता था। कहीं-कहीं जन-समुदाय के सम्पर्क में आने से भाषा में बहुत परिवर्तन भी हो गया है। कई ग्रन्थ मौखिक होने के कारण भाषा के वास्तविक स्वरूप से रहित हो गये हैं और समय के परिवर्तन के साथ उनके रूपों में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन हो गये हैं। इसलिए भाषा कहीं-कहीं मिश्रित है। शब्द भण्डार बहुत

विस्तृत है। यदि एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तो दूसरी ओर मुसलमानों के प्रभाव से अरबी-फारसी के शब्द भी आ गये हैं।

३—रस—इस काल के साहित्य में वीर रस का प्राधान्य है, अपने चरित-नायकों के शौर्य और महत्व के वर्णन में वीर रस की अधिक आवश्यकता पड़ी है। इस वीर रस के क्रोड़ में शृंगार रस भी कभी-कभी दीख पड़ता है, क्योंकि युद्ध के बाद ये वीर आमोद-प्रमोद अथवा स्वयंवर-विवाह में भी अपना समय बिताते थे। विशेष बात यह है कि वीर-रस की उमंग के साथ-साथ हमें इस काल की कविता में विरह वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार शृंगार रस अपने संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूप में इन काव्यों की सीमा के भीतर है। अद्भुत रस भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त है, जहाँ सेना की अद्भुत वीरता और नायक की शक्ति का वर्णन है। रौद्र और वीभत्स भी युद्ध वर्णन में पाये जा सकते हैं। शत्रुओं की मृत्यु पर शत्रु-नारियों के हृदय में करुणा की धारा प्रवाहित हुई है। अतएव हास्य और शान्त-रस को छोड़कर प्रायः सभी रसों का समावेश इस काल के काव्यों में हो गया है, पर प्राधान्य वीर रस का ही है।

४—छन्द—इस काव्य में डिंगल भाषा के छन्द ही प्रयुक्त हुआ करते थे। दूहा, पाघड़ी, कवित्त आदि इसमें प्रधान थे। इन छन्दों में साहित्यक सौन्दर्य न रहते हुए भी प्रवाह रहा करता था। छन्द भी ऐसे चुने जाते थे जिसमें वीर रस की भावना को प्रश्रय मिलता था।

५—विशेष—इस काल के ग्रन्थों की प्रतियाँ दुष्प्राप्य हैं। अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। या तो इस काल के ग्रन्थ अधिकतर मौलिक रूप में हैं या उनके निर्देश मात्र ही मिलते हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। जो ग्रन्थ अब मिलते हैं, वे भी हमें अपने वास्तविक रूप में नहीं मिलते। भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिये गये हैं। अतएव उनकी सच्ची समालोचना एक प्रकार से असम्भव है, जब तक हम भाषा-विज्ञान के अनुसार—उस काल की भाषा के अनुसार—किसी ग्रन्थ की भाषा से सन्तुष्ट न हो जावें। इन ग्रन्थों का महत्व यही है कि

इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण किया, और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग-निर्देशन किया। यदि ये साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं तो भाषा विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं।

वीरगाथा-काल में वीर-रस का परिपाक

वीरगाथा-काल में विशेषकर वीर काव्य का ही सृजन हुआ है। वीरगाथा-काल की कविता का वास्तविक इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब राजस्थान पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे थे। साथ ही आन्तरिक हलचल के कारण देश की राजनीतिक परिस्थिति बहुत अनिश्चित थी। परस्पर युद्ध में राजा लोग लगे हुए थे और अपनी मर्यादा के सामने अपने राज्य को तुच्छ समझते थे। इस प्रकार देश की राजनीतिक स्थिति में विप्लव होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में भी शान्ति नहीं थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने देश की स्वतन्त्रता और धर्म रक्षा के हेतु युद्ध करने के लिए वीर राजपूत सदैव तत्पर रहते थे और इस कार्य के लिए उन्हें कवियों अथवा चारण-भाटों को भी आवश्यकता रहती थी जो अपनी वीर-रस पूर्ण ओजस्विनी वाणी द्वारा योद्धाओं में उत्साह भर सकें। यह काम उस समय चारण-भाट करते थे जो स्वयं तलवार के धनी होते थे।

साहित्य समाज का दर्पण है। जिस समय राजस्थानी काव्य का सृजन हुआ, उस समय देश के कोने-कोने में मार काट मची हुई थी और सर्वत्र शस्त्र की ध्वनि सुनाई देती थी। अतएव साहित्य में भी उसी शस्त्र-ध्वनि के दर्शन होना ठीक ही है। संस्कृत के कवियों की रचनाओं में वीर-रस का अभाव होना एक कारण रखता था। प्रथम तो उस काल में देश में शान्ति थी, दूसरे सुख का साम्राज्य था, अतएव शृङ्गार रस की ओर ही कवियों की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। दूसरे यदि संस्कृत में वीर रस पर कविता हुई हैं, और युद्ध वर्णन आदि मिलते हैं तो वे इतने सजीव नहीं हैं जितने राजस्थानी साहित्य में उपलब्ध हैं। इसका एक मुख्य कारण है, कि संस्कृत के कवि वस्तु-तत्व से अनभिज्ञ

थे। पहले तो यह बात विचारणीय है कि देश में शान्ति छाई हुई थी और कभी-कभी ही युद्ध होते थे वे भी बहुत भयंकर नहीं। दूसरे संस्कृत के कवियों को रण-स्थल का कुछ भी ज्ञान नहीं था, वे तो सुने सुनाये आधार पर अपने काव्य में युद्ध का चित्रण करते थे। इसीलिए वे युद्ध-वर्णन के उतने सजीव चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके। दूसरी ओर राजस्थानी साहित्य के रचयिता तलवार के धनी रहते थे तथा अवसर आ पड़ने पर स्वयं भी तलवार लेकर कूद पड़ते थे। अतएव उनके काव्य में युद्ध-वर्णन और वीर रस का जो इतना सुन्दर परिपाक हुआ है उसका मुख्य कारण है उनकी स्वयं की अनुभूति। उनके वर्णन सुने सुनाये आधार पर न होकर आँखों देखे और स्वयं अनुभव किए हुए हैं। यही कारण है कि युद्ध-वर्णन के इतने सुन्दर और सजीव चित्र राजस्थानी साहित्य में मिलते हैं।

राजस्थानी साहित्य में वीर रस की प्रधानता देखकर कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस भाषा में वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों की कविता हो ही नहीं सकती, किन्तु उनका यह निष्कर्ष भ्रमात्मक है। राजस्थानी काव्य में श्रृंगार आदि अन्य रसों का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, किन्तु वह वीर रस के सहायक के रूप में हुआ है। इतना अवश्य है कि जितना मार्मिक और स्वाभाविक वीर-रस के उपादानों का वर्णन मिलता है उतना अन्य रसों के उपादानों का नहीं। इसके साथ ही एक विशेषता और भी है। संस्कृत, हिन्दी आदि के कवियों ने स्त्रियों को वीर रस के आश्रय या आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं किया है, परन्तु राजस्थानी कवियों ने उन्हें नहीं भुलाया। अतः नारी-समाज की वीर भावनाओं को भी उन्होंने अपनी कविता में ला उतारा है, जो विश्व साहित्य को उनकी अपूर्व देन है।

इस प्रकार राजस्थानी साहित्य की वीर रसपूर्ण कविता की मुख्य विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

१—युद्ध-क्षेत्र के जीते-जागते चित्र उपस्थित करने में ये कवि बड़े सिद्ध हस्त हैं:—उनके काव्यों में शस्त्रों की स्पष्ट झंकार सुनाई पड़ती है। सेना की सजावट तथा युद्ध-स्थल से सम्बद्ध अन्य बातों का बड़ा भव्य, मनोहर, सजीव और रोमहर्षण वर्णन राजस्थानी भाषा के कवियों की अपनी मौलिक

विशेषता है। इतना सजीव और युद्ध-क्षेत्र का जीता जागता चित्र इन कवियों की रचना में उपलब्ध होता है, कि आँखों के सामने सम्पूर्ण वातावरण प्रकृत रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है। इसका कारण यह है कि ये कवि स्वयं युद्ध क्षेत्र में अपना रण-कौशल अवसर आने पर प्रदर्शित करते थे।

२—दूसरी बड़ी विशेषता स्त्रियों को भी वीर रस के आश्रय और आलम्बन रूप में ग्रहण करना है—राजस्थान की वीरांगनाओं के जौहर, उनके रण कौशल से राजस्थानी कविता भरी पड़ी है। इसके साथ ही शृंगार रस वीर रस के सहायक रूप में आया है, क्योंकि कभी-कभी स्त्रियाँ भी युद्ध का मूल कारण हुआ करती थीं इस प्रकार वीर पुरुषों के अतिरिक्त वीरांगनाओं के युद्ध-कौशल का सजीव और सुन्दर वर्णन राजस्थानी कवियों की अपनी विशेषता है। वीरांगनाओं के हृदय के वीर भावों का सजीव चित्रण इन कवियों की विश्व-साहित्य को अपूर्व देन है।

अस्तु, राजस्थानी भाषा के साहित्य में वीर रस की अजस्र-धारा बही है, परन्तु शृंगार ने भी उसे स्फूर्ति देने में काम किया है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि राजस्थानी साहित्य का वीर रस का वर्णन हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है।

उदाहरण के लिए कुछ छन्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

उट्ठि राज पृथिराज वाग मनों लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनों बीजु झट्ट घट॥

इन पंक्तियों में युद्ध के लिए तलवार निकालते हुए पृथ्वीराज का बड़ा सजीव वर्णन हुआ।

इसी प्रकार नीचे की पंक्तियों में युद्ध के चरमोत्कर्ष का वर्णन देखिए:—

थकि रहे सूर्य कौतिक गगन, रगंन मगन भइ सोन धर।
हरद हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

इसी प्रकार रण-भूमि की शोभा का सजीव वर्णन देखिये:—

१—धर उप्पर भर परत करत अतिजुद्ध महा भर।
कहौं कमध, अरु खग्ग, कहौं कर चरन अन्तरुरि॥

कहाँ दंत मंत हय पुर पुपरि कुम्भ असुराडहिं रुंड सब ।
हिन्दुवाँन राने भय माँन मुष गही तेग चहुँवाँन पब ॥

२—तुम लेहु लेहु मुष जंपि जोध हल्लाह सूर सब पहिरि क्रोध ।
पहुँचे सु जाय तत्ते तुरंग मुश्र भिरन भूप जुरि जोध अंग ।
कम्मान बाँन छूइहिं अपार लागंत लोहइमि सार भार ।
घमसान घरन सब वीर खेत घन स्रोत बहत अस रकत रेत ॥

सेनाओं और योद्धाओं का वर्णन भी देखिए कैसा सुन्दर और सजीव है। आँखों के आगे चित्र सा खिच जाता है:—

खुरासान सुलतान खंधार मीरं बलरव स्यों बल तेग अच्चूक तीरं ।
मजारी चपी, मुष्प जंबुक्क लारी हजारी हजारी हुँकै जोध भारी ।
तिनं पष्परं पीठा हय जीन सालं फिरंगी कती पास सुकलात लालं ।
एराकी अरब्बी पटी तेज ताजी तुरक्की महावानं कम्मानं बाजी ॥

वीरगाथा-काल में राष्ट्रीयता का अभाव

वीरगाथा काल में वीररस-प्रधान रचनाओं का पूर्णरूपेण विकास हुआ। ये वीर रस पूर्ण रचनाएँ देश की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल ही थीं। इन्होंने देश का बड़ा उपकार किया। जिस देश पर शत्रुओं के भयंकर आक्रमण हो रहे हों, उसकी सुरक्षा का सबसे बड़ा प्रबन्ध यह हो सकता है कि वहाँ के निवासियों के हृदय में वीर-रस की धारा प्रवाहित कर उन्हें शत्रुओं से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत और समर्थ बना दिया जाय। वीरगाथा काल के चारणों के काव्यों ने यही कर दिखाया। तत्कालीन चारणों की कविता ने उस समय के मनुष्यों को वीर रस की नदी में स्नान कराकर उन्हें शत्रुओं के आक्रमणों को रोकने के समर्थ बनाया। उस समय की कविता में वीर रस का ऐसा प्रवाह मिलता है कि उसे पढ़कर अथवा सुनकर वीरता युद्ध की भावना हृदय में प्रबल हो उठती है। इसका विशेष कारण यही है कि उस काल के चारणों की

वीर रस संबंधी अनुभूति बहुत ही तीव्र हुआ करती थी। वे केवल देखी और सुनी-सुनाई घटनाओं का ही वर्णन नहीं करना जानते थे, वरन् उन्हें युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव भी होता था। वे स्वयं योद्धा होते थे और कलम के अतिरिक्त तलवार का चमत्कार भी दिखाना जानते थे। ऐसे चारणों की कविता में भला हृदय को वीर रस में विभोर करने-वाली शक्ति क्यों न हो! किन्तु वीरगाथा-काल में इस उच्च-कोटि के वीर रस के रहते हुए भी राष्ट्रीयता का नितान्त अभाव मिलता है। यह एक अवश्य खटकने वाली बात है। वीरगाथा काल की रचनाओं में राजकीय आश्रय की झलक स्पष्ट दृष्टि गोचर होती है। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में उसमें 'जिसका खाना उसका गाना' की प्रवृत्ति का प्राधान्य है। उस काल की कविता में जो वीर रस की अजस्र-धारा बही है वह उनकी प्रशंसा पर ही आश्रित है। चारण लोग अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता पूर्ण चरित्रों का गान करने में ही अपने कवि-कर्म की इति समझते थे। उस काल के चारणों को अपने देश की तनिक भी चिंता न थी। उनकी कविताओं ने जिस प्रकार देश-वासियों को शत्रुओं का सामना करने के समर्थ बनाया, उसी प्रकार उन्हें पारस्परिक ग्रह-युद्धों के लिए प्रेरित कर देश की एकसूत्र-बद्ध एकता और शक्ति का ह्रास भी किया। निष्कर्ष यही है कि वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता का नितांत अभाव है।

इस राष्ट्रीयता के अभाव के कई कारण हैं। सर्व प्रथम तो वीरगाथा काल में देश की स्थिति इतनी खराब थी कि राष्ट्रीयता किसी प्रकार सम्भव नहीं थी फिर तत्कालीन साहित्य में राष्ट्रीयता का अभाव क्यों न दृष्टिगोचर हो। उस समय महाराज हर्ष की मृत्यु के पश्चात् देश खण्ड-खण्ड हो गया था। देश के भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र राज्यों में एकता स्थापित होना कठिन था। ये आपस में लड़ा करते थे। लड़ाई का कोई विशेष कारण भी न होता था, कभी-कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए युद्ध हो जाया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन राज्यों में पारस्परिक कलह को प्रधानता थी। ऐसे गृह-युद्धों की परिस्थिति में देश में राष्ट्रीयता का एकदम लोप-सा हो गया था। ऐसी राजनैतिक परिस्थिति के कारण साहित्य में भी राष्ट्रीयता का नितांत अभाव मिलता है।

अपभ्रंश और देश-भाषा

भाषा-शास्त्रियों का अनुमान है कि मध्य एशिया को छोड़कर जिस समय हमारे पूर्व पुरुष, प्राचीन आर्य, पंजाब में आकर बसे थे और उस समय वे जो भाषा बोलते थे, उससे वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई। इस वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित साहित्यक रूप पीछे से संस्कृत कहलाया जन साधारण की बोल-चाल की भाषाएँ प्राकृत नाम से प्रसिद्ध हुई, काल क्रमानुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) पहली प्राकृत। (२) दूसरी प्राकृत।

'पहली प्राकृत' पाली के नाम से प्रसिद्ध है, और 'दूसरी प्राकृत' प्राकृत के नाम से। आगे चलकर देशभेद के कारण प्राकृत के भी कई भेद हो गए—

शौर सेनी प्राकृत।
मागधी प्राकृत।
अर्ध मागधी प्राकृत।
महाराष्ट्री प्राकृत।

धीरे-धीरे प्राकृत का भी साहित्यक संस्कार होने लगा और इसे व्याकरण के नियमों में बाँधा जाने लगा, और ये भी शास्त्रीय भाषाएँ बन गईं। परन्तु जन-साधारण की भाषा का प्रभाव बढ़ता गया और कालान्तर में एक नवीन भाषा के रूप में आविर्भूत होकर अपभ्रंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका नाम अपभ्रंश उसी समय से पड़ा। जब तक यह बोलचाल की भाषा थी, तब तक यह 'लोक भाषा' अर्थात् बोलचाल की भाषा कहलाती रही। जब यह साहित्य की भाषा हो गयी तब इसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। अपभ्रंश भाषा को ग्रन्थ रचना होने का सबसे पुराना पता तान्त्रिकों और योग मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मिलता है। इसके पश्चात दशवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत अधिक प्रचलित रही। इसका प्रमाण हमें जैन ग्रन्थाकार देवसेन (संवत् ६६०) के श्रावकाचार नामक ग्रन्थ में मिलता है। जिसमें अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप व्यवहार में लाया गया है। दशवीं शताब्दी के पश्चात

वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता के अभाव का दूसरा कारण यह है कि उस समय कविता अधिकतर चारण अथवा भाट ही किया करते थे। ये भाट और चारण राजाश्रित होने के कारण अपने राजाओं का ही गुणगान किया करते थे। उनका सबसे बड़ा कार्य अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना था, राष्ट्रीयता का कोई प्रश्न उनके सामने था ही नहीं। वे राजाओं की प्रशंसा करने के लिए ही राज्य-दरबारों में रखे जाते थे और यही उनकी जीविका का साधन था। अतएव राजाश्रय के कारण वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता का अभाव-सा हो गया है।

वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता के अभाव का तीसरा कारण यह है कि भाटों और चारणों को अपनी परम्परा का पालन करना पड़ता था। वे चली आई हुई परम्परा का पालन करना अपना एक महान कर्तव्य समझते थे। कई पीढ़ियों से चली आई हुई काव्य-परम्परा का त्याग करने के लिये वे कभी भी प्रस्तुत न थे। जब उनके पूर्वज अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा करते आए हैं तब वे और सब बातों को छोड़कर अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा क्यों न करते।

वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता के अभाव का चौथा कारण यह है कि उस समय स्थिति में राष्ट्रीय कविताओं के लिए कोई क्षेत्र ही नहीं था। उस समय की जनता की चित्तवृत्ति युद्ध की ओर ही उन्मुख हो गई थी। वह केवल ऐसी ही कविता चाहती थी, जिसमें वीरता और युद्ध की ही प्रधानता हो। अन्य प्रकार की कविताओं से जनता की चित्तवृत्ति हट गई थी। इस प्रकार वीरगाथा काल में राष्ट्रीय अथवा और दूसरी प्रकार की रचनाओं के लिए कोई क्षेत्र नहीं था। वे या तो लिखी ही नहीं जाती थीं और यदि लिखी भी जाती थीं तो राजकीय प्रोत्साहन तथा जनता के प्रश्रय के अभाव में काल-कवलित हो जाती थीं।

उपरि-कथित कारणों से वीरगाथ काल की वीर रसपूर्ण कविताओं में राष्ट्रीयता का नितांत अभाव मिलता है। उसमें वैयक्तिक भावनाओं को ही अधिक प्रश्रय मिला है तथा 'जिसका खाना उसका गाना' की प्रवृत्ति मिलती है। अतः वीरगाथा काल की कविता को राष्ट्रीय-साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता है।

—:-*-:—

अपभ्रंश और देश-भाषा

भाषा-शास्त्रियों का अनुमान है कि मध्य एशिया को छोड़कर जिस समय हमारे पूर्व पुरुष, प्राचीन आर्य, पंजाब में आकर बसे थे और उस समय वे जो भाषा बोलते थे, उससे वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई। इस वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित साहित्यक रूप पीछे से संस्कृत कहलाया जन साधारण की बोल-चाल की भाषाएँ प्राकृत नाम से प्रसिद्ध हुईं, काल क्रमानुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) पहली प्राकृत। (२) दूसरी प्राकृत।

'पहली प्राकृत' पाली के नाम से प्रसिद्ध है, और 'दूसरी प्राकृत' प्राकृत के नाम से। आगे चलकर देशभेद के कारण प्राकृत के भी कई भेद हो गए—

शौर सेनी प्राकृत।
मागधी प्राकृत।
अर्ध मागधी प्राकृत।
महाराष्ट्री प्राकृत।

धीरे-धीरे प्राकृत का भी साहित्यक संस्कार होने लगा और इसे व्याकरण के नियमों में बाँधा जाने लगा, और ये भी शास्त्रीय भाषाएँ बन गईं। परन्तु जन-साधारण की भाषा का प्रभाव बढ़ता गया और कालान्तर में एक नवीन भाषा के रूप में आविर्भूत होकर अपभ्रंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका नाम अपभ्रंश उसी समय से पड़ा। जब तक यह बोलचाल की भाषा थी, तब तक यह 'लोक भाषा' अर्थात् बोलचाल की भाषा कहलाती रही। जब यह साहित्य की भाषा हो गयी तब इसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। अपभ्रंश भाषा को ग्रन्थ रचना होने का सबसे पुराना पता तान्त्रिकों और योग मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मिलता है। इसके पश्चात दशवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत अधिक प्रचलित रही। इसका प्रमाण हमें जैन ग्रन्थाकार देवसेन (संवत् ६६०) के श्रावकाचार नामक ग्रन्थ में मिलता है। जिसमें अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप व्यवहार में लाया गया है। दशवीं शताब्दी के पश्चात

अपभ्रंश भाषा को 'साहित्यिक-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा। किन्तु प्रचलित साहित्यिक रूढ़ि के कारण इसका व्यवहार पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक होता रहा तथा कवियों ने इसमें काव्य रचनाएं भी की हैं। दशवीं शताब्दी के बाद इन रूढ़िवादी अपभ्रंश भाषा के कवियों की अपभ्रंश भाषा अपनी विशेषता लिए हुए है। उनकी अपभ्रंश भाषा में एक तो साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्दों की भरमार है दूसरे उन्होंने विभक्तियों, कारक-चिन्ह और क्रियाओं के रूप आदि भी अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर जिस रूप में आ गई थी, केवल उसी रूप को न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनमें कई सौ वर्ष की कवि परम्परा अपनाती चली आती थी। इसी कारण इस भाषा को प्राकृताभास हिन्दी अर्थात प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध हिन्दी कहते हैं। अपभ्रंश साहित्य अधिकतर दोहों के रूप में ही प्रतिष्ठित है, इसलिये अपभ्रंश के युग में दोहा या दूहा कहने से अपभ्रंश या प्रचलित भाषा के पद्य का बोध होता था।

जब अपभ्रंश भाषा बोलचाल की भाषा से साहित्य की भाषा के रूप में आ गई तब उससे उद्भूत होकर बोलचाल की भाषा उसके स्थान पर आई। धीरे-धीरे यह बोलचाल की भाषा प्रौढ़ तथा साहित्यक रचनाओं के लिसे उपयुक्त होती गई। जब दशवी शताब्दी के बाद अपभ्रंश भाषा का "साहित्यिक मरण" हुआ तब उसके स्थान पर यह बोलचाल की भाषा विकसित होकर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठत हुई। इस भाषा का नाम देश भाषा उसी समय से पड़ गया। अपभ्रंश के विरोध में यह देश भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त है। यह वीरगाथा काल की प्रमुख साहित्यिक भाषा थी तथा इस काल के कवियों और चरणों ने इस भाषा में श्रेष्ठ काव्यों की रचना करके इसे गौरवान्वित किया। आजकल जो राजस्थानी भाषा देखने को मिलती है; देश भाषा उसी भाषा का बहुत कुछ पूर्व रूप है। हिन्दी का सम्बन्ध इसी देश भाषा से है। इसके प्रारम्भिक रूप को पुरानी हिन्दी भी कहते हैं।

अपभ्रंश भाषा और देश भाषा के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है, यह तो स्पष्ट ही है कि देश भाषा का प्रारम्भिक रूप अर्थात पुरानी हिन्दी अपभ्रंश भाषा से ही निकली है, किन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अपभ्रंश

भाषा का अन्त कब हुआ तथा पुरानी हिन्दी का प्रारम्भ कब हुआ। अब तक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसके आधार पर इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था तथा पुरानी हिन्दी में बहुत अधिक एकरूपता है उनमें इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर है कि दोनों के बीच में समय भेद अथवा देश भेद की स्पष्ट रेखा अंकित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन्हें अपभ्रंश के भी कहा जा सकता है और पुरानी हिन्दी के भी। अपभ्रंश के उत्तरकाल में देव की जैसी स्थिति थी वैसी पुरानी हिन्दी के प्रारम्भिक युग में भी वर्तमान थी। अतः स्पष्ट है कि देश भाषा और अपभ्रंश के समय के बीच एक सुनिश्चित स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।

डिंगल भाषा की उत्पत्ति और उसका नामकरण

भाषा-शास्त्रियों का अनुभव है कि मध्य ऐशिया को छोड़कर जिस समय हमारे पूर्व पुरुष, प्राचीन आर्य, पंजाब में आकर बसे थे और उस समय वे जो भाषा बोलते थे, उससे वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई। बस वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित साहित्यक रूप पीछे संस्कृत कहलाया, और जनसाधारण की बोलचाल की भाषाएँ प्राकृत नाम से प्रसिद्ध हुईं। काल क्रमानुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो भागों में विभक्त किया है, पहली प्राकृत और दूसरी प्राकृत। 'पहली प्राकृत' पाली के नाम से प्रसिद्ध है, और 'दूसरी प्राकृत' प्राकृत के नाम से। आगे चलकर देश भेद के कारण प्राकृत के भी कई भेद हो गए—सौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी और महाराष्ट्री। धीरे-धीरे प्राकृतों का भी साहित्यक संस्कार होने लगा और उसे व्याकरण के नियमों में बाँधा जाने लगा और यह भी क्लासिक भाषाएं बन गईं, परन्तु जनसाधारण की भाषा का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता गया और कालान्तर में एक नवीन भाषा के रूप में आविर्भूत होकर अपभ्रंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रम की छठी, सातवीं शताब्दी से लेकर दशवी-ग्यारवीं शताब्दी तक इस अपभ्रंश भाषा का देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचार रहा। परन्तु बाद में इसका भी प्राकृत का सा हाल हुआ, और यह साहित्य-रचना में व्यवहृत होने लगी। इससे अपभ्रंश के भी दो रूप हो गये। एक रूप तो वह जिसका साहित्य में व्यवहार होता था दूसरा रूप वह जो जन साधारण के विचार विनमय के प्रयोग में आता था। पहला रूप तो व्याकरण के नियमों में बँधकर स्थिर हो गया

पर दूसरा रूप बराबर विकसित होता रहा जिसके कालान्तर में तीन उपभेद हो गए—नागर, उपनागर और ब्राचड़। इसमें नागर अपभ्रंश मुख्य था जिसका आधार शौरसेनी प्राकृत को माना गया है। इसी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ, जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी (बोलचाल की) से परिमार्जित होकर जो भाषा का रूप आया वह डिंगल कहलाया। अब प्रश्न यह है कि राजस्थानी भाषा का डिंगल नाम कब और क्यों पड़ा—इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। जिनको संक्षिप्त रूप में निम्न-प्रकार से समझा जा सकता है।

पहला मत—'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्र थी। इसलिये इसका यह नाम पड़ा।

डा० एल० पी० टैसीटरी

समीक्षा—डिंगल वस्तुतः शिक्षित चारण-भाटों की भाषा थी। दूसरे राज-दरबारों में डिंगल का ब्रजभाषा से अधिक सम्मान था, अतः शिष्ट समुदाय की भाषा गवाँरू नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन, कि डिंगल अनियमित थी, ठीक नहीं है। यह व्याकरण के नियमों से मुक्त नहीं थी। छन्द, रस, अलंकार, ध्वनि आदि का इसमें उतना ही ध्यान रखा जाता था जितना कि ब्रजभाषा में। हाँ, शब्दों की तोड़-मरोड़ अवश्य इसमें ब्रजभाषा से अधिक थी, किन्तु इसी आधार पर डिंगल को गवाँरू मान लेना ठीक नहीं है। अतः डिंगल का अर्थ न तो गवाँरू भाषा माना जा सकता है और न वह अनियमित थी जिससे उसका यह नाम पड़ा है।

दूसरा मत—प्रारम्भ में इस भाषा का नाम 'डगल' था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए 'डिंगल' कर दिया गया। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक प्राचीन गीत का अंश भी उद्धृत किया है, जो उन्हें कविराजा मुरारिदान से प्राप्त हुआ था। वह अंश इस प्रकार है:—

हरप्रसाद शास्त्री

"दोसे जंगल डगल जेय जल बगल चाटे।
अनुहुँता गल दिये गलाहुँता गल काटे॥"

समीक्षा—शास्त्री जी ने इस अंश का अर्थ नहीं दिया। केवल इतना ही कहा है कि, 'इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरु देश की भाषा डिंगल कहलाती थी।' भाषा और रचना शैली की दृष्टि से भी यह पद सोलहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। किन्तु यदि इसे चौदहवीं शताब्दी का भी मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि आरम्भ में डिंगल का नाम 'डगल' क्यों पड़ा। राजस्थानी में 'डगल' मिट्टी के ढेले या अनपढ़ पत्थर को कहते हैं। अतएव यदि डिंगल अपरिमार्जित भाषा थी तो किस परिमार्जित भाषा की तुलना में उसे यह संज्ञा दी गई। व्रजभाषा का तो चौदहवीं शताब्दी में ऐसा प्रौढ़ रूप था नहीं कि डिंगल उसके सामने डेले के समान असंस्कृत दीख पड़े। इस सम्बन्ध में एक और भी बात विचारणीय है। वस्तुतः कोई भी चारण अपने द्वारा प्रयुक्त साहित्यिक-भाषा को जो उसकी उदरपूर्ति का साधन हो, डगल नहीं कह सकता।

तीसरा मत--डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि यह डिंगल की एक विशेषता कही जा सकती है। 'ड' वर्ण

गजराज ओझा

की इस प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रक्खा गया है। जिस प्रकार पिंगल अलंकारप्रधान भाषा है, उसी प्रकार डिंगल भी डकार-प्रधान भाषा है।

समीक्षा—यह मत निराधार है। डिंगल की दो-चार कविताओं में 'ड' वर्ण की प्रचुरता देखकर उसे इसकी विशेषता बतलाना तथा उसी आधार पर उसके नामकरण होने की क्लिष्ट कल्पना ठीक नहीं है। दूसरे वर्ण की प्रधानता के कारण किसी भाषा का कोई नाम रक्खा गया हो यह भी नहीं देखा गया। दूसरी बात यह है कि पिंगल के साम्य पर इसका डिंगल नाम नहीं पड़ा, क्योंकि डिंगल भाषा पिंगल से अधिक पुरानी है।

चौथा मत--डिंगल शब्द डिम+गल से बना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का गला होता है। डमरू की ध्वनि

पुरुषोत्तम स्वामी

रणचण्डी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। गले से जो कविता निकल कर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय को

उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।

समीक्षा—वास्तव में यह मत भी निराधार है। महादेव न तो वीररस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि उत्साह वर्धक मानी गई है। इन्द्र वीर रस के देवता हैं और महादेव रौद्र रस के अधिष्ठाता।

पाचवाँ मत—राजस्थान में प्रसिद्ध मत यह भी है कि 'डिंगल' डिंग + गल से बनी है। डिंभ का अर्थ बालक है और गल का गला, इस प्रकार डिंगल का अर्थ बालक की भाषा करते हैं। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी वैसे ही डिंगल भी डिंभगल' कहलाई।

राजस्थान में प्रसिद्ध मत

अन्य मत—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार डिंगल शब्द पिंगल के साम्य पर बना है। किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल से भेद करने के लिए इस अतिकटु भाषा को डिंगल नाम दिया गया है। बाबू श्याम-सुन्दरदास का कहना है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी, और उससे भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। रामकर्ण आसोपा और ठाकुर किशोरीसिंह बारहठ ने डिंगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः 'डंगि' और 'डीड' धातुओं से बतलाई है। इसी तरह एक दो साहित्य-ऐतिहासिकों ने भी इस विषय में विचार प्रकट किए हैं, परन्तु उनके विचार लेखक को अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होते।

श्री मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार आरम्भ में डिंगल चारण-भाटों की भाषा थी। इसके साथ ही ये लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का वर्णन बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर किया करते थे। धन के लोभ से कायर को सूर, कुरूप को सुन्दर और मूर्ख को पण्डित कह देना इनके लिए साधारण बात थी इनकी कविता अतिशयोक्तिपूर्ण हुआ करती थी। वे डींग हाँका करते थे। अतएव जो भाषा डींग हाँकने के कार्य में प्रयुक्त होती थी, उसका संभवतः श्रोताओं ने डींगल नाम रख दिया जिसका परिमार्जित अथवा विकृत रूप यह आधुनिक शब्द डिंगल

है। राजस्थान में वृद्ध चारण-भाट आज भी इसे डींगल नाम से ही पुकारते हैं। इस तरह से बने हुए और भी शब्द इस भाषा में मिलते हैं, जैसे—'अकब्बरिये इक बार दागल की सारी दुनी"। यह शब्द दाग+ल, (अर्थात् दाग से युक्त) से बना है। दूसरे इस शब्द में भाषा काठिन्य का भाव भी निहित है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि डिंगल भाषा में साहित्य की रचना पिंगल में साहित्य रचना शुरू होने से पूर्व ही से हो रही है। अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा डिंगल के आधार पर पिंगल शब्द का नामकरण समीचीन प्रतीत होता है।

सारांश

इसका प्रयोग चारण-भाट अपने आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने में किया करते थे। वीर रस-प्रधान काव्य का ही इसमें (भाषा में) सृजन अधिक हुआ है। शब्दों के साधारण रूपों की अपेक्षा द्वित्व वर्ण वाले रूपों का ही प्रयोग कविगण करते थे, और तोड़-मरोड़ अधिक होने के कारण यह भाषा जन-साधारण को कम बोधगम्य होती गई। आरम्भ में साधारण बोल-चाल की राजस्थानी और डिंगल में कोई भेद नहीं था, किन्तु कालान्तर में यह बोलचाल की राजस्थानी भाषा ही परिमार्जित होकर साहित्यिक हो गई। मेनारिया का यह मत कि डिंगल शब्द डींगल का परिमार्जित रूप है और इसका नाम डींग से युक्त भाषा इसलिए पड़ा, क्योंकि इसमें कविगण आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, ठीक ही प्रतीत होता है। किन्तु एक बात अवश्य है कि मेनारिया ने डींग शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दी तथा यह भी स्पष्ट नहीं किया कि इस शब्द (डींगल) का प्रयोग अपने आधुनिक अर्थ में राजस्थान में कब से होता है। किन्तु अन्य मतों से इसका मत युक्तिपूर्ण है और इसमें सार भी है। दूसरे इसका यह भी मत बहुत समीचीन है कि डींगल का डिंगल रूप अँगरेजों के कारण हो गया। डा० ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अतएव अपने ग्रंथों में दोनों की हिज्जः एक तरह से लिखीं, Pingala और Dingala। Pingala का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल करते थे अतएव यह समझकर कि डींगल का भी इसी तरह उच्चारण होगा, उन्होंने इसे डिंगल बोलना और लिखना शुरू कर दिया, बाद में यहाँ के पढ़े लिखे लोग भी इस शब्द का इसी रूप में प्रयोग करने लगे, और अब

यही रूप हमारे सम्मुख आता है। परन्तु राजस्थान के वृद्ध चारणों में, जो डिंगल साहित्य का आदर करते हैं, आज भी इसे डीगल कहते हैं।

राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं। इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण इनके भिन्न-भिन्न नाम पड़ गए हैं। मुख्य बोलियाँ पाँच हैं—मारवाड़ी, ढूढ़ाड़ी, मालवी, मेवाती और बागड़ी। डिंगल भाषा साहित्य की भाषा है जो मारवाड़ी भाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा का परिमार्जित रूप है। यह एक तथ्य है कि हर समय दो भाषाएँ चलती हैं, एक साहित्यक तथा दूसरी बोलचाल की या देश भाषा। साहित्यिक भाषा तो व्याकरण के नियमों से बद्ध होकर संकुचित परन्तु प्रौढ़ होती रहती है किन्तु बोलचाल की भाषा, का स्वच्छन्दतापूर्वक विकास होता रहता है और कालान्तर में पुरानी साहित्यिक भाषा का ह्रास हो जाता है और जो बोलचाल की भाषा होती है वही परमार्जित होकर उसका स्थान ग्रहण कर लेती है और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आ जाती है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इस प्रकार जब (राजस्थानी) बोलचाल की भाषा परिमार्जित होकर साहित्यिक-भाषा हो गई तो उसका नाम पिंगल पड़ा और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आई।

वीरगाथा काल की पिंगल भाषा

पिंगल भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी भ्रम फैला हुआ है। पिंगल भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या था तथा उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी है अथवा नहीं—इस विषय में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। अभी तक किसी विद्वान ने पिंगल भाषा के विषय में निश्चित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। इसका विशेष कारण यही है कि वीरगाथा काल के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है, यही नहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार एक भाषा-शास्त्री के लिए दोनों भाषाओं का विश्लेषण कर पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय

करने में बहुत कठिनाइयां हैं। कहीं-कहीं तो दोनों भाषाओं में कोई भेद ही नहीं दिखाई पड़ता और भाषा-वैज्ञानिक यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अंतर्गत हैं। पिंगल भाषा के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध विद्वानों के मत हैं वे निम्नलिखित हैं। श्यामसुन्दरदास अपने 'हिन्दी-साहित्य' में लिखते हैं :—

"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में 'पिंगल' कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा 'डिंगल' थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान् रचना करते थे जो अपने ग्रंथों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० साहब के अनुसार पिंगल में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

१—पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी।

२—वह एक संयत और व्याकरण-सम्मत भाषा थी।

३—उसमें जैसे-जैसे साहित्यिकता बढ़ने लगी वैसे-वैसे उसमें नियमों के बंधन जटिल होने लगे।

डा० साहब के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर वह विशेष संतोषजनक प्रतीत नहीं होता है। एक तो यह कहना अत्यन्त कठिन है कि पिंगल वीरगाथा काल की प्रधान साहित्यिक भाषा थी भी अथवा नहीं। पिंगल में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिन्हें न तो संयत ही कहा जा सकता है, और न व्याकरण-सम्मत। इसके अतिरिक्त जहाँ तक नियमों की जटिलता का प्रश्न है वह डिंगल भाषा में भी मिलती है। कोई भी भाषा अधिक दिनों तक साहित्य में व्यवहृत होने पर नियमों की जटिलता से युक्त हो जाती है।

पिंगल के विषय में आचार्य शुक्ल स्वरचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं :—

"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी।"

आचार्य शुक्ल का मत भी बहुत कुछ डा० श्यामसुन्दरदास के मत से मिलता-जुलता है। किन्तु शुक्लजी ने डा० साहब की भांति पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप के साथ कोई व्याकरण-सम्मतता, नियमों की जटिलता आदि की कोई पाबन्दी नहीं लगाई।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में पिंगल और ब्रजभाषा में कोई भेद नहीं किया है। वे लिखते हैं:—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० वर्मा ने 'पिंगल' और ब्रजभाषा को एक माना है। इसके अतिरिक्त आपने 'पिंगल' का मध्य देश से सम्बन्ध बताकर राजस्थान से उसका कोई लगाव नहीं बताया है। किन्तु यह मत निराधार सिद्ध हो जाता है। वास्तव में पिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का ही नाम है। हाँ यह अवश्य है कि मध्यदेश की बोलियों का 'पिंगल' के ऊपर प्रभाव काफी पड़ा है। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रजभाषा से प्रभावित अवश्य था किन्तु उसे ब्रज भाषा कहना बड़ी भूल होगी।

अब हमें राजस्थान में प्रचलित पिंगल सम्बन्धी मतों की भी संक्षेप में समीक्षा कर लेनी चाहिये। पिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुन्शी देवीप्रसाद का कथन है:—

"मारवाड़ी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। 'डांगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पांगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

उपर्युक्त कथन की समीक्षा करने पर विदित हो जाता है कि 'पिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी, किन्तु ब्रजभाषा का राजस्थानी कवियों द्वारा

उच्चरित रूप। किन्तु ऊँचे और नीचे के भेद से दो भाषाओं का भेद करना ठीक नहीं है। वास्तव में डिंगल और पिंगल के भेद के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है।

कुछ विद्वान पिंगल के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छन्द शास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पड़ा। डिंगल का कोई स्वतन्त्र छन्द-शास्त्र नहीं है। संस्कृत मे पिंगल छन्द को कहते हैं।

उपरिकथित मतों पर दृष्टिपात करने से पिंगल के वास्तविक स्वरूप का कोई निश्चय नहीं हो पाता है। इतने परस्पर विरोधी मतों का अवलोकन करने से पिंगल भाषा के विषय में कोई सम्बद्ध विचार-धारा नहीं मिलती।

डिंगल और पिंगल का भेद

डिंगल और पिंगल इन दोनों भाषाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर बहुत मतभेद है, कुछ विद्वान तो इन भाषाओं को पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं तथा कुछ इन दोनों को दो भिन्न भाषाओं के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पिंगल को ब्रजभाषा कहा है तथा डिंगल को राजस्थान की भाषा। कुछ लोगों का मत यह है कि 'पिंगल' एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी तथा डिंगल में उतनी साहित्यिकता नहीं थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि डिंगल और पिंगल के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। इस विषय में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। अभी तक किसी विद्वान् ने पिंगल भाषा के विषय में निश्चित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। इसका विशेष कारण यही है कि वीरगाथा काल के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है, यही नहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार एक भाषा-शास्त्री के लिए दोनों भाषाओं का विश्लेषण कर पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में बहुत

कठिनाइयाँ हैं। कहीं-कहीं तो दोनों भाषाओं में कोई भेद नहीं पड़ता और भाषा-वैज्ञानिक यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अन्तर्गत हैं। अब हम डिंगल और पिंगल भाषा के भेद के सम्बन्ध में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के मतों का उल्लेख करेंगे। आचार्य शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुये लिखते हैं:—

"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारण में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी-भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह डिंगल कहलाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी के अनुसार डिंगल और पिंगल का भेद निम्नलिखित है:--

१--पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा है जब कि डिंगल केवल राजस्थान की साहित्यिक भाषा है।

२--पिंगल का ढाँचा ब्रज अथवा मध्य देश की भाषा पर खड़ा हुआ है जब कि डिंगल अपभ्रंश राजस्थानी के मिश्रण से बनी है।

इसी विषय पर प्रकाश डालते हुये डा० श्यामसुन्दरदास स्वरचित 'हिन्दी-साहित्य में लिखते हैं:—

"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्यिक ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में 'पिंगल' कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा 'डिंगल' थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करने वाले

राजपूताने और उसके आस-पास के भट्ट, चारण आदि थे और आरम्भ में उनकी भाषा साहित्य के नियमों से बहुत कुछ मुक्त थी।"

डा० साहब के मत की समीक्षा से यह स्पष्ट विदित होता है कि--

(१) पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जब कि डिंगल केवल राजपूताने और उसकी आस-पास की ही भाषा थी।

(२) पिंगल भाषा संयत तथा व्याकरण-सम्मत थी जबकि डिंगल भाषा में यह बात न थी।

(३) पिंगल भाषा में साहित्यिकता अधिक थी तथा वह नियमों से जकड़ी हुई थी जब कि डिंगल भाषा अपेक्षाकृत कम साहित्यक थी और उसमें नियमों की जटिलता न थी।

आचार्य शुक्ल और डा० साहब दोनों के मतों को मिलाकर देखने से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक पिंगल को एक सामान्य साहित्यक भाषा मानने का प्रश्न है वहाँ तक दोनों आचार्य सहमत हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पिंगल भाषा के संयत और व्याकरण-सम्मत होने तथा डिंगल के नहीं होने का प्रश्न है, वहाँ शुक्ल जी चुप हैं तथा डा० साहब इस मत के समर्थक हैं। किन्तु यह कहना कि डिंगल में व्याकरण सम्मतता और संयम का अभाव है तथा पिंगल में ये बातें अधिक हैं, भ्रम में डाल देता है। बहुत से स्थानों पर डिंगल भाषा के ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि हमें उनकी व्याकरण-सम्मतता और संयम के आगे पिंगल भाषा की कविता तुच्छ लगने लगती है, इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानों का भी अभाव नहीं है जहाँ पिंगल भाषा अपना संयम और व्याकरण-सम्मतता खोए हुए हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार पिंगल वास्तव में और कुछ नहीं है—व्रजभाषा का पुराना रूप है—तथा डिंगल राजस्थान की भाषा का पुराना साहित्यिक रूप है। डा० वर्मा स्वरचित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पिंगल के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न व्रजबोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यक रचना का नाम था।

इसी प्रकार डिंगल के विषय में भी डा० साहब लिखते हैं:—

"नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

इस प्रकार डा० वर्मा के अनुसार :—

(१) पिंगल व्रज प्रदेश की भाषा है तथा व्रजभाषा का पूर्व रूप है और डिंगल राजस्थान की भाषा है तथा नागर अपभ्रंश से निकली है।

(२) साहित्यिक पिंगल में भी है तथा डिंगल में भी पाई जाती है।

डा० वर्मा के मत की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिकता का अभाव डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में नहीं है। दोनों भाषायें साहित्यिकता की दृष्टि से पूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त डा० साहब की एक बात खटकने वाली है। वह यह है कि पिंगल भाषा राजस्थान की ही भाषा थी व्रजप्रदेश की नहीं जब कि डा० वर्मा ने उसे व्रजप्रदेश क माना है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह व्रजप्रदेश की भाषा से बहुत कुछ प्रभावित थी, किन्तु उसे व्रजभाषा कह देना सरासर भूल होगी।

मुंशी देवी-प्रसाद का कहना है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पांगला' पंगे या लूले को कहते हैं चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और व्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे भाषा में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

इस प्रकार मुंशी जी भी डा० रामकुमार वर्मा की भाँति पिंगल भाषा को व्रजप्रदेश की और डिंगल को राजस्थान की मानते हैं। मुंशी जी ने जो ऊँचे स्वर और नीचे स्वर के अनुसार डिंगल और पिंगल में भेद किया है वह न्यायसंगत नहीं है। पिंगल की कविता भी ऊँचे स्वरों में पढ़ी जा सकती है तथा डिंगल की कविता नीचे स्वरों में, इस प्रकार ऊँचे और नीचे स्वरों के भेद से डिंगल और पिंगल का भेद करना कोई अर्थ नहीं रखता।

सारांश यह है कि डिंगल और पिंगल के भेद का विषय बड़ा विवाद-ग्रस्त है। उक्त मतों के अनुसार हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता :—

रासो की एतिहासिकता का विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि उसमें बहुत सा प्रक्षित अंश बाद के कवियों द्वारा जोड़ दिया गया है। कुछ विद्वान इसे वि० सं० १६०० के आस पास सुनी सुनायी बातों के आधार पर लिखा हुआ एक अनैतिहासिक ग्रन्थ मानते हैं। राजस्थान के प्रकाण्ड इतिहासज्ञ विद्वान कविराज श्यामलदास ने रासो की अप्रमाणिकता की बात सबसे पहले उठायी थी। इसके पश्चात् मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने रासो का पक्ष ग्रहण किया। आगे चलकर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रासो को जाली ठहराया। कुछ वर्ष हुए जैन पण्डित मुनि जिन विजय को जैन प्रबन्धों में अपभ्रंश में लिखित चन्द के चार पद्य मिले, इससे अनुमान हुआ कि रासो एकदम जाली नहीं है, रासो का बृहद रूपान्तर ही अब तक अप्राप्य था, अब उसके दो छोटे रूपान्तर मिले हैं; जिनके आधार पर क्रमशः पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित और दशरथ शर्मा ने रासो को प्रमाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

रासो की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में इस समय तक हिन्दी विद्वानों के चार दल हो चुके हैं—

(१) प्रथम पक्ष—रासो के वर्तमान रूप की प्रमाणिक और पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है। इस पक्ष के समर्थकों में बा० श्यामसुन्दरदास रासो के बहुत बड़े अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं, दीक्षित मथुराप्रसाद मध्यम रूपान्तर को प्रामाणिक मानते हैं। अन्य समर्थक पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, मिश्र-बन्धु आदि हैं।

(२) द्वितीय पक्ष—रासो को सर्वथा अप्रमाणिक रचना मानता है और चन्द नामक कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना नहीं मानता है। रासो का पृथ्वीराज के काल की रचना होना भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थकों में—कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारिदीन, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, डा० बूलर, श्री अमृतलाल शील तथा रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वान हैं।

(३) **तीसरा पक्ष**—यह मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चंद नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किन्तु वह मूल रूप में प्राप्त नहीं है। उसका वर्तमान रूप विकृत है जिसमें बड़ा परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है। इस पक्ष के समर्थकों में श्री मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० दशरथ शर्मा, कविराव मोहनसिंह आदि हैं।

(४) **चौथे पक्ष**—के मतानुसार चंद पृथ्वीराज का समकालीन कवि था; किन्तु रासो की रचना उसने नहीं की। इधर ओझा जी का झुकाव इसी ओर दीख पड़ता है। नरोत्तम स्वामी इसी मत के हैं।

रासो को जो जाली ठहराने के लिये जो प्रमाण दिए गये हैं वे इस प्रकार हैं:—

(१) **उसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं,** जो शिला-लेखों और पृथ्वीराज विजय से सिद्ध होजाती हैं। पृथ्वीराज विजय के अनुसार पृथ्वीराज का राजकवि पृथ्वी भट्ट था।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज विजय अपूर्ण रूप में प्राप्त है, संभव है पीछे चन्द का नाम आया हो। दूसरे यह हो सकता है कि पृथ्वीभट्ट राजकवि हो, चन्द तो सामन्त और सखा थे। मुनि जिन विजय जी की खोजों से सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज के समय में चंद थे, चाहे रासो उन्होंने न लिखा हो।

रासो में दिए गए अधिकांश नाम और घटनाएँ इतिहास से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम अशुद्ध हैं। रासो में परमार, चालुक्य, चौहान अग्निवंशी माने गए हैं—शिला लेखों व प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर वे सूर्यवंशी ठहरते हैं, अग्निवंश की कल्पना पीछे की गई है और इसका श्रेय रासो का है। रासो में चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज के निकट के पूर्वजों के नाम भी शिलालेखों व पृथ्वीराज विजय से भिन्न हैं। उसमें पृथ्वीराज का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल का दौहित्र और उसके यहाँ गोद जाना लिखा है। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की पुत्री नहीं थीं, वे कलचुरी वंश की थीं। रासो में जयचन्द को अनंगपाल का दौहित्र और राठौर

वंशीय कहा है, किन्तु शिलालेखों में वे सर्वत्र गहरवार लिखे गए हैं। पृथ्वीराज के विचारों की अनैतिहासिकता के साथ ओझा जी संयोगिता स्वयंवर तथा जयचन्द और पृथ्वीराज की शत्रुता को कपोल कल्पित बतलाते हैं।

मिश्र बन्धुओं का मत है कि जो ऐतिहासिकता में भ्रान्तियाँ मालूम पड़ती हैं वे वास्तव में नहीं हैं, क्योंकि नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्टे परवानों से उनकी पुष्टि होती है। और यदि वे वास्तव में भ्रान्तियाँ हैं तो लेखकों के कारण हो सकती हैं। ओझाजी का यह कथन कि अन्य ग्रन्थों में चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है, अकाट्य प्रमाण नहीं है। पृथ्वीराज विजय में पुष्कर को, जो ब्रह्माजी का प्राचीन यज्ञ कुण्ड था, प्रथम चौहान का उत्पत्ति स्थान माना है। यज्ञ से अग्नि का सम्बन्ध है ही। दूसरे वंशावली, नाम इत्यादि का प्रश्न काव्य का नहीं, इतिहास का है, फिर एक व्यक्ति के घर और बाहर के नामों में अन्तर हो सकता है, कुछ नामों का सम्बन्ध प्रक्षिप्त अंशों से भी हो सकता है। दशरथ शर्मा ने सं० १२७० के लिए पृथ्वीराज प्रबन्ध के अनुवाद से सिद्ध कर दिया है कि जयचन्द और पृथ्वीराज की शत्रुता थी, क्योंकि जयचन्द की राजधानी में पृथ्वीराज की मृत्यु पर घी के दिए जलाए गए थे।

२--रासो में तिथियाँ बिल्कुल अशुद्ध दी गई हैं। रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु का सं० ११५८ दिया है, जबकि इतिहास से वह सं० १२४८ है, पृथ्वीराज का जन्म सं० १११५ दिया है जो असम्भव है, इतिहास से वह १२२० ठहरता है। पृथ्वीराज का सिंहासन रोहण सं० १२१२ दिया है जब कि इतिहास से वह १२३४ होता है। इसी प्रकार आबू पर भीम चालुक्य के आक्रमण शहाबुद्दीन के साथ पुराडौर युद्ध आदि की तिथियाँ इतिहास-प्रमाणित नहीं हैं।

तिथियों के बारे में श्री मिश्रबन्धु का मत है कि रासो के संवत् से ६० वर्ष कम हैं। यह अन्तर सभी तिथियों में दीख पड़ता है। इस प्रकार रासो में विक्रमीय सम्वत् का प्रयोग न होकर किसी ऐसे सम्वत् का हुआ जो वर्तमान काल के प्रचलित सम्वत् से ६० वर्ष पीछे था। यह आनन्द सम्वत् कहा गया है पण्ड्याजी का कहना है कि समरसी के पट्टे परवानों में भी इसी सम्वत् का प्रयोग हुआ है। बाप्पा रावल आदि के समय भी इसी सम्वत् से मिलाए जा सकते हैं।

अतः ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय राजाओं के यहाँ यही आनन्द सम्वत् प्रचलित था।

(३) उसमें अरबी-फारसी के शब्द बहुत से हैं, जो चन्द के समय किसी प्रकार व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। ऐसे शब्द प्रायः दश प्रतिशत हैं। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर १६वीं शताब्दी की है।

ओझाजी के मत के विरुद्ध मिश्रबन्धु श्यामसुन्दर दास के मत का निर्देश करते हुए, दो कारण देते हैं—पहली बात तो यह है कि भारत पर मुसलमानों के आक्रमण बहुत पहले से शुरू हो गए थे। सिन्ध और मुल्तान पर उनका बहुत पहले से ही अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था अतः उसकी बाल्यवस्था से ही फारसी-अरबी शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण उसकी भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है। दूसरे रासो का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है, अतः परवर्ती काल में मुसलमानी आतंक के साथ भाषा पर अरबी फारसी का आतंक होना भी स्वाभाविक था। इसीलिए प्रक्षिप्त अंशों में और भी मुसलमानी शब्द आ जाने से रासो में दस प्रतिशत शब्द अरबी फारसी के हैं।

(४) भाषा अनुस्वरांत शब्दों से भरी हुई है और उसमें कोई स्थिरता नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द-रूपावली का कोई विचार नहीं है और नए पुराने ढंग की विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं।

रासो की भाषा में कहीं सोलहवीं शताब्दी और कहीं प्राचीन भाषा के दर्शन मिलते हैं, भाषा का सर्वत्र एक सा रूप नहीं है। ऐसा प्राक्षिप्तांश के जोड़ देने के कारण हुआ है प्रक्षिप्त अंशों के जोड़ देने से भाषा की शब्द रूपावली अर्वाचीन हो गई है नहीं तो रासो का वास्तविक रूप प्राचीनता ही लिए हुए है।

रासो की प्रमाणिकता, अप्रमाणिकता के सम्बन्ध में ऊपर दोनों ओर के तर्क दिए गए हैं; अभी निर्णय नहीं हुआ है, किन्तु यह अवश्य है कि आधुनिक नवीनतम खोजों के आधार पर रासो को प्रामाणिक मानने के लिए अधिक प्रमाण हैं। यदि रासो के भिन्न-भिन्न रूपान्तरों को प्रकाशित करके उसका अध्य-

यन किया जाय तो कुछ निर्णय हो सकता है, जब तक ऐसा नहीं होता अन्तिम निर्णय देना कठिन है।

रासो की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा की खोजों का उल्लेख :—

पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा ने निम्न-लिखित खोजें की हैं और ओझाजी के तर्कों का उत्तर दिया है :—

१—मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है न उसकी रचना सं० १६०० के आस-पास हुई थी। उस पर अनैतिहासिकता का आरोप उसके वृहत् संस्करण के आधार पर है। लेकिन इधर जो रासो की लघुतम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें ये अशुद्धियाँ नहीं हैं। ये प्रतियाँ बीकानेर की फोर्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। इन प्रतियों के आधार पर रासो तथा चद को पृथ्वीराज का समकालीन मान लेना युक्त संगत हो जाता है। काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित रासो पर ओझा जी के मत मूल रासो पर नहीं लागू होते।

२—ओझाजी के अनुसार आबू के अग्निकुण्ड से चार राजपूत कुलों की उत्पत्ति-कथा शिलालेख और इतिहास-सम्मत नहीं है, किन्तु बीकानेर की प्रति में इस कल्पना-प्रसूत कथा का अभाव है। उसमें सिर्फ इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सुर्जनचरित्र, हम्मीर—काव्य, और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है। दशरथ शर्मा जी का मत है कि चौहानों की अग्निकुल सम्बन्धी कथा वृहत् रूपान्तर रासो में मिलती है जो अवश्य ही जाली है, जिसका आधार रामायण और महाभारत की कतिपय कहानियाँ हैं।

३—ओझा जी ने रासो की वंशावली अशुद्ध बतायी है परन्तु यह वंशावली वृहत संस्करण के आधार पर है। बीकानेर की लघुतम प्रति में वंशावली का यह विस्तार नहीं है। पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में और रासो की बीकानेर वाली प्रति की वंशावली की तुलना करने पर कुछ ही नामों का अन्तर पड़ता है, जो विशेष बाधक नहीं है, क्योंकि एक व्यक्ति का घर का और बाहर का नाम भिन्न भिन्न हो सकता है।

४—ओझा जी का आक्षेप अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध के विषय में है। दुर्भाग्यवश लघुतम प्रति में भी यह अशुद्धि ज्यों की त्यों है। शर्मा जी का कथन है कि सम्भवतः दिल्ली के अन्तिम तोमर राजा ने दिल्ली को सोमेश्वर के सौतेले भाई बीसलदेव को दे डाला हो और रासो-कर्त्ता ने इस कथा में बीसल-देव की जगह सोमेश्वर का नाम लिख डाला है। ललित विग्रह राज नाटक में बीसलदेव चतुर्थ और इन्द्रप्रस्थ के राजा की पुत्री का परस्पर प्रेम वर्णित है। यह सम्भव नहीं कि मुसलमानों से युद्ध करने के सिलसिले में वह दिल्ली गया हो और उसे दहेज में प्राप्त किया हो।

ओझा जी ने पृथ्वीराज के अनेक विवाहों के सम्बन्ध में भी आपत्ति की है, उन्होंने संयोगिता स्वयंवर को भी मन गढ़न्त माना है लेकिन शर्माजी ने इसे असंगत बतलाया है। संयोगिता स्वयंवर रासो के सभी रूपान्तरों में विस्तार पूर्वक वर्णित है। हम्मीर-काव्य और रम्भा मंत्री में इस घटना का उल्लेख न हो सकने से इसके अस्तित्व में सन्देह करना ओझा जी का भ्रम है, क्योंकि बहुत से ग्रन्थों में कुछ वर्णन होते हैं कुछ नहीं। लघुतम प्रति में इच्छुनी के विवाह को छोड़कर और किसी का वर्णन नहीं है।

६—ओझा जी ने प्रथा के विवाह तथा शहाबुद्दीन द्वारा समरसिंह के मारे जाने और भीम द्वारा सोमेश्वर का तथा पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर के बध को अशुद्ध अनैतिहासिक माना है, किन्तु इन घटनाओं का लघुतम प्रति में जरा भी उल्लेख नहीं है।

रासो की लघुतम प्रति से रासो के सम्बन्ध में जो सम्वतों की कठिनाई है, उसका भी हल हो जाता है। उसमें पद्मावती और पृथ्वीराज के विवाह की कथा भी नहीं है।

मुनि जिन-विजय के 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह के' अन्तर्गत 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' का उल्लेख करते हुए शर्मा जी ने बताया कि उसमें पृथ्वीराज क मृत्यु के विषय में लिखा है कि वह किस प्रकार शहाबुद्दीन द्वारा मारा गया। रासो की कथा में भी यह घटना ऐसी ही होगी किन्तु तीन चार सौ वर्षों में उसका वर्तमान रूप में पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं।

१०—लघुतम प्रति से सप्तम खण्ड में कैमास वध का वर्णन है। कैमास को 'खरतर-पदावली' में मडंलेश्वर के नाम से सम्बोधित किया गया है। 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। यह मूल रासो की कथा है। 'पृथ्वीराज विजय' में भी कैमास की बड़ी प्रशंसा है।

सारांश यह है कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अवश्य है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति की खोज निकाला जाय। शर्मा जी का विचार है कि रासो की प्राचीनतम प्रति यदि मिल जाय तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन चरित्र में उधृत बातें मिलेंगीं, क्योंकि वह संस्कृत में रासो का सारांश है।

डा० दशरथ शर्मा ने उपर्युक्त पुष्ट प्रमाणों द्वारा रासो की प्रमाणिकता सिद्ध की है, पर दो घटनाओं से लघुतम प्रति भी अशुद्ध सिद्ध होती है। शर्मा जी के पास पृथ्वीराज का अनंगपाल तोमर का नाती होने का और इच्छिनी के विवाह का प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार वंशावली के नामों में जोड़-तोड़ मिलाने की चेष्टा विश्वसनीय नहीं है। शर्मा जी ने संयोगिता स्वयंवर और चौहानों की उत्पत्ति की घटना को ही पुष्ट तर्कों से शुद्ध सिद्ध किया है। शेष ओझा जी के आक्षेप ज्यों के त्यों बने रहते हैं। अतः जब तक रासो की सभी प्रतियों की तुलना द्वारा किसी सर्वमान्य निर्णय पर नहीं पहुँचा जाता, तब तक शर्मा जी की खोज अधिक महत्व पूर्ण नहीं है।

वीरगाथा काल में सिद्धों और योगियों की धारा:—

वीरगाथाकाल के आरम्भ में बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का प्रचार भारत-वर्ष के पूर्वी भागों में काफी अधिक था। बौद्ध तान्त्रिकों में भ्रष्ट आचरण चरम उत्कर्ष को पहुँच गये थे। ये बिहार से आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। चौरासी सिद्ध इन्हीं में से हुए हैं जिनका परम्परा गत स्मरण जनता को अब तक है। ये अपनी आलौकिक चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि इन योगियों का प्रभाव विक्रम की दशवीं शताब्दी से ही पाया जाता

है जो पठानों के समय तक कुछ न कुछ बना रहा। ये सिद्ध अपने मत का प्रचार जनता में करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा में भी रचनाएँ कीं। उनकी रचनाओं का एक संग्रह श्री हरप्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध गान ओ दोहा" के नाम से निकाला था पीछे सांकृत्यायन जी इन सिद्धों की बहुत सी रचनाएँ प्रकाश में लाए। इनकी रचनाओं में निम्नलिखित प्रवृतियाँ पाई जाती हैं :--

१—अन्तस्साधना पर जोर और पण्डितों को फटकार :—

पंडिअ सऊल सत्त वक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत न जाणाइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।

२—दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग का उपदेश है—

नाद न विन्दु न रवि न शशि मण्डल। चिअराऊ सहावे मूकल।
उजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रेलंग।

३—वारुणी प्रेरित अंतर्मुख साधना पर जोर है--

सहजे थिर करि वारुणी साध। जे अजरामर होइ दिट काँध।
दशमि दुआरत चिन्ह देखइआ। आइल गराहक अपणे वहिआ।
चउशठि घड़िए देट पसारा। पइठल गराहक नाहिं निसारा।

४—रहस्य मार्गियों की सर्वभौमिक प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी वाणियो के सांकेतिक अर्थ भी बताया करते थे :—

बेंग संसार बाड़हिल जाअ। दुहिल दूध कि बेटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे। मिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुझी सों धनि बुधी। जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते पिआला पिहे षम जूझअ। टेंढ पाएर गीत विरले बूझअ।

५--डोमिनी रज की आदि नारियों के अबाध सेवन के महत्व का प्रतिपादन :--

गंगा जऊँना माझे रे बहइ नाई।
तहिं बुडिलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ।

घाहतु डोवी, वाहलो डोवी वाट त अइल उछारा।
सद्गुरु पाऊ-पए जाइव युणु जिणउरा ॥

बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण कर लिया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की भावना की गई, जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। यहीं से महा सुखवाद का प्रवर्तन होता है। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख दशा की प्राप्ति मानी गई। निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए शून्य, विज्ञान और महासुख। इस महासुख को सहवास सुख के समान ठहराया गया। शक्तियों सहित देवताओं के युगनद्ध स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं। रहस्य या गुह्य की प्रवृति बढ़ती गई और गुह्य समाज या श्रीसमाज स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक वीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का योग या सेवन आवश्यक था। इस प्रकार सिद्धों में वामाचार बहुत फैला हुआ था।

इसी सिद्धि सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया में गोरखनाथ ने हठयोग का प्रवर्तन किया। उनके सम्प्रदाय वाले योगी कहलाये। योगियों की इस शाखा ने वज्रयानियों के वामाचार को अपने से अलग रक्खा। गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को विशेष महत्व प्रदान किया है। यद्यपि शिव शक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी का नाथ पंथ का किसी किसी ग्रन्थ के समावेश हो गया है। नाथ पंथ के योगियों की विचार धारा का सम्यक् अध्ययन करने के लिए हमें तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी किंचित विवेचन कर लेना चाहिये।

इतिहास से यह बात सिद्ध हो जाती है कि सूफियों फकीरों ने इसलाम का प्रचार करने का भारतवर्ष में बहुत दिनों तक उद्योग किया। इन सूफी फकीरों ने अपने चमत्कार द्वारा जनता को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। भारतीय मुसलमानों के बीच विशेषतः सूफियों की परम्परा में ऐसी कहानियाँ चलीं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात में पछाड़ दिया।

जब हिन्दुओं और मुसलमान पीरों में इस प्रकार की तनातनी चल रही थी। उस समय गोरख ने ईश्वर से मिलाने वाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए सामान्य रूप में रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरख पंथी ग्रन्थों में समन्वय का विशेष महत्व है। गोरख पन्थ में मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति अवज्ञा प्रकट की गई है। वेद-शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं। नाद और बिन्दु संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धों में भी बराबर चलती रही तथा 'गोरख सिद्धान्त' में भी उनकी विषद व्याख्या की गई है। नाद और बिन्दु के योग से जगत की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनों मानते हैं।

सिद्धों और योगियों की रचनाओं की प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि हमारे साहित्य में उनका क्या स्थान है। सिद्धों और योगियों की रचनाएँ तांत्रिक विधान योगसाधना, आत्मनिग्रह, अन्तर्मुख साधना आदि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव वे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती हैं। उनका महत्व आचार्य शुक्ल जी के अनुसार केवल निम्नलिखित दो बातों के कारण है :—

(१) पहली बात भाषा सम्बन्धी है। सिद्धों की भाषा देश भाषा और अपभ्रंश अर्थात पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा है। उन्होंने उस व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी।

(२) दूसरी बात साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परम्परा सम्बन्धी है।

सिद्धों ने बाह्य पूजा, जाति-पांति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा बुद्धि का प्रचार किया। रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों को तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपट वाणी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया।

घट के भीतर चक्र नाडियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलायी, और नाद, बिंदु सुरति, निरति ऐसे शब्दों का प्रयोग करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढग पर नाथ पथियों ने भी जारी रखी।

इन दो बातों के कारण ही इनका हमारे साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। सिद्धों और योगियों ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसने आगे की साहित्यिक रचनाओं के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिन्होंने आगे चलकर निर्गुण सतों को अत्याधिक प्रभावित किया। ये ही बातें कबीर की रचनाओं में भी दृष्टिगत होती हैं तथा इन्हीं कारणों से इनका महत्व है।

—— ——

भक्ति काल

भक्ति काल की परिस्थितियाँ और विशेषताएँ

भक्तिकाल का आरम्भ महाराज हम्मीर के बाद से माना जाता है। देश में मुस्लिम राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने देव मन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था, पर कर कुछ भी न सकते थे। ऐसी अवस्था में हिन्दू न तो वीरता के गीत ही गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। इतने भारी राजनैतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्ति और कुछ न था।

राजनैतिक उलट-फेर के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी बड़ी बुरी दशा थी। वीरगाथा काल में ही वज्रयानी सिद्धकावालिक आदि देश के पूर्वी भागों में और नाथ पंथी योगी पश्चिमी भागों में पाये जाते थे। इसी से प्रतीत होता है कि सामान्य जनता की-धर्म भावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता जा रहा था।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में प्रवाहित होता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह अंग हीन हो जाता है। कर्म के बिना वह लूला लँगड़ा ज्ञान के बिना अन्धा और भक्ति के बिना निष्प्राण रहता है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में कर्म तो अर्थ शून्य विधि विधान, तीर्थाटन और पर्व स्नान आदि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की अनुभूति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी-कभी दबती, कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली आ रही थी।

जिस समय मुसलमान भारत में आये उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। परिवर्तन के लिए बहुत कुछ परिश्रम की आवश्यकता थी। यह दशा जनसमुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई प्रभाव न था। पंडितों के शास्त्रार्थ निरन्तर होते रहते थे, दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रन्थ लिखे जाते थे। विशेषकर चर्चा वेदान्त की होती थी ब्रह्म सूत्रों, उपनिषदों, गीता आदि के भाष्य लिखने की परम्परा चली आ रही थी जिसके परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई नवीन रूपों में विकास हुआ।

युद्ध के समय वीर-गाथाओं का काव्य आना स्वाभाविक ही था किन्तु शान्ति के समय एक दूसरे प्रकार के ही काव्य की आवश्यकता थी। मुसलमान लोग युद्ध से ऊब गये थे। वे शान्ति चाहते थे और यहाँ के लोगों से सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे, जिससे उनके राज्य की नींव दृढ़ हो जाय। इधर हिन्दू भी चाहते थे कि उनका धर्म ऐसे रूप में हो कि मुसलमान उसका खंडन न कर सकें और उधर मुसलमान भी हिन्दुओं के निकट आना चाहते थे। तत्कालीन जनता में दोनों ओर से मिलन की प्रवृत्ति चल रही थी। कुछ लोग अपना स्वत्व और धार्मिक व्यक्तित्व अलग रखना चाहते थे। वे लोग मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। वे संसार को "सियाराम मय सब जग जानी" कह कर हाथ जोड़ प्रणाम करते थे। किन्तु वे एकता की वेदी पर अपने अन्य देवताओं के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना का बलिदान नहीं करना चाहते थे। वे भक्ति द्वारा निर्जीव हिन्दू जनता में एक नवीन जीवन का संचार करना चाहते थे।

कालदर्शी भक्ति कवि जनता के हृदय को भगवद्भक्ति में लीन रखने के लिये भक्ति का प्रचार करने लगे। इसकी लपेट में इस देश के सम्पूर्ण निवासी—क्या हिन्दू क्या मुसलमान-सभी आ गये और इन भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव को दूर किया। दक्षिण भारत से जो भक्ति का स्रोत उत्तर भारत की ओर प्रवाहित हो रहा था, उसे भी जनता के हृदय-क्षेत्र में विचरण करने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का प्रचार किया, जनता उसकी ओर आकर्षित होने लगी। गुजरात में स्वामी मध्वा-

चार्य (सं० १२५४-१३३२) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। देश के पूर्वी भाग में जयदेव की कृष्ण-प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी, जिसमें विद्यापति ने भी वही राग छेड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बड़ा जोर दिया और अपना अलग सम्प्रदाय खड़ा किया। दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्यजी ने प्रेम-मूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रस मग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं, जिनमें आगे चलकर हिन्दी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचाने वाले जगमगाते हुए रत्नों का आविर्भाव हुआ। इस विषय में इतना स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति परम्पराएँ भारतीय जनता के लिए कोई नवीन आविष्कार नहीं थी। उदाहरण के लिए राम भक्ति आदि पराम्परा इतनी प्राचीन है कि इसका उद्भव निश्चित करना एक खोजवंत विषय है। हिन्दी भाषा का पूर्वरूप प्राकृत भाषा में भी स्वयम्भू आदि कवियों ने रामचरित्र लिखे हैं इसी प्रकार कृष्ण भक्ति का प्रचार भी जन साधारण में बहुत पहले से था। आचार्य शुक्ल ने यह स्वीकार किया है कि भक्ति मत मतवाद जन साधारण में अवश्य प्रचलित होगा जिसका चरमविकास हम तुलसी और सूर में पाते हैं।

इस प्रकार एक ओर प्राचीन सगुणोपासना का काव्य-क्षेत्र तय्यार हुआ तो दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। इस कारण हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए एक "सामान्य भक्ति मार्ग" का विकास होने लगा। हम देखते हैं कि आदि काल में ही वज्रयान के अनुयायी नीच जाति के होने के कारण जाति-पाँति के बखेड़े को नहीं मानते थे। नाथ सम्प्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान न थे।

इस सम्प्रदाय के रमते कनफटे योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातें सुना सुनाकर लोगों पर अपना प्रभाव जमाते थे। ईश्वर को घट के भीतर बताते थे। जाति-पाँति को व्यर्थ मानते थे। वेदाध्यान आदि को भी व्यर्थ का ढकोसला समझते थे। इन योगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी थे। भक्त कवियों की आवाज इससे पृथक थी।

जिस समय मुसलमान भारत में आये उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। परिवर्तन के लिए बहुत कुछ परिश्रम की आवश्यकता थी। यह दशा जनसमुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई प्रभाव न था। पंडितों के शास्त्रार्थ निरन्तर होते रहते थे, दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रन्थ लिखे जाते थे। विशेषकर चर्चा वेदान्त की होती थी ब्रह्म सूत्रों, उपनिषदों, गीता आदि के भाष्य लिखने की परम्परा चली आ रही थी जिसके परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई नवीन रूपों में विकास हुआ।

युद्ध के समय वीर-गाथाओं का काव्य आना स्वाभाविक ही था किन्तु शान्ति के समय एक दूसरे प्रकार के ही काव्य की आवश्यकता थी। मुसलमान लोग युद्ध से ऊब गये थे। वे शान्ति चाहते थे और यहाँ के लोगों से सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे, जिससे उनके राज्य की नींव दृढ़ हो जाय। इधर हिन्दू भी चाहते थे कि उनका धर्म ऐसे रूप में हो कि मुसलमान उसका खंडन न कर सकें और उधर मुसलमान भी हिन्दुओं के निकट आना चाहते थे। तत्कालीन जनता में दोनों ओर से मिलन की प्रवृत्ति चल रही थी। कुछ लोग अपना स्वत्व और धार्मिक व्यक्तित्व अलग रखना चाहते थे। वे लोग मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। वे संसार को "सियाराम मय सब जग जानी" कह कर हाथ जोड़ प्रणाम करते थे। किन्तु वे एकता की वेदी पर अपने अन्य देवताओं के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना का बलिदान नहीं करना चाहते थे। वे भक्ति द्वारा निर्जीव हिन्दू जनता में एक नवीन जीवन का संचार करना चाहते थे।

कालदर्शी भक्ति कवि जनता के हृदय को भगवद्भक्ति में लीन रखने के लिये भक्ति का प्रचार करने लगे। इसकी लपेट में इस देश के सम्पूर्ण निवासी—क्या हिन्दू क्या मुसलमान-सभी आ गये और इन भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव को दूर किया। दक्षिण भारत से जो भक्ति का श्रोत उत्तर भारत की ओर प्रवाहित हो रहा था, उसे भी जनता के हृदय-क्षेत्र में विचरण करने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का प्रचार किया, जनता उसकी ओर आकर्षित होने लगी। गुजरात में स्वामी मध्वा-

चार्य (सं० १२५४-१३३२) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। देश के पूर्वी भाग में जयदेव की कृष्ण प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी, जिसमें विद्यापति ने भी वही राग छेड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बड़ा जोर दिया और अपना अलग सम्प्रदाय खड़ा किया। दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्यजी ने प्रेम-मूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रस मग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं, जिनमें आगे चलकर हिन्दी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचाने वाले जगमगाते हुए रत्नों का आविर्भाव हुआ। इस विषय में इतना स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति परम्पराएँ भारतीय जनता के लिए कोई नवीन आविष्कार नहीं थी। उदाहरण के लिए राम भक्ति आदि परम्परा इतनी प्राचीन है कि इसका उद्भव निश्चित करना एक खोजवंत विषय है। हिन्दी भाषा का पूर्वरूप प्राकृत भाषा में भी स्वयम्भू आदि कवियों ने रामचरित्र लिखे हैं इसी प्रकार कृष्ण भक्ति का प्रचार भी जन साधारण में बहुत पहले से था। आचार्य शुक्ल ने यह स्वीकार किया है कि भक्ति मत मतवाद जन साधारण में अवश्य प्रचलित होगा जिसका चरमविकास हम तुलसी और सूर में पाते हैं।

इस प्रकार एक ओर प्राचीन सगुणोपासना का काव्य-क्षेत्र तय्यार हुआ तो दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। इस कारण हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए एक "सामान्य भक्ति मार्ग" का विकास होने लगा। हम देखते हैं कि आदि काल में ही वज्रयान के अनुयायी नीच जाति के होने के कारण जाति-पाँति के बखेड़े को नहीं मानते थे। नाथ सम्प्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान न थे।

इस सम्प्रदाय के रमते कनफटे योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातें सुना सुनाकर लोगों पर अपना प्रभाव जमाते थे। ईश्वर को घट के भीतर बताते थे। जाति-पाँति को व्यर्थ मानते थे। वेदाध्यान आदि को भी व्यर्थ का ढकोसला समझते थे। इन योगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी थे। भक्त कवियों की आवाज इससे पृथक थी।

भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण भारत से आई, उसी ने उत्तर भारत के अनुकूल हिन्दुओं मुसलमान दोनों के लिए भक्ति मार्ग की भावना नाथ पंथ हृदय पक्ष शून्य था, लेकिन महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८–१४०८) ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की स्थापना की। उसके पीछे कबीरदास ने "निर्गुण पंथ" के नाम से एक धारा प्रवाहित की जो कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर कभी मुसलमानों के सूफीमत की ओर झुकती थी। कबीर ने भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा सूफीमत के प्रेम-तत्व को लेकर इस मत को चलाया था। कबीर ने नाथ पंथियों से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य, जनता को उभारा। निर्गुण मत का प्रभाव निम्न वर्ग की जनता पर अधिक पड़ा। उस समय देश में जाति-पाँति ऊँच-नीच की भावना बहुत फैली हुई थी। निर्गुण मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्यमात्र को समान अधिकार है। इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण नाम की दो काव्य धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रहीं। भक्ति मार्गी शाखा आगे चल कर दो रूपों में प्रवाहित हुई—कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में और राम-भक्ति शाखा के रूप में।

भक्ति-काल के कवियों में सब प्रथम कबीर की रचनाएं ही मिलती हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में सर्वप्रथम निर्गुण सम्प्रदाय की कविताएँ ही हुईं। आगे चलकर यह निर्गुण धारा दो मार्गों में विभक्त हो गई एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की प्रेममार्गी शाखा।

इस प्रकार इस काल में तीन प्रवृत्तियों की प्रधानता थी और उनके फल स्वरूप तीन धाराएँ (१) निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेममार्गी शाखा और (३) भक्ति मार्गी शाखा प्रवाहित हुई। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव होती हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई तथा रीति [illegible] ी। [illegible]
है कि भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं, किन्तु [illegible]
भी थीं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकार

सन्त, सूफी और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती थीं। बाबू गुलाबराय जी ने उन्हें इस प्रकार लिखा है :—

१—नाम का महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और भक्तों में समानरूप में पाये जाते हैं। हम अधिकांश में कीर्तन की प्रधानता कृष्ण भक्तों तथा सूफियों में पाते हैं। तुलसी ने भी नाम को बड़ा महत्व दिया है क्योंकि नाम में निर्गुण तथा सगुण दोनों का समन्वय मिलता है। देखिए :—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।"

२—गुरु की मान्यता—गुरु की महत्ता तथा मान्यता सन्त, सूफी तथा भक्त सभी कवियों ने मानी है। जैसा कि हम देखते हैं कि कबीरदास जी ने गुरु को गोविंद से भी बड़ा माना है। "गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागों पाँय। बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय॥" जायसी ने भी गुरु वन्दना की है। तुलसी ने भी 'मानस' के आरम्भ में कहा है कि "बन्दों गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि" तथा इसके साथ ही साथ सूरदास जी ने भी अपने सूर सागर में गुरु बन्दना की है "वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहि अन्धेरी।"

३—भक्ति भावना की प्रधानता—सूफी, सन्त तथा भक्त कवियों में भक्ति की प्रधानता पाई जाती है। हम देखते हैं कि निराकार ब्रह्म के उपासक कबीरदासजी ने भी भक्ति का अछूता नहीं छोड़ा और उन्होंने कहा है कि "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मूआ संसार।" प्रेम मार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर भक्ति का रूप माना है ही।

४—अहंकार का त्याग—इन सन्त तथा भक्त कवियों ने अहंकार का बिल्कुल परित्याग कर दिया था, क्योंकि उनका कहना था कि सच्चे भक्त चाहे वे सगुण के उपासक हों अथवा निर्गुण के वे अहंकार रहित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भक्तिकाल की परिस्थितियाँ और विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—वीरों के निधन से वीरता का ह्रास होना।

२—यवनों के भारतवर्ष में बस जाने के कारण समाज का दो युगों में बट जाना।

भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण भारत से आई, उसी ने उत्तर भारत के अनुकूल हिन्दुओं मुसलमान दोनों के लिए भक्ति मार्ग की भावना नाथ पंथ हृदय पक्ष शून्य था, लेकिन महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८–१४०८) ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की स्थापना की। उसके पीछे कबीरदास ने "निर्गुण पंथ" के नाम से एक धारा प्रवाहित की जो कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर कभी मुसलमानों के सूफीमत की ओर झुकती थी। कबीर ने भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा सूफीमत के प्रेम-तत्व को लेकर इस मत को चलाया था। कबीर ने नाथ पंथियों से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य, जनता को उबारा। निर्गुण मत का प्रभाव निम्न वर्ग की जनता पर अधिक पड़ा। उस समय देश में जाति-पांति ऊँच-नीच की भावना बहुत फैली हुई थी। निर्गुण मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्यमात्र को समान अधिकार है। इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण नाम की दो काव्य धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रहीं। भक्ति-मार्गी शाखा आगे चल कर दो रूपों में प्रवाहित हुई—कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में और राम-भक्ति शाखा के रूप में।

भक्ति-काल के कवियों में सब प्रथम कबीर की रचनाएं ही मिलती हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में सर्वप्रथम निर्गुण सम्प्रदाय की कविताएँ ही हुईं। आगे चलकर यह निर्गुण धारा दो भागों में विभक्त हो गई एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की प्रेममार्गी शाखा।

इस प्रकार इस काल में तीन प्रवृत्तियों की प्रधानता थी और उनके फल स्वरूप तीन धाराएँ (१) निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेममार्गी शाखा और (३) भक्ति मार्गी शाखा प्रवाहित हुईं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव होती हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई तथा रीतिकाल में दूसरी। हम देखते हैं कि भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं, किन्तु उनमें कुछ समान भावनाएँ भी थीं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती थीं और वे बातें

सन्त, सूफी और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती थीं। बाबू गुलाबराय जी ने उन्हें इस प्रकार लिखा है :—

१—नाम का महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और भक्तों में समानरूप में पाये जाते हैं। हम अधिकांश में कीर्तन की प्रधानता कृष्ण भक्तों तथा सूफियों में पाते हैं। तुलसी ने भी नाम को बड़ा महत्व दिया है क्योंकि नाम में निर्गुण तथा सगुण दोनों का समन्वय मिलता है। देखिए :—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।"

२—गुरु की मान्यता—गुरु की महत्ता तथा मान्यता सन्त, सूफी तथा भक्त सभी कवियों ने मानी है। जैसा कि हम देखते हैं कि कबीरदास जी ने गुरु को गोविंद से भी बड़ा माना है। "गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागों पाँय। बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय॥" जायसी ने भी गुरु वन्दना की है। तुलसी ने भी 'मानस' के आरम्भ में कहा है कि "बन्दों गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि" तथा इसके साथ ही साथ सूरदास जी ने भी अपने सूर सागर में गुरु वन्दना की है "बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहि अन्धेरी।"

३—भक्ति भावना की प्रधानता—सूफी, सन्त तथा भक्त कवियों में भक्ति की प्रधानता पाई जाती है। हम देखते हैं कि निराकार ब्रह्म के उपासक कबीरदासजी ने भी भक्ति का अछूता नहीं छोड़ा और उन्होंने कहा है कि "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मूआ संसार।" प्रेम मार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर भक्ति का रूप माना है ही।

४—अहंकार का त्याग—इन सन्त तथा भक्त कवियों ने अहंकार का बिल्कुल परित्याग कर दिया था, क्योंकि उनका कहना था कि सच्चे भक्त चाहे वे सगुण के उपासक हों अथवा निर्गुण के वे अहंकार रहित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भक्तिकाल की परिस्थितियाँ और विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—वीरों के निधन से वीरता का ह्रास होना।

२—यवनों के भारतवर्ष में बस जाने के कारण समाज का दो युगों में बट जाना।

भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण भारत से आई, उसी ने उत्त
भारत के अनुकूल हिन्दुओं मुसलमान दोनों के लिए भक्ति मार्ग की भाव
नाथ पंथ हृदय पक्ष शून्य था, लेकिन महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नाम
(सं० १३२८–१४०८) ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति म
की स्थापना की। उसके पीछे कबीरदास ने "निर्गुण पंथ" के नाम से
धारा प्रवाहित की जो कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर कभी मुसलमान
सूफीमत की ओर झुकती थी। कबीर ने भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद
सूफीमत के प्रेम-तत्व को लेकर इस मत को चलाया था। कबीर ने नाथ पं
से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य, जनता को उबारा। निर्गुण
का प्रभाव निम्न वर्ग की जनता पर अधिक पड़ा। उस समय देश में जाति-प
ऊँच-नीच की भावना बहुत फैली हुई थी। निर्गुण मत के अनुसार ईश्वर
भक्ति के लिए मनुष्यमात्र को समान अधिकार है। इस प्रकार देश में स
और निर्गुण नाम की दो काव्य धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अ
भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रहीं। भक्ति-मार्गी श
आगे चल कर दो रूपों में प्रवाहित हुई—कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में
राम-भक्ति शाखा के रूप में।

भक्ति-काल के कवियों में सब प्रथम कबीर की रचनाएं ही मिलत
अतः हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में सर्वप्रथम निर्गुण सम्प्रदाय की क
ही हुई। आगे चलकर यह निर्गुण धारा दो भागों में विभक्त हो गई ए
ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की प्रेममार्गी शाखा।

इस प्रकार इस काल में तीन प्रवृत्तियों की प्रधानता थी और उन
स्वरूप तीन धाराएँ (१) निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेममार्गी
और (३) भक्ति मार्गी शाखा प्रवाहित हुई। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य
हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव होती हैं या तो अपनी आध्य
श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति
लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई तथा रीतिकाल में दूसरी। ह
है कि भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं, किन्तु उनमें कुछ समान
भी थीं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती थीं और

सन्त, सूफी और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती थीं। बाबू गुलाबराय जी ने उन्हें इस प्रकार लिखा है :—

१—नाम का महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और भक्तों में समानरूप में पाये जाते हैं। हम अधिकांश में कीर्तन की प्रधानता कृष्ण भक्तों तथा सूफियों में पाते हैं। तुलसी ने भी नाम को बड़ा महत्व दिया है क्योंकि नाम में निर्गुण तथा सगुण दोनों का समन्वय मिलता है। देखिए :—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।"

२—गुरु की मान्यता—गुरु की महत्ता तथा मान्यता सन्त, सूफी तथा भक्त सभी कवियों ने मानी है। जैसा कि हम देखते हैं कि कबीरदास जी ने गुरु को गोविंद से भी बड़ा माना है। "गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागों पाँय। बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय॥" जायसी ने भी गुरु वन्दना की है। तुलसी ने भी 'मानस' के आरम्भ में कहा है कि "बन्दों गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि" तथा इसके साथ ही साथ सूरदास जी ने भी अपने सूर सागर में गुरु वन्दना की है "बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अन्धेरी।"

३—भक्ति भावना की प्रधानता—सूफी, सन्त तथा भक्त कवियों में भक्ति की प्रधानता पाई जाती है। हम देखते हैं कि निराकार ब्रह्म के उपासक कबीरदासजी ने भी भक्ति का अछूता नहीं छोड़ा और उन्होंने कहा है कि "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मूआ संसार।" प्रेम मार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर भक्ति का रूप माना है ही।

४—अहंकार का त्याग—इन सन्त तथा भक्त कवियों ने अहंकार का बिल्कुल परित्याग कर दिया था, क्योंकि उनका कहना था कि सच्चे भक्त चाहे वे सगुण के उपासक हों अथवा निर्गुण के वे अहंकार रहित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भक्तिकाल की परिस्थितियाँ और विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—वीरों के निधन से वीरता का ह्रास होना।

२—यवनों के भारतवर्ष में बस जाने के कारण समाज का दो युगों में बट जाना।

भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण भारत से आई, उसी ने उत्तर भारत के अनुकूल हिन्दुओं मुसलमान दोनों के लिए भक्ति मार्ग की भावना नाथ पंथ हृदय पक्ष शून्य था, लेकिन महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८–१४०८) ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की स्थापना की। उसके पीछे कबीरदास ने "निर्गुण पंथ" के नाम से एक धारा प्रवाहित की जो कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर कभी मुसलमानों के सूफीमत की ओर झुकती थी। कबीर ने भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा सूफीमत के प्रेम-तत्व को लेकर इस मत को चलाया था। कबीर ने नाथ पंथियों से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य, जनता को उबारा। निर्गुण मत का प्रभाव निम्न वर्ग की जनता पर अधिक पड़ा। उस समय देश में जाति-पाति ऊँच-नीच की भावना बहुत फैली हुई थी। निर्गुण मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्यमात्र को समान अधिकार है। इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण नाम की दो काव्य धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रहीं। भक्ति-मार्गी शाखा आगे चल कर दो रूपों में प्रवाहित हुई—कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में और राम-भक्ति शाखा के रूप में।

भक्ति-काल के कवियों में सब प्रथम कबीर की रचनाएं ही मिलती हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में सर्वप्रथम निर्गुण सम्प्रदाय की कविताएँ ही हुईं। आगे चलकर यह निर्गुण धारा दो मार्गों में विभक्त हो गई एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की प्रेममार्गी शाखा।

इस प्रकार इस काल में तीन प्रवृत्तियों की प्रधानता थी और उनके फल स्वरूप तीन धाराएँ (१) निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेममार्गी शाखा और (३) भक्ति मार्गी शाखा प्रवाहित हुईं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव होती हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई तथा रीतिकाल में दूसरी। हम देखते हैं कि भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं, किन्तु उनमें कुछ समान भावनाएँ भी थीं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती थीं और वे बातें

सन्त, सूफी और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती थीं। बाबू गुलाबराय जी ने उन्हें इस प्रकार लिखा है :—

१—नाम का महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और भक्तों में समानरूप में पाये जाते हैं। हम अधिकांश में कीर्तन की प्रधानता कृष्ण भक्तों तथा सूफियों में पाते हैं। तुलसी ने भी नाम को बड़ा महत्व दिया है क्योंकि नाम में निर्गुण तथा सगुण दोनों का समन्वय मिलता है। देखिए :—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।"

२—गुरु की मान्यता—गुरु की महत्ता तथा मान्यता सन्त, सूफी तथा भक्त सभी कवियों ने मानी है। जैसा कि हम देखते हैं कि कबीरदास जी ने गुरु को गोविंद से भी बड़ा माना है। "गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागों पाँय। बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय॥" जायसी ने भी गुरु वन्दना की है। तुलसी ने भी 'मानस' के आरम्भ में कहा है कि "बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि" तथा इसके साथ ही साथ सूरदास जी ने भी अपने सूर सागर में गुरु वन्दना की है "बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अन्धेरी।"

३—भक्ति भावना की प्रधानता—सूफी, सन्त तथा भक्त कवियों में भक्ति की प्रधानता पाई जाती है। हम देखते हैं कि निराकार ब्रह्म के उपासक कबीरदासजी ने भी भक्ति का अछूता नहीं छोड़ा और उन्होंने कहा है कि "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मूआ संसार।" प्रेम मार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर भक्ति का रूप माना है ही।

४—अहंकार का त्याग—इन सन्त तथा भक्त कवियों ने अहंकार का बिल्कुल परित्याग कर दिया था, क्योंकि उनका कहना था कि सच्चे भक्त चाहे वे सगुण के उपासक हों अथवा निर्गुण के वे अहंकार रहित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भक्तिकाल की परिस्थितियाँ और विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—वीरों के निधन से वीरता का ह्रास होना।

२—यवनों के भारतवर्ष में बस जाने के कारण समाज का युगों में बट जाना।

(अ) शासक वर्ग में मुसलमानों का होना।

(ब) शासित वर्ग में हिन्दू-समाज का होना।

३—रीति-रिवाज तथा धार्मिक विषयों में हिन्दुओं और मुसलमानों का मतभेद होना।

४—हिन्दुओं और मुसलमान दोनों का पारस्परिक समन्वय का प्रयत्न।

५—सन्त कवियों का हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने के लिए एक सामान्य-धर्म की स्थापना करना।

६—सूफी कवियों का दोनों के हृदय में प्रेम की धारा प्रवाहित करना।

७—प्राचीन भक्तों के अवतारवाद के आधार पर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का नवीन रूप विकसित होना।

भक्ति काल की समान भावनाएँ

जैसा कि हम देखते हैं कि जब भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था तब शासक वर्ग में विदेशी विजेता मुसलमान थे और शासित वर्ग में हिन्दू प्रजा। अब हिन्दू जनता में इतना भी उत्साह नहीं रह गया था कि वह इन विदेशियों का सामना कर सके। हिन्दुओं के सामने उनके मन्दिर गिराये जाते थे। देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं। उनके साथ अत्याचार किये जाते थे। ऐसी अवस्था में दो ही बातें सम्भव थीं। या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या विलास में पड़कर हार को भूल जाना। हम देखते हैं कि प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति भक्तिकाल में पाई जाती है और दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति रीति काल में। भक्ति काल में चार शाखाएँ अवश्य थीं किन्तु उनमें कुछ समान भावनायें भी थीं। वे बातें सन्त और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

१—नाम की महत्ता—जप, कीर्तन भजन आदि सन्तों, सूफियों और उक्त कवियों में समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। सूफियों और कृष्ण भक्त कवियों में कीर्तन की प्रधानता है। तुलसी ने भी राम के नाम को राम से बड़ा माना है। नाम में निर्गुण सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है। देखिए:—

निर्गुण की सेवा करो, सगुण को करो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे तहाँ हमारो ज्ञान ॥ (कबीर)

कबीरदास ईश्वर को निर्गुण से परे मानते हैं उनका कथन है कि उसकी प्राप्ति भक्ति और योग के सम्मिलन के द्वारा हो सकती है। उसका नाम अक्षय पुरुष या सत्पुरुष है।

और भी—

मेरा साहब एक है दूजा, कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम मार्गी कवि जायसी तथा उनके अनुयायियों ने भी नाम की महिमा को बताया है। देखिये—

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥

और भी—

परगट गुपुत सकल महँ दूरि रहा सो नावँ।

इसी प्रकार सूर तथा तुलसी ने भी नाम और कीर्तन की महिमा को बताया है देखिये :—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहूते। किये जेहि निज बस निज बूते॥ (तुलसी)

और भी :—

तुलसी अलखहिं का लख राम-नाम जपु नीच॥

२—गुरु महिमा—कबीरदास ने तो गुरु को भगवान से भी बड़ा कहा है। देखिए :—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पायँ।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दिया मिलाय॥

और भी—

जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हमें नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं॥

इस प्रकार कबीरदास ने स्थान-स्थान पर गुरु की महिमा का वर्णन किया है। जितनी प्रधानता ईश्वर की नहीं मानी गई उतनी गुरु की मानी गई है, क्योंकि गुरु ही संसार-सागर से पार कराने वाली वस्तु है। गुरु ही ईश्वर के दर्शन करा सकता है जायसी ने भी गुरु की महिमा का खूब दर्शन किया है।

१—तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सूआ जेइ पन्थ दिखावा।
बिनु गुरु जगत का निरगुन पावा॥

२—मुहम्मद तेइ निश्चित पथ जेहि संग मुरसद पीर।
जेहि के नाव औ खेवक वेगि लाग सो तीर॥

हम देखते हैं कि जायसी भी उसी भाँति गुरु के परम उपासक दीखते हैं जैसा कि हम कबीर को पाते हैं इसी भाँति हम सूर तथा तुलसी में भी देखते हैं—

देखिए—वन्दो गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुञ्ज जासु वचन रवि कर निकरि॥
(तुलसी)

तथा—"वन्दो गुरु पद पद्म परागा।"

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के आरम्भ में गुरु महिमा का खूब वर्णन किया है। कृष्ण-भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास जी ने भी गुरु की महिमा का वर्णन "सूरसागर" में किया है देखिये :—

"वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अँधेरो। और
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो॥

था। क्योंकि उसमें उच्च वर्ग तथा शिक्षित लोगों के लिए ऐसी कोई नवीन बात न थी जो उनको आकर्षित कर सकती। इसलिए सूर ने जनता का दुख दूर करने के लिए तथा भक्ति की ओर अग्रसर करने के लिए कृष्ण का लोक रंजन-कारी रूप उपस्थित किया जिसमें जनता को नवीनता तथा आकर्षण मिला। दूसरी ओर तुलसी ने आर्य सभ्यता को जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिस पर आर्य अभिमान करते थे। इसलिए यदि हम कहीं-कहीं पर निर्गुण भक्ति का खंडन पाते हैं जैसा कि सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास आदि में मिलता है-वह वास्तव में ज्ञान का विरोध नहीं केवल भक्ति विरोधी ज्ञान का खण्डन किया गया है। जैसे—

मधुकर कान्ह कही नहिं होही।
नागरमनि जे सोभा सागर जग जुवती हँसि मोही।
लियो रूप दे ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही।।
है निरगुन कुबरी सरिबरि अग घटी करी हम जोही।
सूर सामगरि जाग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही।।

४—अहंकार का त्याग—अहंकार का त्याग भक्ति का दूसरा रूप माना गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में अहंकार विद्यमान रहेगा तब तक उसे सच्ची भक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। जैसा कि हम कबीरदास के एक दोहे में देखते हैं।

जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाहिं।।

इसमें आप देख सकते हैं कि "मैं" शब्द अहंकार का प्रतीक माना गया है। जब तक कबीर दास में अहम् भाव था तब तक गुरु भक्ति प्राप्त न कर सके। और जब उनमें "मैं" की भावना निकल गई तभी गुरु भक्ति प्राप्त हो गई।

भक्त चाहे निर्गुणवादी हो चाहे सगुण वादी उसे अभिमान अवश्य त्यागना पड़ता है। बिना उसके त्यागे उसे भक्ति नहीं मिल सकती। जब हम सूर तथा तुलसी के काव्य का अध्ययन करते हैं तब हम उनको भगवान के प्रति कहते पाते हैं कि "प्रभू हौं सब पतितन को टीको" "प्रभु अबकी राखि लेउ लाज

हमारी" इसके द्वारा हमको पता चलता है कि उन्होंने भगवान के सामने अपने को कितना नीच पापी, कुटिल तथा कामी समझा है। यह उनके हृदय की निष्कपटता तथा सच्ची भावना का उदाहरण है।

इसी प्रकार की कई भावनाएँ हैं जो प्रायः चारो सम्प्रदाय के संत तथा भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं।

—:-*-:—

भक्तिकाल-हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग

डा० श्यामसुन्दरदासजी अपने 'हिन्दी साहित्य' में लिखते हैं कि "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः—भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।"

वास्तव में भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग ही था। "हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी-भारती के कंठमाल हैं।"

भक्तिकाल का काव्य कुछ ऐसी विशेषताएँ रखता है जो अन्य कालों की काव्य-धारा में उपलब्ध नहीं होती। भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। जब मुसलमानों का राज्य उत्तरी-भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और मुसलमानी धर्म के आक्रमण हिन्दू धर्म पर हो रहे थे, तब भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा भक्ति काव्य द्वारा ही हुई। भक्ति काव्य में ऐसी धार्मिक

भावनाओं की, उद्भावना हुई जिनका मुसलमानी धर्म से कोई विरोध न था तथा उनमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों का भी समावेश था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काव्य में जहाँ भारतीय रक्षा का नाम दीख पड़ता है वहाँ हिन्दू और मुसलमानी धर्म के समन्वय की भी भावना मिलती है। यह समन्वय केवल धार्मिक क्षेत्र में ही उपलब्ध नहीं होता है, वरन् अन्य प्रमुख क्षेत्रों में भी। भक्तिकाल के इसी समन्वयवाद के आधार पर बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने हिन्दी साहित्य में लिखा है "हिन्दी की चरम उन्नति का काव्य भक्ति-काव्य का काल है, जिससे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।"

भक्ति काव्य की एक दूसरी विशेषता ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहाँ उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। उसकी 'आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्रोत रस है उसका शरीर मानवी है। नवधा भक्ति के प्रत्येक प्रकारों का विवेचन इस काव्य में मिलता है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता के साथ कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य की अंतर्प्रकृति का और उसके स्वभाव का जितना सुन्दर चित्रण मानस में मिलता है, वह गौरव योग्य है। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में अन्यत्र मुश्किल से मिलेंगे।

इस काल में इन सब विशेषताओं के पाए जाने का एक निश्चित कारण है। इस युग की कविता राज्याश्रित न रहकर या तो स्वान्तः सुखाय लिखी गयी अथवा लोक हिताय। इस काल के कविगण राज्याश्रय की चिन्ता नहीं करते थे। कुम्भन दास का 'सन्तन कहा सीकरी सों काम' उस समय की विचार धारा का द्योतक है। भक्तिकाल के कवियों ने अपने काव्य में अपने हृदय का रस घोला और अपने मन की इच्छानुसार गाया। उनकी वाणी उनके हृदय की वाणी है। वास्तव में कला वही है जो बाहरी प्रलोभनों एवं दबावों से मुक्त हो।

हिन्दी का भक्ति-काव्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे तथापि सब का जीवन से सम्बन्ध था। निर्गुणवाद भी लोक पक्ष युक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है। जायसी ने लौकिक कहानियों को आध्यात्मिक महत्व देकर लोक-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। इसी प्रकार सूर ने कृष्ण की बाल्य और यौवनकाल की लोकरंजिनी लीलाओं का वर्णन करके जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन किया। सूर ने वास्तव में इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की सृष्टि कर दी है। जिस प्रकार सूर ने जीवन के सौन्दर्य पक्ष की झाँकी दिखाकर मरणोन्मुख हिन्दू जाति की जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है, उसी प्रकार तुलसी ने उसके उत्थान की ओर प्रयत्न किया।

भक्त काव्य में एक बड़ी बात यह है कि इस काव्य से हृदय, मन और आत्मा तीनों आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति होती है। हृदय और मन के लिए तो उच्च-कोटि का काव्य-सौन्दर्य और धार्मिक भावनाएँ ही पर्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा की तुष्टि के लिए दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भरी पड़ी हुई है। इतिहास साक्षी है कि यह काव्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रकट करता रहा और अध्यात्म साधकों की भूख मिटाता रहा है।

भक्ति-काव्य में जो शील और सदाचार की अभिव्यक्ति हुई है वह भी अपनी विशेषता रखती है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि भक्ति का पहला सोपान शील और सदाचार का संग्रह है। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह श्रेष्ठ वैयक्तिक और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्ततः भगवद् कृपा का अधिकारी बने। तुलसी की भाँति वह सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ॥
यथा-लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत, निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत-मान, समशीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।

परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगों।

इस शील और सदाचार की साधना में अन्य अनेक सामाजिक गुण आप ही आप प्राप्त हो जाते हैं।

भक्तिकाल की सबसे बड़ी और अन्तिम विशेषता यह है कि यद्यपि उसमें भक्ति की चार प्रमुख शाखाएँ—निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी शाखा, निर्गुण मत की प्रेममार्गी शाखा, सगुण भक्तों की राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा—थीं, तथापि उनमें कुछ ऐसी समान भावनाएँ पाई जाती हैं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती हैं। यह विशेषता अन्य कालों में नहीं मिलती। उदाहरण के लिए आधुनिक युग नाना वादों में इतनी विभिन्नता और विषमता है कि उनमें कोई समान भावना नहीं मिल सकती। भक्ति काल की समान भावनाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) नाम की महत्ता।
(२) गुरु की मान्यता।
(३) भक्ति भावना का प्राधान्य।
(४) अहंकार का त्याग।
(५) शील और सदाचार की ओर प्रवृत्ति।

उक्त सब बातें प्रत्येक शाखा के काव्य में समान रूप से पाई जाती हैं।

सारांश यह है कि इन विशेषताओं के कारण जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है; भक्तिकाल का काव्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है तथा भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाने का अधिकारी है।

—:-*-:—

भक्तिकाल की समन्वय की भावना

भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थिति समन्वय की भावना है। यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल उसी के आधार पर हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का काव्य संसार के किसी काल के साहित्य के आगे अपना मस्तक ऊँचा उठा सकता है। यह समन्वय हमें जीवन के प्रायः सभी क्षेत्र

में—क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या दार्शनिक—उपलब्ध होता है। धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का समन्वय बड़ा प्रसिद्ध है। भक्तिकाल में जो सामाजिक अव्यवस्था फैली हुई थी, उसके भिन्न-भिन्न सूत्रों का समन्वय करना भक्ति-काव्य के सामाजिक समन्वय का सबसे बड़ा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का जो भक्ति काव्य में समन्वय दिखाई पड़ता है वह दार्शनिक समन्वय के अन्तर्गत जाता है। अब हम पहले धार्मिक क्षेत्र में जो ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय हुआ उसका विवेचन करेंगे।

आचार्य शुक्ल के अनुसार "धर्म का प्रभाव कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अन्धा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन एवं निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की सम्पत्ति होती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय वांछनीय ही नहीं वरन् एक परमावश्यक तत्व है। भक्ति काल के कवियों का इस समन्वय की ओर ध्यान गया, जो उनके काव्यों से प्रकट है। इस समन्वय का विशेष कारण यही है कि भक्ति-काव्य के युग में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो कवियों को इस धार्मिक समन्वय की ओर स्वभाविक रूप से ढकेल रहीं थीं। भक्तिकाल से पूर्व ज्ञान, भक्ति और कर्म अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते थे। इस धार्मिक असमबद्धता के कारण देश में जो अव्यवस्था फैली हुई थी उसको दूर करने का प्रयत्न भक्त कवियों ने किया। भक्तिकाल में यद्यपि अनेक सम्प्रदाय थे तथापि सभी में इस धार्मिक समन्वय की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। निर्गुण-सम्प्रदाय में यद्यपि भगवान के निर्गुण स्वरूप की उपासना का प्रतिपादन किया गया है जो कि ज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखता है, तथापि भक्ति की ओर भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसमें जो भक्ति का निर्देश है वह निर्गुण-भक्ति के सिद्धान्तों पर आश्रित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण सम्प्रदाय में भी ज्ञान के साथ भक्ति को भी स्थान दिया गया है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है:—

"श्री रघुनाथ-भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार ॥"

सूफी कवियों के काव्यों में जो प्रेम की व्याख्या हुई है, वह भी ही स्वरूप है। सगुण सम्प्रदायवालों ने भी ज्ञान का विरोध नहीं इतना अवश्य है कि उन्होंने भक्ति-विरोधी-ज्ञान का खण्डन अनेक किया है। सगुणोपासक तुलसीदास ने एक स्थल पर ज्ञान को और अभेद बतलाते हुए लिखा है :—

"ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा।

साध्य की एकता से भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं। इस तुलसीदास इस प्रकार कहते हैं :—

"उभय हरहि भव संभव खेदा।

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यन्त गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति गोस्वामीजी ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं:—

ग्यान विराग जोग बिग्याना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजान
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानहि सब को
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि ! यह रीति अनूप

जहाँ तक भक्ति और ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ तक तो सभी भक्त समन्वयवादी ठहरते हैं, किन्तु कर्म का सुन्दर समन्वय तो रामभक्ति शाखा हुआ है। रामभक्ति शाखा में ही भक्ति सर्वाङ्गपूर्ण रही। तुलसी की पद्धति में कर्म और ज्ञान का पूरा समन्वय और सामंजस्य रहा।

अब हमें भक्ति काल के सामाजिक समन्वय का भी विवेचन कर चाहिये। भक्तिकाल के सामाजिक समन्वय का रूप विशेषतः निर्गुण शाखा कवियों की कविताओं में ही प्रस्फुटित हुआ। इसका विशेष कारण यह है निर्गुण मत का आविर्भाव ही ऐसी परिस्थितियों में हुआ जिनमें समन्वय की अ अधिक आवश्यकता थी। निर्गुण सन्तों ने हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परि विद्वेष दूर करने के लिए एक सामान्य सामाजिक व्यवस्था की उद्भावना की इस सामाजिक व्यवस्था के मुख्य प्रवर्तक कबीर थे। उन्होंने जीवन-भर हिन्दु और मुसलमानों की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्हों

निष्पक्ष होकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को उनकी विचित्र सामाजिक अव्यवस्था और कुप्रथाओं के लिए फटकारा।

वे निर्भीक वक्ता थे। वे दोनों धर्मों के वाह्याडम्बर की पोल खोल कर उनको धर्म का असली रूप सिखाना चाहते थे।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करें बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी वेटी व्याहैं घरहिं में करिहिं सगाई॥

कबीर ने सब में एक परमात्मा के दर्शन करके ब्राह्मण और शूद्रों में भी साम्य भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है :—

"गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए बाह्मन शुद्रा॥

अब भक्ति काव्य के दार्शनिक समन्वय की ओर भी दृष्टिपात कीजिए। भक्ति काव्य में जो दार्शनिक समन्वय हुआ है वह अपनी विशेषता रखता है। यद्यपि भक्ति काल में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का प्रचार था तथापि उन सब का समन्वय भक्त-कवियों द्वारा बड़ी सफलता के साथ हुआ है इसका विशेष कारण यही है कि भक्तिकाल के प्रत्येक दार्शनिक आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्राचीन ग्रंथों का सहारा लेना पड़ता था। मतवाद की पुष्टि के समान अधिकरण होने के कारण सभी दार्शनिक आचार्यों की चिन्ताओं में साम्य की भावना दीखती है। तुलसीदास में दार्शनिक समन्वय की भावना अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक प्रतिफलित हुई है। वे यद्यपि रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में से थे तथापि शंकर के अद्वैतवाद की भी उनके काव्य में पूरी-पूरी झलक मिलती है।

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन, अमल, सहज सुखराशी॥"

यह उनके विशिष्टाद्वैतवादी होने का द्योतक है। किन्तु तुलसीदास ने परमार्थ दृष्टि से अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म और जीव को भेद

दिखाई पड़ता है, वह अद्वैतवाद के अनुसार मायाजन्य है। जीवात्मा माया के वश में होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूला रहता है। यह बन्धन यद्यपि मिथ्या है तथापि वह कठिनाई से छूटता है। तुलसीदास ने इस मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है :—

सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउँ कीर मर्कट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई।

× × × ×

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाय न कोटि उपाया।

सारांस यह है कि भक्तिकाल में धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक भावनाओं का अपूर्व समन्वय उपलब्ध होता है। यह समन्वय तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल था तथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व रखता है।

निर्गुण सन्तों की परम्परा

कुछ कवियों ने तथा सन्तों ने ईश्वर की सत्ता निराकार रूप में ही मानकर उपासना की है। उनके चिन्तन में सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण भक्ति और ज्ञान का ही प्राधान्य था। इसी कारण से उनकी काव्य परम्परा 'निर्गुण-धारा' कहलायी। इस धारा की दो शाखाएँ—ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी प्रचलित हुईं। निर्गुण मत की प्रेममार्गी शाखा पर मुसलमानी धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ज्ञानश्रयी शाखा के कवि भी इस प्रभाव से वञ्चित न रहे। निर्गुण-काव्यधारा के प्रवर्त्तक महात्मा कबीरदास और प्रेममार्गी शाखा के प्रवर्त्तक मलिक मोहम्मद जायसी हुए।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि और सन्तों की रचनाएँ काव्य-कौशल की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती हैं, वरन् उनका महत्व ऐतिहासिक है। इस शाखा के कवि सन्त कवि कहलाते हैं। सन्त काव्य का प्रारम्भ कब हुआ, यह अनिश्चित है। संत काव्य की परम्परा में सर्व प्रथम जयदेव के कुछ पद आते हैं। परन्तु उनसे सन्त काव्य का आरम्भ मानना ठीक नहीं है क्योंकि उस समय मुसलमानों

को आए अधिक समय नहीं हुआ था, और उस समय हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयत्न का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस समय जो काव्य धारा प्रचलित थी उस पर प्रायः हठयोगियों का प्रभाव है। हठयोगियों की रचनाओं का इस समय में बहुत बाहुल्य था।

इसके बाद बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रामानन्द का समय आता है। उनके दो पद 'ग्रन्थ साहब' में मिलते हैं, जिनमें एक पद निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आता है। यह स्पष्ट है कि इस समय तक संतमत का कोई विशिष्ट रूप नहीं था और उनका साहित्य भी थोड़ा था। रामानन्द के शिष्यों ने उसे विशिष्ट रूप दिया और उसमें बृहत् साहित्य का सृजन किया। इनमें धन्ना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। धन्ना और पीपा के बहुत थोड़े पद ग्रन्थ साहब में मिलते हैं। रैदास के भी दो प्रधान ग्रन्थ हैं, रविदास की बानी और रविदास के पद। इनकी कविता बहुत सरल और साधारण है और उसमें उस समय की भाषा का प्रचलित रूप दिखलाई पड़ता है। उसमें फारसी और अरबी शब्दों का भी बाहुल्यता से प्रयोग हुआ है। इसके बाद हम कबीरदास के साहित्य पर आते हैं।

कबीरदास संत-मत के प्रवर्त्तक और सर्व श्रेष्ट कवि हैं, आपकी बहुत सी रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं का रूप मौखिक था, अतः अब जो उनकी रचनाएँ मिलती हैं उनके बारे में ठीक नहीं कहा जा सकता कि उनमें कितना प्रक्षिप्त अंश है। कबीरदास ने निर्गुण मत के प्रचार के लिए बहुत भ्रमण किया अतः उनकी भाषा खिचड़ी या सुधक्कड़ी हो गई है और स्वभावतः उनकी मूल भाषा को कई प्रान्तों की भाषा ने ढक लिया है। इन सब कारणों से कबीर की भाषा अत्यन्त अनिश्चित है। यद्यपि उनके विचार इतने नवीन थे कि उनके शिष्य मूलतः बदल नहीं सकते थे, तथापि उनमें कदाचित कुछ विचार उनके शिष्यों ने भी जोड़ दिये हैं, ऐसा उनकी रचनाओं से स्पष्ट झलकता है। इस प्रकार हम कबीर के साहित्य सम्बन्ध में बहुत प्रमाणिक मत उपस्थित नहीं कर सकते।

कबीर का मुख्य विषय ज्ञानपूर्ण भक्ति है। यह भक्ति निर्गुण सत्ता के प्रति है, जिन्हें कबीर साहब, राम, सत्य पुरुष, अलख निरंजन, स्वामी और शून्य आदि नामों से पुकारते हैं। कबीर की इस भक्ति को हम ज्ञानाश्रयी भक्ति अथवा

दिखाई पड़ता है, वह अद्वैतवाद के अनुसार मायाजन्य है। जीवात्मा माया के वश में होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूला रहता है। यह बन्धन यद्यपि मिथ्या है तथापि वह कठिनाई से छूटता है। तुलसीदास ने इस मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है :—

सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउँ कीर मर्कट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई।

× × × ×

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाय न कोटि उपाया।

सारांस यह है कि भक्तिकाल में धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक भावनाओं का अपूर्व समन्वय उपलब्ध होता है। यह समन्वय तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल था तथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व रखता है।

निर्गुण सन्तों की परम्परा

कुछ कवियों ने तथा सन्तों ने ईश्वर की सत्ता निराकार रूप में ही मानकर उपासना की है। उनके चिन्तन में सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण भक्ति और ज्ञान का ही प्राधान्य था। इसी कारण से उनकी काव्य परम्परा 'निर्गुण-धारा' कहलायी। इस धारा की दो शाखाएँ—ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी प्रचलित हुईं। निर्गुण मत की प्रेममार्गी शाखा पर मुसलमानी धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ज्ञानश्रयी शाखा के कवि भी इस प्रभाव से वञ्चित न रहे। निर्गुण-काव्यधारा के प्रवर्त्तक महात्मा कबीरदास और प्रेममार्गी शाखा के प्रवर्त्तक मलिक मोहम्मद जायसी हुए।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि और सन्तों की रचनाएँ काव्य-कौशल की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती हैं, वरन् उनका महत्व ऐतिहासिक है। इस शाखा के कवि सन्त कवि कहलाते हैं। सन्त काव्य का प्रारम्भ कब हुआ, यह अनिश्चित है। संत काव्य की परम्परा में सर्व प्रथम जयदेव के कुछ पद आते हैं। परन्तु उनसे सन्त काव्य का आरम्भ मानना ठीक नहीं है क्योंकि उस समय मुसलमानों

ज्ञान मूलक भक्ति इसीलिए कहते हैं, क्योंकि ये ज्ञान पर आधारित है। आलम्बन के निर्गुण तथा निराकार होने के कारण कबीर की भक्ति में रहस्य का पुट आ गया है। यह रहस्यवाद मूलतः भारतीय है, यद्यपि कहीं-कहीं उस पर प्रेममार्गी सूफियों के रहस्यवाद की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आत्मा परमात्मा का अंश है, किन्तु इस संसार में वह विरहिणी के रूप में वर्तमान है। संसारिकता ने उसको संकुचित कर दिया है जिसके कारण वह अपने सत्य स्वरूप को भूल गयी है। भक्ति और ज्ञान की साधना से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। यह एक प्रकार का अन्तःमिलन है। निर्गुण भक्तों का यही लक्ष्य है और उनकी कविता में आत्मा की परमात्मा से इस मिलनाकांक्षा की तीव्रता और मिलनान्द के सुन्दर चित्रण मिलते हैं।

कबीर ने अपने समय की सामाजिक अवस्था में सुधार करने का बड़ा प्रयत्न किया। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करते समय हम इसकी पूर्ण विवेचना करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि उन्होंने अपने समय के धार्मिक पाखंडों का खंडन किया है और हिन्दू-मुस्लिम द्वेष और जाति-पाँति के भेद-भाव की असभ्यता और कृत्रिमता का प्रदर्शन किया है। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से अपने समय की समस्याओं को समझने और सामाजिक विषमताओं को सुधारने का प्रयत्न किया है। कबीर की कविता कविता के लिए न होकर प्रचार के लिए थी, अतएव उसमें काव्य गुणों को खोजना व्यर्थ है। कबीर तो संत और उपदेशक थे, उनके लिए साहित्य-रचना का उद्देश्य गौण था।

कबीर के बाद संत-साहित्य-रचना की परम्परा चलाने वालों में धर्मदास का नाम आता है। धर्मदास का साहित्य कबीर के साहित्य के सम्मुख तुच्छ है। फिर भी वह अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। उनके काव्य के विषय प्रायः वही थे जो कबीर के थे। इनकी भाषा में कबीर की भाषा की तरह विचित्रता के अभाव में पूर्वी हिन्दी की छाप है। धरमदास के बाद सिक्ख गुरु नानक ने निर्गुण-संत मत की परम्परा के विकास में योग दिया। आपकी रचनाओं में एकेश्वरवाद पर अधिक जोर दिया गया है, तथा हिन्दू-मुस्लिम भिन्नता और मूर्ति पूजा का विरोध है। आप कबीर की भाँति कट्टर नहीं थे।

इन के बाद शेख इब्राहीम का नाम आता है। इनके पद फरीदसानी के नाम से ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं।

मलूकदास का प्रादुर्भाव जिस समय हुआ उस समय संत-काव्य-परम्परा पर सगुण धारा का प्रभाव पड़ने लगा था। कबीर की उच्च भाव भूमि तक सभी का उठना कठिन था। अतः कबीर के निर्गुण राम को धीरे-धीरे संतमत वाले भी सगुण रूप में ग्रहण करने लगे। मूलकदास की रामावतार लीला (रामायण) इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मूलकदास के बाद दादूदयाल ने संत साहित्य-प्रवर्द्धन में हाथ बटाया। संत-काव्य धारा के आप कबीर के बाद दूसरे महान कवि हैं। आपकी रचनाएँ भी बहुत हैं। इन्होंने संतमत के परिचित सभी विषयों पर रचनाएँ कीं। इनकी कविता पर सूफियत का प्रभाव अधिक पड़ा है। इसका कारण यह है कि इनके गुरु कमाल पश्चिमी भारत के सूफियों के सम्पर्क में अधिक रहे हैं। दादू के साहित्य पर कबीर के साहित्य की पूरी पूरी छाप है। इनकी भाषा मारवाड़ी और कहीं-कहीं गुजराती मिश्रत पच्छिमी हिन्दी है। दादू की रचनाओं में काव्य गुणों का भी अच्छा विकास हुआ है क्योंकि वे कबीर की भाँति सुधारक नहीं थे। उन्होंने भगवान को इस तीव्र व्यक्तिगत भक्ति भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम-मिलन और विरह का चित्रण अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक हुआ है। दादू के ऐसे पदों में सगुण भक्त कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं वही तन्मयता वही सरलता और वही तीव्रभक्ति। कबीर ने दादू के लिए मार्ग साफ कर दिया था, जिसके कारण उन्हें अधिक विरोध नहीं सहना पड़ा।

दादू के अतिरिक्त वीरभानु, लालदास, हरिदास आदि संत कवियों ने संत काव्य का प्रवर्द्धन किया। इसी समय के अन्य संतों में शिवरानी, हरिराय पुरी, जदु, प्रतापमल, आजाहद और मिहिरचक्र आदि मुख्य हैं। संतों की यह परंपरा आधुनिक काल तक बराबर चली आ रही है और आज भी अनेक निर्गुण संप्रदाय और उसके पोषक कवि वर्तमान हैं, पर उनका काव्य अनुकरण होने के कारण महत्व-हीन है। मध्ययुग की समाप्ति के साथ ही संत-काव्य की प्रगतिशीलता जाती रही, अब वह परम्परा बद्ध होकर निष्प्राण हो गया है।

निर्गुण सन्त-मत

सन्त-मत का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। देश की विचित्र परिस्थितियों ने इस मत को जन्म दिया। संतों ने इन विचित्र परिस्थितियों का पूर्ण सामंजस्य करके देश का बड़ा उपकार किया। सन्तों ने उस सामान्य भक्ति-मार्ग की स्थापना की, जो कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच समान रूप से रखा जा सकता था। सन्त मत में केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म का ही समन्वय नहीं हुआ, वरन् गोरखपन्थियों के हठयोग, वेदांतियों के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद का भी सुन्दर और सफल समन्वय हुआ है। उसमें सामाजिक समन्वय का भी विशेष महत्व है। इस प्रकार के समन्वय द्वारा सन्त मत ने हिंदी साहित्य और हिन्दी भाषी प्रदेश दोनों को गौरवान्वित किया है। इसी कारण सन्त-मत के सिद्धान्तों का अध्ययन हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सन्त लोग निर्गुणवादी होने के कारण प्रायः नाम की उपासना करते थे। ये लोग रूढ़िवाद और मिथ्या आडम्बर के विरोधी थे। गुरु को करीब-करीब ईश्वर के समान महत्ता देते थे,। 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के अनुसार इसके मत में जाति-पाँति का कोई महत्व नहीं था। ये लोग साधारण धर्म तो मानते थे, किन्तु साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। वैयक्तिक साधना पर इन लोगों ने विशेष जोर दिया है।

कबीर इस मत के प्रवर्त्तक थे तथा नानक, रैदास, दादूदयाल, मलूकदास आदि इसे बढ़ाने वाले हैं। सन्त मत के सिद्धान्तों का हम नीचे संक्षेप में विवेचन करेंगे।

(१) ईश्वर—सन्त मत वाले एकेश्वरवादी हैं। ये निराकार रूप की उपासना करने वाले हैं। उनका ईश्वर ऐसा है जो मुसलमान और हिन्दू धर्म में समान रूप से ग्राह्य है। वह संसार के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त, ज्योति-स्वरूप, अलख और निरंजन है। उसकी प्राप्ति योग और निर्गुण भक्ति से जिसमें ज्ञान

का प्राधान्य है, सम्भव है। ऐसे ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे संत मत वालों ने ईश्वर के समान ही महत्व दिया है।

(२) मायाः—सत्पुरुष से उत्पन्न माया ही सृष्टि की सृजन शक्ति है। यह सत्य भी है और मिथ्या भी, "माया के दुइ रूप हैं सत्य मिथ्या संसार" संसार को भ्रम में डालने वाली मिथ्या माया का ही कबीर ने अधिक वर्णन किया है।

(३) हठयोगः—हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक ब्रह्म से मिलन है। यह मिलन शरीर के अंगों तथा श्वांस पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए आत्मा को समाधिस्थ हो जाने पर होता है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ही ब्रह्म की अनुभूति प्राप्ति करना हठयोग का आदर्श है। गोरखनाथ द्वारा चलाए हुए इस हठयोग का कबीर व अन्य कुछ निर्गुण संतों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी हठयोग को कबीर ने ईश्वर प्राप्ति का एक साधन माना है।

(४) सूफीमतः—सूफीमत का भी संत मत पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध जो सूफीमत वाले मानते हैं, प्रायः वही सन्त मत वाले। सूफीमत के अनुसार आत्मा परमात्मा के एकीकरण में शैतान बाधा डालता है और निर्गुण मत के अनुसार माया। खुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी आत्मा का परिष्कार करना पड़ता है। उसके लिए शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत—चार दशाएँ मानी गई हैं। इसी मत का प्रभाव यत्र-तत्र सन्त मत की रचनाओं में दृष्टि गोचर होता है।

(५) रहस्यवाद—कबीर का रहस्यवाद अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से बना है। इसमें आत्मा को स्त्री रूप में और परमात्मा को पुरुष रूप में मानकर दोनों का मिलन कराया है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती तब तक आत्मा विरहणी के समान दुःखी होती है। जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। कबीर के अतिरिक्त सन्त मत के अन्य कवियों ने भी इसी रहस्यवाद पर लिखा है, पर उनमें अनुभूति की तीव्रता का अभाव है।

६—रूपक—सन्तों ने अपने गूढ़ और गम्भीर भावों को रूपक द्वारा प्रकट किया है। कहीं-कहीं ये रूपक बहुत ही अस्पष्ट हो गये हैं। कबीर ने भी इन रूपकों को विशेष कर दो रूपों में बाँधा है। एक उल्टबाँसी के रूप में तथा दूसरे आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि के लिये। इन दोनों का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। इन रूपकों के सम्बन्ध में एक बात उल्लेख योग्य है, वह यह है कि ये भावना की अभिव्यक्ति में सहायक नहीं होते हैं।

सन्त मत के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करने के पश्चात् अब हम उसके आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक आदर्शों का भी उल्लेख करेंगे।

पहले आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को ही लीजिए। सन्त मत में आत्मशुद्धि का बड़ा महत्व था। वास्तव में हठयोग, वैष्णव भक्ति और सूफी इन तीनों भाव-धाराओं में आत्म-शुद्धि की प्रधानता थी और नैतिक आदर्श बहुत कुछ एक से थे केवल उनके प्राप्ति की विधि में अन्तर था। सन्त मत के आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श इस प्रकार थे—

१—आत्म-संयम—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और अहन्ता का त्याग (वासनाओं की बलि)।

२—अपरिग्रह—सांसारिक पदार्थों के संग्रह का परित्याग।

३—इंद्रिय-संयम—निद्रा, स्वादिष्ट, आहार, मांसाहार, मादक वस्तु आदि का त्याग, (कामिनी-त्याग)।

४—मानसिक संयम—कपट, आशा, तृष्णा, निन्दा और मन की चंचलता का त्याग।

५—आचार और व्यवहार-सम्बन्धी संयम—कुसंग-त्याग, दुर्जन संग-त्याग, तीर्थ व्रत में आस्था का त्याग, अन्य देवता की पूजा का त्याग तथा वेश-भूषा सम्बन्धी आडम्बर का त्याग। इस निषेधात्मक आत्मनिग्रह के अतिरिक्त सन्त के कुछ विधेयात्मक कर्म भी निर्धारित थे।

अब हम सन्त मत के सामाजिक आदर्शों का विवेचन करेंगे। सन्तों की साधना केवल वैयक्तिक और एकान्तिक साधना नहीं थी। वह समाज को बराबर दृष्टि में रखकर चलती थी। समदृष्टि, भेद-भाव का नाश और एकता का

प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे। सन्तों के लिए ब्राह्मण अब्राह्मण और हिन्दू मुसलमान सब बराबर थे। मुसलमानों के प्रवेश ने हिन्दू समाज के लिए कई समस्यायें उत्पन्न कर दी थीं। उनके आक्रमण से बहुत पहले ही हिन्दू समाज-संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा था। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने उसका टिकना कठिन था। वर्ण-विभाजन ने वर्ग-वर्ग में असन्तोष पैदा कर रक्खा था। नीच वर्ण के लोग क्षुब्ध हो उठे थे। सन्तों ने इस संस्था का समूल नाश करना चाहा। चाहे संस्कृत की दृष्टि से यह हेय हो किन्तु तत्कालीन परिस्थिति के कारण यह आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने हीन वर्णों को उच्च वर्णों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। उच्च वर्णों ने निम्न वर्ग के भक्तों को तो अपना लिया, परन्तु जहाँ पूरी जाति का प्रश्न रहा वहाँ वे किसी प्रकार भी अपने दृष्टिकोण को व्यापक न बना सके।



निर्गुण सन्तों की कविता की प्रवृत्तियां

है। उनकी एक ही शैली में रचना न होकर अनेक प्रकार की शैलियों में हुई है। उनका स्वरूप कहीं दोहों, कहीं पदों और कहीं कवित्त-सवैयों में प्रस्फुटित हुआ है।

संक्षेप में सन्तसाहित्य की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

(१) निर्गुण की उपासना—सन्त काव्य धारा की मूल भावना निर्गुण की उपासना है। सन्त कवियों ने भगवान के सगुण और निर्गुण दो रूपों में से निर्गुण का ही निर्वाचन किया। उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है वही प्रत्येक की साँस में है। वह वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य ही है। कबीर ने कहा भी है :—

पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥

सन्त काव्य में ऐसे ही निर्गुण की साधना की गई है।

(२) रूढ़िवाद और मिथ्याडम्बर का विरोध - सन्त कवियों ने पुरानी रूढ़ियों और मिथ्या आडम्बरों का घोर विरोध किया है। इसका विशेष कारण यह है, कि सन्त मत वज्रयानी सिद्धों और हठयोगियों के सिद्धान्तों से काफी प्रभावित है। इन सिद्धों और योगियों ने व्यर्थ के सामाजिक बन्धनों और आडम्बरों की कटु आलोचना की थी। यही परम्परा सन्तों में भी मिलती है। कबीर ने तिलक-छाप, माला, रोजा-नमाज, योग की क्रियाएँ आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालों को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ़ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव है। देखिये :—

दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलैं
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होय गैलैं बकरा।
जंगल जाय जाय जोगी धुनिया रमालैं
काम जराय जोगी बन गैलैं हिजरा।

(३) गुरु की महत्ता—संत कवियों ने गुरु को ईश्वर के बराबर माना है। संत काव्य में गुरु के महत्व का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। कबीर ने तो गुरु को गोविंद से भी बढ़ कर माना है। देखिये:—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूं पाँय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया मिलाय।

(४) जाति-पाँति के भेदभाव का विरोध—संत कवि जाति पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद्भक्ति का सबको समान अधिकार था। "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" इस सिद्धान्त का द्योतक है। इसका विशेष कारण यही है कि संत लोग शास्त्रज्ञ विद्वान थे और अधिकतर नीच जाति के होते थे। इस प्रकार जाति-पाँति के खंडन तो स्वयं ही होते थे। कबीर स्वयं जुलाहा थे, रैदास चमार थे। इसके अतिरिक्त संतों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग की उद्भावना की थी अतएव यह आवश्यक था कि हिन्दू-धर्म से जाति-पाँति के भेद को दूर किया जाय, जिससे कि वह मुसलमानी धर्म के निकट आ जाय।

(५) वैयक्तिक साधना पर जोर—संतों ने वैयक्तिक साधना पर जोर दिया है। उन्होंने बाह्य साधना से ध्यान हटाकर वैयक्तिक और आन्तरिक साधना का ही प्रतिपादन किया है आत्म-शुद्धि संत मत का मूल सिद्धान्त है किन्तु यह वैयक्तिक साधना केवल एकांतिक नहीं है, वरन् समाज को भी दृष्टि में रखकर चली है। समदृष्टि, भेद-भाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे।

(६) साधारण धर्म का प्रतिपादन—सन्त कवि साधारण धर्म के मानने वाले थे, किन्तु उन्होंने साम्प्रदायिकता अथवा वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म का विरोध किया है। उन्होंने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया है, वह एक प्रकार से शुद्ध मानव धर्म ही है।

(७) भाषा की सरलता—संत कवियों ने सरल और आडम्बरहीन भाषा का प्रयोग किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इनकी भाषा में विभिन्न

प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का भी समावेश हो गया है। इसका कारण यह है कि संत कवि अपने मत के प्रचार के लिए भ्रमण किया करते थे, अतः उनकी भाषा पर अनेक प्रान्तों की भाषा की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इन्हीं सब कारणों से इनकी भाषा खिचड़ी या सधुक्कड़ी हो गई है। यह भाषा एक बेमेल खिचड़ी है, जिसमें अवधी. ब्रजभाषा खड़ी बोली, पूर्वी हिन्दी, फारसी, अरबी संस्कृत राजस्थानी तथा पंजाबी आदि भाषाओं के शब्द मिलते हैं।

(८) पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य—सन्त मत के कुछ पारिभाषिक शब्दों के विषय में विचार करना आवश्यक है। इससे संत-विचारावलि को ठीक-ठीक समझने में सुगमता होती है। सन्तों ने अपनी काव्य-साधना में सूफियों की बहुत सी बातें अपना लीं। इसी कारण उनके काव्य में सूफी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतंत्रता से प्रयोग में आते हैं। इन पारिभाषिक शब्दों में शून्य अनहद निर्गुण और सगुण का महत्व सर्वाधिक है शून्य की कल्पना बौद्धों मत की है।

हठयोगी साधु के लिये अवधूत शब्द का बराबर प्रयोग हुआ है। इन पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में एक विशेष बात ध्यान देने योग यह है कि इनसे काव्य-सौन्दर्य का ह्रास ही हुआ है। कविता का कार्य चित्र उपस्थित करना है वस्तु मात्र का बोध कराना विज्ञान का कार्य है। इन पारिभाषिक शब्दों से कोई चित्र उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत काव्य में कलात्मकता का अभाव है है सन्तों को अपने काव्य द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता मिली, यह भी विचरणीय है वे ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधनाओं का भली भाँति प्रकाशन करती हैं आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का संग्रह किया है, वे समाज के लिए उपादेय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत काव्य में बड़ी विचित्रता है। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त, वैष्णव भक्ति की भावना, औपनैषदिक निर्गुणवाद, बौद्ध

साधकों और नाथपन्थियों के पारमार्थिक शब्द और सूफी साधकों की साधना का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। इनके अतिरिक्त मुसलमान एकेश्वरवादी पैगम्बर-धर्म का मूर्ति खण्डन और एकेश्वरवाद और हिन्दू मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनका प्रभाव है। वास्तव में निर्गुण सन्त काव्य धारा अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें बहुत कुछ पुराना है परन्तु उस पुराने को नए रूप में प्रस्तुत किया गया है।

निर्गुण सन्त मत पर भिन्न-भिन्न प्रभाव

निर्गुण सन्त-मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और आचार्यों की छाप पड़ी हुई है। इसका विशेष कारण यही है कि संत-मत का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब कि समन्वय की बड़ी आवश्यकता थी। वह युग ऐसा था जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और आचार्यों के सिद्धान्तों का समन्वय अत्यन्त वांछनीय था। इन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सन्त-मत में बड़ा ही सुन्दर तथा सफल समन्वय हुआ है। सन्त-मत ने इन सब सम्प्रदायों की मुख्य-मुख्य तथा उपयोगी बातों को ग्रहण किया तथा अन्य सब बातों को छोड़ दिया। अब हम सन्त-मत पर जो विभिन्न-सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है उसका नीचे उल्लेख करेंगे। सन्त-मत पर जिन-जिन सम्प्रदायों ने प्रभाव डाला है वे निम्नलिखित हैं :—

अस्तित्व मिटे और न उसका मुसलमानी धर्म से ही कोई विरोध हो। इसके लिए सन्तों को कुछ मुसलमानी प्रभावों को भी ग्रहण करना पड़ा।

(आ) मूर्ति पूजा की उपेक्षा के कारण—मूर्ति पूजा आदि पूजा की विधियों और बाह्याडम्बरों का तिरस्कार सिद्धों और हठयोगियों दोनों ने किया। इन्हीं की परम्परा के कारण सन्त-मत में भी बाह्य-विधानों के प्रति घोर उपेक्षा बुद्धि का पूर्ण प्रचार था। मुसलमानों के कारण सन्तों की इस प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार सन्त-मत पर मुसलमानी प्रभाव मूर्ति पूजा के खण्डन के रूप में भी मिलता है।

(इ) सूफीमत के कारण—संत-मत पर मुसलमानी प्रभाव सूफी-मत के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। सूफी फकीर संतों से बहुत पहले भारतवर्ष में आकर बस गये थे इतिहास से इस बात का पता चलता है। अतः इन फकीरों का हिन्दू जनता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। संत-मत पर सूफी-मत के सिद्धान्तों का बड़ा गहरा प्रभाव है। सन्तों ने सूफियों से प्रेमवाद ग्रहण किया। वास्तव में इस प्रेमवाद का सन्त-मत में बड़ा विशेष महत्व है। यही नहीं वरन् इस प्रेमवाद के कारण सन्त-मत बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। इसका विशेष कारण यही है कि बिना प्रेम के सन्त-मत नाथ पन्थ की भाँति शुष्क रहता। इसी शुष्कता के कारण उसका भी जनता के हृदय से उसी प्रकार बहिष्कार होगा जैसा कि नाथ-पन्थ का हुआ। सूफियों के प्रेम-तत्व के ग्रहण से ही संत-मत में रमणीयता आ गई और जनता का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ।

२—सन्त-मत पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव—सन्त मत पर शंकर के अद्वैतवाद का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। शंकर के अद्वैतवाद में जो ईसा की ८ वीं सदी में प्रादुर्भूत हुआ, आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण ही परमात्मा में नाम और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानो आत्मा और परमात्मा की फिर एक बार सत्ता स्थापिता करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं, जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन पर माया

नष्ट हो जाता है तब दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है। सन्त मत के प्रवर्त्तक कबीर इस बात का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं :—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी॥

इसी अद्वैत भावना का संत मत पर प्रभाव पड़ा है।

३—रामानन्द का प्रभाव—सन्त मत पर स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तों की बड़ी गहरी छाप है। इसका विशेष कारण यही है कि सन्त मत के प्रवर्त्तक महात्मा कबीरदास जी रामानन्द जी के शिष्य थे। जैसा कि इन्होंने कहा है—"काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये"। रामानुज का विशिष्टाद्वैत जिसमें विष्णु और लक्ष्मी की उपासना की प्रतिष्ठा थी और मूर्ति पूजा, आचार आदि को स्वीकार किया गया था। रामानन्द भी इसी सम्प्रदाय के थे परन्तु उन्होंने आचार शासन को ढीला कर दिया था उन्होंने उपासना के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा की। लक्ष्मी-विष्णु के स्थान पर राम सीता को आलम्बन बनाया। परन्तु रामानन्द स्वतन्त्र चित्त थे। उन्होंने अपने शिष्यों को मुक्त छोड़ दिया कि वे राम को चाहे जिस रूप में स्वीकार करें। रामानन्द के प्रभाव के कारण सन्त मत में उपासना के क्षेत्र में एक प्रकार की स्वतन्त्रता सी आ गई है। इसी कारण कबीर ने राम को ऐसे रूप में स्वीकार किया जिसका निर्देश न तो रामानुजाचार्य की परम्परा में मिलता है और न जिस पर स्वामी रामानन्द ने ही प्रकाश डाला था। सन्त मत वालों पर रामानन्द का प्रभाव सबसे अधिक इस बात में पड़ा कि उन्होंने अपने मत में मांस-भक्षण निषेध, जीवों पर दया आदि को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

४—सन्त मत पर वैष्णवों का प्रभाव—सन्त मत पर वैष्णव भावनाओं का भी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वैष्णव-भावना की सब से महत्वपूर्ण बात व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना और उसकी भक्ति है। सन्त मत वाले निर्गुण के उपासक हैं, किन्तु अनेक पदों में उन्होंने इसी निर्गुण में व्यक्तिगत प्रेम का समन्वय जोड़ लिया है। कभी वे हरि को जननी कहते हैं, कभी अपने को राम की बहुरिया मानते हैं, परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं है। तुलसी की तरह सन्त मत के प्रवर्त्तक कबीर भी कहते हैं :—

जरि जाव ऐसा जीवनाँ राम सूँ प्रीति न होई।

वैष्णव धर्म वाले भक्ति को ही सब कुछ मानते हैं, यही उनके मत का सार है। कबीर भी यही मानते हैं। परन्तु इस भक्ति की प्राप्ति में माया बाधक है जो दो प्रकार की है। वैष्णव कवि तुलसी की तरह कबीर भी माया के दो रूप मानते हैं:—

माया है दुइ भाँति की, देखी ठोंक बजाय।
एक मिलावै नाम से, एक नरक लै जाय॥

वैष्णवों के अनुसार इस भक्ति की प्राप्ति के साधन—गुरु भक्ति और नाम कीर्तन है। सन्त मत वालों ने गुरु की भक्ति को बहुत महत्ता दी है। कबीर ने तो उसे गोविन्द से बढ़कर माना है। नाम कीर्तन की महत्ता का प्रतिपादन भी सन्त कवियों ने पर्याप्त किया है। वैष्णव भक्ति का दूसरा अंग इष्ट देव के प्रति रति की भावना है। संत मत वालों ने इसका वर्णन स्थान-स्थान पर रहस्यवाद की भावना के अन्तर्गत किया है। सन्त मत पर वैष्णवों के लोकवाद का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। सन्त मत में जो लोक भावना का प्राधान्य है वह उसकी वैष्णव भावना के ही फलस्वरूप है सन्तों में जो एकांतिक और वैयक्तिक साधना के साथ-साथ लोकोपकार की प्रवृत्ति मिलती है वह इसी का परिणाम है। संत मत वालों ने इसी प्रकार परम्परागत रूढ़िवाद पर आधारित लोक जीवन के खोखलेपन का निर्देशन किया है।

संत मत पर सिद्धों और हठयोगियों का प्रभाव—सन्तों पर सिद्धों और हठयोगियों का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। सब से बड़ी बात तो यह है कि सिद्धों और हठयोगियों दोनों ने बाह्य पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन इत्यादि की निस्सारता बताई और शास्त्रज्ञ विद्वानों को फटकारा। यही परम्परा आगे चलकर सन्तों ने भी अपने ढंग पर जारी रक्खी। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का सन्तों को मार्ग प्रदर्शित किया। उन्होंने सन्तों को घर के भीतर चक्र, नाड़ियाँ शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात और नाद, बिन्दु, सुरति, निरति ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया।

दूसरी बात भाषा सम्बन्धी है। सिद्धों की रचनाओं की भाषा देश भाषा का मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है, जो उस समय गुजरात, राजपूताने और व्रज मण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी, परन्तु मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य भाषा का ढाँचा शौरसैनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् व्रज और खड़ी बोली का था। इसी भाषा का विकसित स्वरूप सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा में मिलता है सिद्ध कन्हपा की रचना को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो एक बात दृष्टिगोचर होती है। वह यह है कि उनके उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी है, पर गीतों की भाषा पुरानी बिहारी या पूर्वी बोली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की व्रजभाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली भी है। सन्त मत पर सिद्धों की अपेक्षा हठयोगियों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

(३) हठयोगः—हठयोग का तात्पर्य बल पूर्वक ब्रह्म से मिलन है। यह मिलन शरीर के अंगों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए आत्मा के समाधिस्थ हो जाने पर होता है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ही ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना हठयोग का आदर्श है। गोरखनाथ द्वारा चलाए हुए इस हठयोग का कबीर व अन्य कुछ निर्गुण संतों पर प्रभाव पड़ा है। इसी हठयोग को कबीर ने ईश्वर प्राप्ति का एक साधन माना है,

—:※:—

कबीर का सुधार वादी दृष्टिकोण

जब हम कबीरदासजी के सुधार वादी दृष्टिकोण का विवेचन करते हैं तो इसके लिए हमको उस काल की परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक

हो जाता है। उस समय की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं जिन के कारण कबीरदास जी का निर्गुण मत फैलाना सफल हुआ और साथ ही उनको यश भी मिला। हम देखते हैं कि महाराज हम्मीरदेव की मृत्यु के पश्चात हिन्दुओं की शक्ति दिन प्रति दिन क्षीण होती गई। हिन्दू मुसलमानों को बढ़ती हुई शक्ति का सामूहिक रूप से सामना करने में असमर्थ थे। तैमूर के आक्रमण ने देश को उजाड़ कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। लेकिन इतना होने पर भी राजस्थान की वीर राजपूत जाति समय समय पर स्वतंत्रता का युद्ध छेड़ती रही और इसी से वहाँ चारण कवियों द्वारा वीर रस की कविताएँ होती रहीं। लेकिन व्यापक रूप से वीर गाथाओं में शिथिलता पड़ गई थी। देश के राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन ढीले पड़ जाने के कारण एक ओर तो हिन्दू जनता अपना ह्रास देख रही थी, और दूसरी ओर विदेशी और विधर्मियों का अभ्युदय। ऐसी अवस्था में आत्म विश्वास के साथ धर्म और परमात्मा पर भी उनका विश्वास हट रहा था। यह दशा उस समय थी जबकि कबीर आदि संत कवियों का जन्म हुआ था यह हिन्दू जाति के लिए परम सौभाग्य तथा परमात्मा की असीम कृपा की बात समझना चाहिए कि उसी समय दक्षिण भारत से भक्ति की एक प्रबल धारा उत्तर की ओर आई और कबीर आदि सन्तों ने जनता को भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त कर भक्ति का प्रचार किया। लेकिन यदि हम यह कहें कि सगुण भक्ति का प्रचार क्यों नहीं किया गया निर्गुण भक्ति का ही प्रचार इतना अधिक प्रभावशाली क्यों कर हुआ इसका भी एक कारण था। इस समय प्रत्येक प्रकार की भक्ति के प्रचार के लिए परिस्थिति अनुकूल न थी इसका विशेष कारण यह है कि विक्रम की ११वी शताब्दी में मूर्तियों की अशक्तता बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी। महमूद गजनवी आत्म-रक्षा से विरत हाथ पर हाथ रखे हुए हिन्दुओं के देखते ही देखते सोमनाथ का मन्दिर नष्ट करके हजारों को तलवार के घाट उतार कर असंख्य धन लेकर अपने देश को रवाना हुआ। गजेन्द्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आने वाले ग्राह से उनकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान एक बार भी उसकी रक्षा करने के लिये आते हुए दिखाई न दिए। इसलिये उनकी ओर जनता को प्रवृत्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। लोगों को

अब सगुण भगवान पर विश्वास न रह गया था। उनकी ये देव मूर्तियाँ केवल मूर्तियाँ ही थीं लेकिन उनमें कोई चमत्कार नहीं रह गया।

दूसरी ओर योग-प्रधान नाथ पंथ का प्रभाव सारे देश में छाया हुआ था। सूफी फकीर भी अपने प्रेम और उदारता के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। इस कारण लोगों ने सगुण भक्ति का उस समय वैसा अनुसरण नहीं किया जैसा कि कबीर आदि सन्त कवियों का किया और अन्त में नामदेव जैसे सगुण भक्त को ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी। सन्त कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और कुछ समय तक इस जाति को निराशा के अथाह जल राशि के ऊपर अपने हाथ का सहारा देकर रखा। वैसे तो वास्तव में जनता को सच्ची सान्त्वना राम भक्ति शाखा से मिली लेकिन फिर भी कबीर आदि सन्त महात्माओं का महत्व कम नहीं हो जाता। यदि कबीर जनता को भक्ति की ओर अग्रसर न करते तो क्या यह सम्भव था कि लोग आँख मूँद कर मर

(१) भारत में मुसलमानों के आ बसने के कारण देश की परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। हिन्दू जाति को केवल भक्ति का ही सहारा रह गया था।

(२) कुछ लोग हिन्दू और मुसलमानों के विरोध को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके लिए वे एक ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग की खोज में थे, जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का भी प्रतिपादन हो सकता था और जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी खुदावाद की समानता स्थापित हो सकती थी।

भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद में तात्विक भेद के रहते हुए भी दोनों की स्थूल समानता के लिए निर्गुण मार्ग में स्थान था।

(३) रामानन्द के १२ शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में अग्रसर हुए, जिनमें कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, धन्ना, पीपा, रैदास आदि थे।

मुसलमानों के आक्रमण ने हिन्दू समाज के लिए एक और लाभकारी बात की वह यह है, कि पददलित शूद्रों की आँखें खोलीं। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में जाति-पाँति तथा छुआ-छूत का कोई भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब समान हैं। व्यवसाय, आचार विचार आदि में कोई भेदभाव नहीं है। यद्यपि नाथ-पन्थ में भी छुआ छूत और ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था लेकिन जनता को विशेष रूप से आकर्षित न कर सका। जिस प्रकार शंकर के अद्वैतवाद के द्वारा बौद्ध धर्म का पतन हुआ उसी प्रकार भक्ति के प्रताप से योग मार्ग का प्रभाव भी नष्ट हो रहा था। अतः एक ओर तो अपनी हीन सामाजिक स्थिति से ऊब कर और दूसरी ओर अपनी प्राण-रक्षा तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लालच से निम्न वर्ग की जनता के लिए विदेशी धर्म ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। ऐसे समय में स्वामी रामानन्दजी ने पूर्ण उदारता के साथ भेद-भाव दूर कर शूद्रों और मुसलमानों के लिए भक्ति मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनियां, कबीर जुलाहा आदि समाज की निम्न श्रेणी के थे पर उनका नाम आज तक आदर के साथ लिया जाता है।

महात्मा कबीरदास का जन्म अब तक के अनुसंधानों के आधार पर सं० १४५६ और मृत्यु १५१५ वि० मानी जाती है। ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए तथा मुसलमान परिवार में इनका पालन पोषण हुआ किन्तु अभी तक इस विषय में निश्चित कुछ भी नहीं हो पाया। इनके गुरु स्वामी रामानन्द थे। कुछ विद्वान शेखतकी को भी इनका गुरु मानते हैं। धर्मदास और गोपाल नाम के इनके दो प्रधान शिष्य थे।

महात्मा कबीरदास बहुश्रुत थे। उनको सत्संग के द्वारा वेदान्त उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का यथेष्ट ज्ञान था। योग की क्रियाओं के विषय में उनको जानकारी थी। इन्होंने इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उल्लेख किया है। लेकिन योग को अधिक प्रधानता नहीं दी। इन्होंने केवल हिन्दू और मुसलमान धर्मों का उल्लेख किया है। उन्होंने दोनों को फटकारा है तथा उनको सद्मार्ग पर लाने की चेष्टा की है। जिस प्रकार यूरोप में लूथर के पूर्व १५ वीं शताब्दी में पोप ही धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे, उसी प्रकार कबीर से पूर्व धार्मिक ज्ञान पूर्ण रूप से ब्राह्मणों के आश्रित था। साथ ही शासकों की निरंकुश नीति के कारण राजनैतिक असंतोष की मात्रा भी बहुत बढ़ गई थी। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित है, तथापि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों में कबीर का स्थान सर्व प्रथम है, क्योंकि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि भारतीय धर्म के अन्तर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मकाण्ड तीनों का समावेश है।

वास्तव में भारतीय समाज में बन्धुत्व के भाव कबीर के द्वारा ही व्यक्त किए गये। भक्ति भाव के आन्दोलन द्वारा भगवान के सामने समभाव का आदेश तो रामानन्द ने दिया था, पर जाति विभाग और ऊँच-नीच के एकीकरण का साहस कबीर के पूर्व किसी ने नहीं किया। सच्चा सुधारक समाज में नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अन्ध-विश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जाग्रत करना अधिक अच्छा समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। कबीर के सिवा काशी के हिन्दू क्षेत्र में कौन साहस कर सकता था कि यह पूछे कि "जो तुम बाह्मन बाहननि जाये, और राह तुम काहे न आये।" उनका कथन था कि जब काली और सफेद गाय के दूध में कोई अन्तर नहीं तो फिर उस परमात्मा की सृष्टि के जीवों में क्या अन्तर है। इस विषय में कबीर की अनेक उक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। यथा—

"एक ही रक्त से सभी बने हैं को ब्राह्मण को सूद्रा।"
"कोई हिन्दू कोई तुरक कहावै एक जमीं पर रहिए।"

कबीरदास की यही सम दृष्टि उनको सार्वभौमिक बना देती है। जाति विभाग के नियम पालन में छुआ-छूत का प्रश्न भी जटिल हो गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों के अलग-अलग सामाजिक संस्कार थे। धर्म के दार्शनिक तत्वों की अवहेलना की जा रही थी। धर्म का रूप केवल बाहरी आडम्बरों पर ही निर्भर था। कारण यह था कि पंडितों और मुल्लाओं की प्रधानता एवं उनकी संकुचित विचार धारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। जब कबीर ने देखा तो उन्होंने इस ओर कदम उठाया और उन्होंने यह सब "झूठ का बाना" समझा। और कहा :—

सुर नर मुनी निरंजन देवा, सब मिल कीन्ह एक बन्धना।
आप बंधे औरन को बाँधे भवसागर को कीन्ह पयाना॥

बात थी तो सत्य लेकिन रूखी अवश्य थी। इसमें कुरान वेद आदि को हेय समझा गया है। लेकिन कबीर ने इनको बिल्कुल हटाने के बारे में नहीं कहा। लेकिन कहा है कि झूठा वह है जो इनको सोचता विचारता नहीं। देखिए:—

वेद कितेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारै

कबीरदास ने बाह्य आडम्बरों तथा तीर्थ-व्रत, स्नानादि को व्यर्थ माना है। उन्होंने सूफी मत तथा वैदिक धर्म के अनुकूल ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापक मानी है। कोई उसे पूर्व की ओर और कोई उसे पश्चिम की ओर मानता है। कोई नमाज पढ़ता है और कोई घंटा आदि बजाता है। कबीर ने देखा कि एकात्मा के पीछे अनेक रूपता का रूपक देकर व्यर्थ का विरोध बढ़ाया गया है उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मुहम्मद में कोई अन्तर नहीं। राम और रहीम पर्यायवाची शब्द हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परम-पिता परमात्मा की संतान हैं। देखिये:—

"हिन्दू तुरक की एक राह है सत गुरु यहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई॥

इस प्रकार कबीर ने अपने समय की धार्मिक कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को मिटाने का सफल प्रयास किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। कबीर का कहना है "इन दोउन राह न पाई" एक बकरी काटता है तो दूसरा गाय। यह पाखंड नहीं तो क्या है! कबीर ने दोनों के आडम्बर पूर्ण व्यवहार का विरोध किया उन्होंने किसी धार्मिक ज्ञान का आश्रय नहीं लिया। उनका कहना था कि—

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी तू कहता कागद की लेखी"

इस प्रकार कबीर दास ने उपदेशक का कार्य कर देश तथा दोनों जाति का बड़ा उपकार किया। वैसे तो भारतीय शिक्षित समाज पर कबीर का प्रभाव बहुत कम पड़ा। लेकिन हिन्दू और मुसलमान अपने ईश्वर को एक मान कर आपस के भेद भाव को भूल गये। आपस का धार्मिक वैमनस्य तथा भेद भाव दूर हो गया। इनकी सूक्तियाँ आज भारत के प्रत्येक नगर और गाँव में गाई जाती हैं कबीर का यह बड़ा महत्व रखता है।

———

सूफी मत का उद्भव तथा विकास

सूफी मत के उद्भव तथा विकास पर विचार करने से पूर्व हमारे लिये यह आवश्यक है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला जाय। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाये। दूसरा मत यह है कि निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में (सफ में) खड़े किये जाएँगे वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरा मत है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं, और सफा होने के कारण उनको सूफी कहते है। चौथे दल के अनुसार सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पाँचवाँ मत है कि सूफी शब्द सूफ(सफेद ऊन) से बना है। सूफी सन्त ऊन के कपड़े पहनते थे, इसलिये वे सूफी कहलाए। यह मत अधिकतर विद्वानों द्वारा मान्य समझा जाता है। सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही अब नियत रूप से होने लगा है।

इस प्रकार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में बहुत से मत प्रचलित हैं। इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्भव तथा विकास का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है सूफीमत इस्लाम धर्म का एक प्रधान अङ्ग माना जाता है। यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को मुहम्मदी मत से अलग रखने की पूरी चेष्टा की है तथापि उनके व्याख्यान में मुहम्मद साहब का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि सूफी संत कट्टर मुसलमानों से कुछ मुलायम तबियत के हैं। इसी आधार पर कट्टर मुसलमान उन्हें इस्लाम से कुछ भिन्न समझते थे।

मुसलमानो के पतन के बाद मसीहियों का विकास हुआ। सूफियां और मसीह संतों में बहुत कुछ साम्य था। परन्तु जैसे कुरान की सहायता से सूफी मत इस्लाम का प्रसाद नहीं सिद्ध हो सकता वैसे ही इंजील के आधार पर भी उसको मसीहमत का प्रसाद नहीं कहा जा सकता।

कुछ सूफियों का कहना है कि सूफी मत का, आदम में बीज-वपन, नूर में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ।

सूफी मत के मूल-स्रोत का पता लगाने के लिये हमें उसके सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना चाहिये। वस्तुतः सूफी मत प्रेम भावना पर स्थित है। बात यह है कि मसीह का मूलमन्त्र विराग है, जो विरति के साथ रति भावना से भी प्लावित है। मसीह की दुलहिनों अथवा भक्त सन्तों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति-भाव है। सूफियों के इस प्रेमवाद का शामी जाति वालों द्वारा बहुत दिनों तक विरोध हुआ। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मसीह के निवृत्ति-प्रधान मार्ग में आध्यात्मिक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक रति में परिणत होगई। यही परंपरा सूफियों ने ग्रहण की। भारत में परमात्मा के साकार स्वरूप को खड़ा कर जिस माधुर्य भाव का प्रचार किया गया। उसी का प्रसाद शामी जातियों में निराकार का आलम्बन ले मादन-भाव के रूप में हुआ। सूफियों के इस प्रेमवाद के दर्शन मीरा व आंडाल के प्रेम में होते हैं। वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय संसार में प्रचलित देवदास एवं देवदासियों की प्रथा से हुआ और कर्मकाण्डी नबियों के घोर विरोध के कारण उसको परम प्रेम की पदवी मिली।

इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के लिये हमें इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का अध्ययन भी करना पड़ता है। मुहम्मद साहबका प्रादुर्भाव तो बाद में हुआ मुहम्मद साहब के इस्लाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार हुआ। इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफीमतके सभी अङ्ग पुष्ट हो चले थे

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही सूफीमत का उद्भव तथा विकास हो चुका था। इस प्रकार मुहम्मद साहब के मत में सूफी सिद्धान्त पाये जाते हैं, इसी आधार पर सूफी अपने मत को इस्लाम के अन्तर्गत मानते हैं।

जब सूफी लोग भारत में आये, तब सूफीमत पर अनेक भारतीय प्रभाव पड़े इनमें सब से अधिक प्रभाव भारतीय वेदान्त का पड़ा। वेदांत के प्रभाव के

सूफी मत का उद्भव तथा विकास

सूफी मत के उद्भव तथा विकास पर विचार करने से पूर्व हमारे लिये यह आवश्यक है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला जाय। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाये। दूसरा मत यह है कि निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में (सफ में) खड़े किये जाएँगे वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरा मत है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं, और सफा होने के कारण उनको सूफी कहते है। चौथे दल के अनुसार सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पाँचवाँ मत है कि सूफी शब्द सूफ(सफेद ऊन) से बना है। सूफी सन्त ऊन के कपड़े पहनते थे, इसलिये वे सूफी कहलाए। यह मत अधिकतर विद्वानों द्वारा मान्य समझा जाता है। सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही अब नियत रूप से होने लगा है।

इस प्रकार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में बहुत से मत प्रचलित हैं। इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्भव तथा विकास का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है सूफीमत इस्लाम धर्म का एक प्रधान अङ्ग माना जाता है। यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को मुहम्मदी मत से अलग रखने की पूरी चेष्टा की है तथापि उनके व्याख्यान में मुहम्मद साहब का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि सूफी संत कट्टर मुसलमानों से कुछ मुलायम तबियत के हैं। इसी आधार पर कट्टर मुसलमान उन्हें इस्लाम से कुछ भिन्न समझते थे।

मुसलमानो के पतन के बाद मसीहियों का विकास हुआ। सूफियों और मसीह संतों में बहुत कुछ साम्य था। परन्तु जैसे कुरान की सहायता से सूफी मत इस्लाम का प्रसाद नहीं सिद्ध हो सकता वैसे ही इंजील के आधार पर भी उसको मसीहमत का प्रसाद नहीं कहा जा सकता।

कुछ सूफियों का कहना है कि सूफी मत का, आदम में वीज-वपन, नूर में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ।

सूफी मत के मूल-स्रोत का पता लगाने के लिये हमें उसके सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना चाहिये। वस्तुतः सूफी मत प्रेम भावना पर स्थित है। बात यह है कि मसीह का मूलमन्त्र विराग है, जो विरति के साथ रति भावना से भी प्लावित है। मसीह की दुलहिनों अथवा भक्त सन्तों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति-भाव है। सूफियों के इस प्रेमवाद का शामी जाति वालों द्वारा बहुत दिनों तक विरोध हुआ। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मसीह के निवृत्ति-प्रधान मार्ग में आध्यात्मक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक रति में परिणत होगई। यही परंपरा सूफियों ने ग्रहण की। भारत में परमात्मा के साकार स्वरूप को खड़ा कर जिस माधुर्य भाव का प्रचार किया गया। उसी का प्रसाद शामी जातियों में निराकार का आलम्बन ले मादन-भाव के रूप में हुआ। सूफियों के इस प्रेमवाद के दर्शन मीरा व आंदल के प्रेम में होते हैं। वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय संसार में प्रचलित देवदास एवं देवदासियों की प्रथा से हुआ और कर्मकाण्डी नवियों के घोर विरोध के कारण उसको परम प्रेम की पदवी मिली।

इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के लिये हमें इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का अध्ययन भी करना पड़ता है। मुहम्मद साहबका प्रादुर्भाव तो बाद में हुआ मुहम्मद साहब के इस्लाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार हुआ। इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफीमतके सभी अङ्ग पुष्ट हो चले थे

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही सूफीमत का उद्भव तथा विकास हो चुका था। इस प्रकार मुहम्मद साहब के गत में सूफी सिद्धान्त पाये जाते हैं, इसी आधार पर सूफी अपने मत को इस्लाम के अन्तर्गत मानते हैं।

जब सूफी लोग भारत में आये, तब सूफीमत पर अनेक भारतीय प्रभाव पड़े सूफीमत पर सबसे अधिक प्रभाव भारतीय-वेदांत का पड़ा। वेदांत के प्रभाव को

लेकर सूफीमत ने अपना स्वतंत्र विकास किया जिसमें कुरानके सात्विक सिद्धांतों का विशेषरूप से समिश्रण किया गया। सूफीमत पर दूसरा भारतीय प्रभाव हठ योगियों का पड़ा है। सूफियों ने योगियों से प्राणायाम आदि की शिक्षा ली। अतः सूफीमत पर हठयोगियों के सिद्धान्तों की यत्र-तत्र झलक मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफीमत का आविर्भाव मुसलमानी धर्म की कट्टरता की प्रतिक्रिया में हुआ और जब सूफी लोग भारत में आए तब सूफी मत पर वेदांतियों और हठयोगियों का प्रभाव पड़ा।

सूफी मत के सिद्धान्त

सूफीमत का भारत में प्रवेश मुसलमान साधुओं के साथ हुआ। भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध, मुसलमानी आक्रमण के शताब्दियों पूर्व योरोपिय जातियों से स्थापित हो चुका था। व्यापार का मार्ग ईरान से होकर था। अतः इस्लाम विजय के शताब्दियों पूर्व बौद्धधर्म के विचार और वेदान्त ईरान में पहुँच चुका था। इस्लाम से विजित होने पर भी ईरान की सुसंस्कृत, भावुक और उदार मिट्टी अपने पूर्व विचारों का सर्वथा परित्याग न कर सकी और सूफी कवियोंकी वाणी से प्रस्फुटिक होकर विश्व को रस-मग्न करती रही। इस परंपरा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौंदर्य को अलौकिक रूप में देखा और ध्वनित

उस परमात्मा से मिलन करा सकता है। सूफ़ी सन्तों ने हिन्दुओंके घरों की प्रेम गाथाओं को लेकर अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की। मलिक मोहम्मद जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे। कुतबन, मंझन, उसमान, शेखनवी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवियों का नाम भी इस परंपरा में लिया जाता है। कुछ हिन्दू कवियोंने जैसे दामों, हरिराज, मोहनदास आदि ने भी प्रेममार्गी परम्परा को अपनाया। सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का हम नीचे संक्षेप में विवेचन करेंगे :—

१—ईश्वर—सूफ़ीमत के अनुसार ईश्वर एक है जिसका नाम हक़ है। आत्मा और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा उसके सामने अपने को वंदे के रूप में प्रस्तुत करती है, जैसा कि इस्लामधर्म में भी है। और वंदा प्रेम के द्वारा उस ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। खुदा तक पहुँचने के लिये वंदे को चार दशाएँ—शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफत पार करनी पड़ती है। मारिफत में रूह 'बका' या जीवन प्राप्त करने के लिए फ़ना हो जाती है। इस 'फ़ना' होने में उसका प्रेम ही सहायक है। इस प्रकार 'बका' होकर आत्मा में ही परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक' (मैं ही ईश्वर हूँ) सार्थक हो जाता है। प्रेम में चूर होकर आत्मा इस आध्यात्मिक यात्रा को पार करके ईश्वर में शराब-पानी की तरह मिल जाती है। सूफ़ी सन्तों का ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, अलख, अनादि, सर्व शक्तिमान, अजन्मा, सर्वव्यापी, अनन्त और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है। इन लोगों के विश्वास के अनुसार जीव ब्रह्ममय है और संसार नश्वर है। सूफ़ियों के ईश्वर के संबंध में एक बात विशेष महत्व की है, वह यह है कि इनके ईश्वर की प्राप्ति का एक साधन है। वह साधन 'प्रेम' है।

२—प्रेम—सूफ़ी मत के फकीर 'प्रेम' को ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हैं यही कारण है कि सूफ़ी मतावलम्बियों का काव्य प्रेम-गाथाओं के रूप में उपलब्ध होता है। वह प्रेम निस्वार्थ है। सूफ़ी फकीर इस प्रेमके नशे से मस्त होकर परमात्मा में 'लौ' लगा लेते हैं। उन्हें शरीर आदि वाह्य संसार की बातों का कुछ ज्ञान नहीं रहता है। सूफ़ीमत के इस 'प्रेम' के संबंध में एक बात और है, वह यह है कि सूफ़ी लोगों ने ईश्वर को स्त्री के रूप में माना

है, अतः भक्त उस स्त्री (प्रियतमा) की प्रसन्नता के लिए बहुत प्रयत्न करता है, और उसके हाथ की शराब पीने के लिए तरसता है। वह उससे प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर उसके सम्मुख एक दैवी स्त्री के रूप में उपस्थित होता है।

३—शैतान या पीर—शंकर मत के अनुसार आत्मा परमात्मा के मिलन में माया बाधक है। सूफीमत वाले बंदे और ईश्वर के सम्मिलन में एक बाधक तो मानते हैं, पर वह माया के स्थान पर शैतान की कल्पना करते हैं। शैतान साधक को उसके पथ से विचलित कर देता है। पद्मावत में रत्नसेन को विचलित करने वाला राघवचेतन है, जिसे जायसी ने शैतान के रूप में चित्रित किया है। इस शैतान के बचने के लिए सूफियों ने एक पीर (गुरू) की आवश्यकता का निर्देश किया है। इसलिए सूफी मत में पीर का बड़ा सम्मान है। पीर ही ऐसा शक्तिशाली है जो साधक (बन्दे) को शैतान से बचा सकता है।

४—जीव—कुरान में ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है। उसमें अल्लाह और मुहम्मद का सम्बन्ध स्पष्ट है। अल्लाह सर्वोपरि है तथा मुहम्मद उसका रसूल है सूफियोंने वेदान्तियों की तरह 'जीव ही को ब्रह्म' माना है। आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है। मूलतः अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं है। सूफियों पर अद्वैतवादियों का काफी प्रभाव पड़ा है, पर वह किस रूप में पड़ा है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु साधना पक्ष में वह वेदान्त के केवलाद्वैत से बहुत निकट है, यद्यपि वेदान्त ज्ञानाश्रित है और सूफीमत भावाश्रित है।

५—सृष्टि—सूफियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। 'रूह' का अर्थ अलौकिक शक्ति है, जो इन्सान में भी अंश रूप में स्थित है। इन्सान की रूह का शरीर से जो सम्बन्ध है वही 'रूह' का सृष्टि से है। ईश्वर ने अपनी सत्ता को सर्वप्रथम रूह का रूप दिया, जिससे सृष्टि फरिश्तों और कल्ब की उत्पत्ति हुई। सूफियों के विचार में सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की झलक हैं। सूफी सृष्टि में प्रतिबिम्बित अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें तन्मय हो जाता है और इस प्रकार हक तक पहुँच जाता है।

संक्षेप में सूफियों के मतानुसार सृष्टि वह दर्पण है जिसमें अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिविम्ब पड़ता है, वही इन्सान है।

६—अन-अल-हक्क—वस्तुतः अल्लाह और इन्सान एक ही तत्व के बने हैं। कुछ सूफी कहते हैं कि परमसत्ता में जीव का सर्वथा लोप हो जाता है, कुछ अंशतः मानते हैं सूफियोंकी साधना यही है कि वे 'अन-अल-हक्क' (मैं ब्रह्म हूँ) को स्वयं अनुभव कर सकें। अतः साधना की आवश्यकता पड़ती है, 'जो विरह की साधना' है। सूफ़ी दिन-रात उस महा-मिलन की आकुलता का अनुभव करना चाहते हैं जो अन्ततः जीव ब्रह्म को एक कर देगी।

सूफी कवियों की परम्परा

प्रेम काव्यों का आरम्भ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्दा नामक प्रेम-कथा से होता है। परन्तु पद्मावत की प्रस्तावना में मलिक मुहम्मद जायसी अपने से प्राचीन कुछ और प्रेम-कथाओं का भी उल्लेख करते हैं। देखिये—

विक्रम धँसा प्रेम के वारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होयगा वैरागी॥
राज कुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा॥

इस उद्धरण के अनुसार सम्भवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे—'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'खंडरावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'।

मुल्ला दाऊद सूफ़ी परम्परा के सबसे प्राचीन कवि हैं रञ्जन का उद्भव मुल्ला दाऊद के बाद हुआ। ये सूफ़ी साधु और फारसी हिन्दी भाषाओं के अच्छे

ज्ञाता थे। इनकी 'प्रेमपन जोव निरंजन' हिन्दीकी विख्यात रचना है। जायसी ने अपने पूर्व में प्रेम-कथा कहने वालों का उल्लेख करते हुए 'प्रेमावति कहँ सुर सरि साधा' में जिस प्रेमावती का संकेत किया है, वह सम्भवतः इसी 'प्रेम वन जीव निरंजन' की नायिका है।

सन् १५०१ में कुतबन शेख ने मृगावती नाम की प्रेम-कथा अवधी भाषा में लिखी जो दोहे चौपाइयों में थी। यह सूफ़ी साहित्य का प्रथम प्राप्य ग्रंथ है जिसके द्वारा सूफ़ीमत का हिन्दी साहित्य में प्रवेश हुआ। परन्तु हिन्दी-साहित्य में सूफ़ी-साहित्य का पूर्ण परिपाक जायसी में देखा जा सकता है कुतबनके बाद मंझन की 'मधुमालती' नाम की प्रेम-गाथा मिलती है मंझन ने अपनी रचना में एक विशेषता की है कि अपनी प्रेम-कथामें नायक-नायकाके साथ उपनायक व उपनायिका की कल्पना की है। इसकी भाषा अवधी है मृगावतीकी अपेक्षा इसकी कल्पना विषद एवं वर्णन भी विस्तृत तथा हृदयपर प्रभाव डालने वाले हैं।

इनके बाद सूफ़ी परम्परा के प्रमुख और श्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी इस क्षेत्र में आए। ये सूफ़ी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे तथा शेरशाह के काल में इस क्षेत्र में आए। इनके तीन ग्रंथ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखरी कलाम। मलिक मुहम्मद जायसी की परम्परा तथा अन्य सब प्रेममार्गी कवियों की प्रेम-परम्परा में अन्तर है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है वहाँ जायसीने उसमें इतिहास का जरा सा मिश्रण कर दिया है। उनकी पद्मावत के पूर्वार्द्ध में व्यक्तिपक्ष है परन्तु उत्तरार्द्ध मे कवि-प्रेमियों से व्यक्ति-पक्ष से हटकर लोक पक्ष पर आ गया है। इसके सिवाय उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान उसमें जोड़ दिया है, इस कारण जायसी की पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से पृथक हो गई है। प्रबन्ध की दृष्टि से भी वह औरों से बढ़कर है। अन्य सूफ़ी कवि जहाँ प्रेम, श्रद्धा, भक्ति तथा करुण भावों ही को व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी ने लोक-दृष्टि से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, वीभत्स आदि भाव भी प्रदर्शित किये हैं। इस कारण से उसमें प्रबंधत्व की अपेक्षा सामग्री अधिक हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवित्वगुण और भाषा की दृष्टि से जायसी में अपने अन्य सूफ़ी संतों से श्रेष्ठता है।

जायसी के बाद जमालुद्दीन का नाम आता है। इनका 'जमाल-पचीसी' नामक एक हस्त-लिखित ग्रन्थ मिलता है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की होती थी। उन्होंने दोहे, कवित्त, छप्पय में रचना की है।

इनके बाद अहमद का उद्भव हुआ है। आपके दोहे, सोरठे बहुत ही चुटकीले तथा रसीले हैं। 'शिवसिंह-सरोज' ग्रंथ के अनुसार इनका मत सूफी अर्थात् प्रेम-मार्गियों से मिलता-जुलता है।

इनके बाद उसमान इस क्षेत्र में आए। आपने जहाँगीर बादशाह के शासनकाल में 'चित्रावली' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरम्भ में सूफी-सांप्रदाय के कवियों की परंपरा के अनुसार आपने भी ईश-स्तुति, पैगम्बर और खलीफाओं बादशाह जहाँगीर तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। आपने अपनी 'चित्रावली' की रचना जायसी के पद्मावत के ढङ्ग पर की है। 'चित्रावली' के दोहे चौपाइयों का क्रम भी ठीक उसी प्रकार है। उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी हीकी तरह नगर सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन 'चित्रावली' में है। एक नई बात है कि इनके जोगी अँगरेजो को भी देख आए थे।

इनके बाद शेखनबी का समय आता है। इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा है, जिसमें राजा 'ज्ञानदीप' और रानी 'देवयानी' की कथा वर्णित है।

जटमल ने 'गोरा बादल की बात' और 'प्रेमलता-चौपाई' नामक दो ग्रंथ लिखे हैं। उनकी और भी फुटकर रचनाएँ हैं। इनकी भाषा में पंजाबीपन है पर काव्य-सौष्टव अधिक है।

इनके बाद प्रेमी नामक सूफी सन्त का समय आता है। इनकी रचना 'प्रेम-परकास' की एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसकी भाषा खड़ी-बोली की मिश्रित है तथा प्रेम-विरह का सुन्दर वर्णन है।

इनके बाद कासिमशाह ने 'हंस जवाहिर' नाम की कहानी लिखी है। जिसमें राजा 'हंस' और 'जवाहर' की कथा है। कहानी के आरम्भ में वन्दना जायसी-कृत पद्मावत के ढङ्ग की है।

इनके अतिरिक्त नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' नामक आख्यान काव्य लिखा। इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रखकर बरवै रक्खे हैं। फाजिलशाह ने 'प्रेम रतन' और आशी ने वैराग्य, विरह और प्रेमका सुन्दर वर्णन किया है।

इधर खड़ी बोली में भी प्रेमाश्रयी रचनाएँ हुई हैं। कुछ कवियों ने खड़ी बोली में विदेशी छन्दों में भी प्रेममार्गी कविता की है। कुतुबशाह, मुहम्मद-अली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने भी खड़ी बोली में रचनाएँ की हैं। इसी समय में और कवि भी हुए हैं, जिनकी रचनाओं में कुछ ऐसी प्रेम-कथाएँ भी हैं जैसे पद्मावती, मृगावती आदि। परन्तु वे फारसी छन्दों में खड़ी बोली में लिखी हुई हैं। इनमें इब्नु निशाती की 'फूलबान' और तहसीनुद्दीन की 'क़िस्सए-काम रूप और कला' ऐसी ही रचनाएँ हैं। मौलाना वजीद का गद्य-ग्रन्थ 'सब रस' ऐसी ही प्रेम कहानी लेकर लिखा गया है। नसरती की मस-नवी 'गुलशने इश्क' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। हाशिमी की 'यूसुफ जलेखाँ' भी ऐसी ही है।

हिन्दी के सूफी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

भारत में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। यह धारा इस देश में मुसलमान साधुओं के साथ आई। इसका उद्गम स्थान ईरान की संस्कृत, कोमल भावुक कल्पना में अरब के धर्म विजेताओं का लादा हुआ इस्लाम धर्म है जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से कोमलतम और दार्शनिक स्वरूप धारण कर गया। इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौंदर्य को अलौकिक रूप में देखा है सूफी कवि उस निर्गुण निराकार ईश्वर की उपासना करते थे जो अनन्त प्रेम का भण्डार है। धार्मिक प्रतिबंधों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की है। उनके ऐतिहासिक लौकिक आख्यानों में ऐति-हासिकता का अभाव है क्योंकि वे इसका प्रयोग अलौकिक प्रेमको व्यक्त करने के लिए करते थे। सूफी कवियों के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य

यह है कि ये प्रेमाख्यान अधिकाँशतः हिन्दू समाज से लिए गए हैं और वह हिंदू जीवन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के लिए हुआ। जिस प्रकार ज्ञान-मार्गी संतों ने हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया था उसी प्रकार प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों ने हिन्दुओं से सांस्कृति समझौता करने का प्रयत्न किया जो उनके प्रेमाख्यानों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों की प्रेम गाथाओं में निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं:—

१—प्रेममार्गी कवियों की प्रेम गाथाएँ भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढङ्ग की हैं। इन प्रेम गाथाओं में फारसी की मसनवी पद्धति के अनुसार कथारंभ के पूर्व ईश्वर-वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा आदि मिलती है। सूफ़ी मत के प्रमुख कवि जायसी ने अपने पद्मावत में सर्व प्रथम ईश्वर बन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, गुरु बंदना और तत्कालीन बादशाह शेरशाह सूरी की प्रसंसा की है।

२—प्रेम गाथाओं के रचियता प्रायः सभी मुसलमान हैं। इन लोगों को हिन्दू धर्म का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका परिचय इनकी काव्य रचनाओं से मिलता है। इन्हें हिंदू धर्म के सिद्धान्तों का, हिंदुओं के आचार-विचार रहन सहन आदि का सामान्य ज्ञान था यही कारण है कि इन प्रेम गाथाओं में हिन्दुओं के घरों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती के विवाह के अवसर पर जो ज्योनार का वर्णन हुआ है, उससे जायसी के हिन्दू-धर्म के ज्ञान का परिचय मिलता है।

३—सूफ़ी कवियों की प्रेम गाथायें अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथायें हैं। ये परम्परा से चली आती प्रचलित कहानियाँ हैं, जिनमें आधा इतिहास और आधी कल्पना का मिश्रण करके काव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। प्रेममार्गी कवियों ने इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। सूफ़ी मत का प्रेम-अंश बहुत महत्व-पूर्ण है। अतएव इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचना की, और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नी रूपी आत्मा को पुरुष रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील माना जाता है। परन्तु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। गोपिकाओं का यह प्रेम भी आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम समझा जाता है। सूफ़ी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखलाया जायसी ने अपने पद्मावत में पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है।

✓ ८—इसी प्रकार माया के स्थान पर साधक को पथ भ्रष्ट करने वाले शैतान की कल्पना भी भारतीय है, जिसको प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में स्थान दिया है।

९—प्रेममार्गी कवियों के काव्य-ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन मण्डन नहीं किया है। उन्होंने तो अपने भावों को सरल रूप में प्रतिपादित करके मनुष्य-हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। संत कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा अधिक मुलायम तबियत के और सरल स्वभाव के थे। इसी कारण से उन्होंने उपदेशों को व्यक्त करने में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं किया।

१०—सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों के ग्रन्थ अधिकतर प्रबन्ध शैली में ही लिखे गए थे, अतः उनमें कथानक की रमणीयता के साथ ही संबंध-निर्वाह भी सुव्यवस्थित हुआ है। प्रेममार्गी कवियों का वस्तु वर्णन अच्छा नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्हें तो अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति करनी थी, अतएव वस्तु वर्णन या कथा का प्रवाह उनके लिये उसी सीमा तक महत्व रखता था जहाँ तक उनके उस प्रेम के अभिव्यंजन में वह सहायक या उपयोगी होता।

११—हिन्दी के सूफ़ी कवियों की मानव-हृदय के बड़े सूक्ष्म भावों तक पहुँच दिखाई पड़ती है। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हुए हैं। सूफ़ी कवियों की भाव-व्यंजना अपना विशेष महत्व रखती है।

४—सूफ़ी कवियों की ये प्रेम गाथाएँ लौकिक प्रेमाख्यानों द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने के लिये हुई हैं। यही कारण है कि इन कवियों ने इन परंपरा से चली आती प्रचलित प्रेम-गाथाओं में कल्पना का पूर्ण समावेश किया है। ये कवि आलौकिक प्रेम की व्यंजना करना चाहते थे। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ही सूफ़ी कवियोंमें आलौकिक प्रेम की व्यंजना लौकिक प्रेम आख्यानों की सहायता से की है। साथ ही जहाँ अलौकिक प्रेम-व्यंजना में प्रेम-गाथा का कोई ऐतिहासिक तत्व बाधक हुआ है तो उसका निवारण किया है और कल्पना के मिश्रण से अर्ध ऐतिहासिक गाथा को वाक्य रूप में प्रस्तुत किया है। सूफ़ी मत के अनुसार एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है, और बन्दा प्रेम के सूत्र में परमात्मा की प्राप्ति में सलग्न होता है। कवियों की प्रेम गाथाओं में जो अलौकिक प्रेम है उसमें जीवात्मा का परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है। सूफ़ी संतों के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन में अवरोधक शैतान है, जिसको दूर करके गुरु की सहायता में साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन प्रेम-गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय है।

५—प्रेम-मार्गियों के काव्य ग्रन्थों की भाषा भी प्रायः एक ही प्रकार की है। यह भाषा अवध प्रान्त की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केन्द्र अवध प्रान्त था, अतः इनकी काव्य-भाषा अवधी ही है।

६—छंदों के प्रयोग में भी सूफ़ी कवियों में समानता पाई जाती है। प्राय सभी प्रेममार्गी कवियों ने दोहों और चौपाइयों में ही ग्रन्थ रचना की है। ये छंद अवधी भाषा के लिये इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने मानस में इसी छंद का प्रयोग किया है। वास्तव में जायसी से ही तुलसीदास ने इन छंदों की परम्परा ग्रहण की थी। प्रेममार्गी शाखा के प्रमुख कवि जायसी ने दोहा-चौपाई पद्धति इतना सुन्दर प्रयोग किया है कि वे हिन्दी में इस पद्धति के प्रवर्तक माने जाते हैं।

७—प्रेममार्गी सूफ़ी कवियोंने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशियता के साथ-साथ भारतीय शैली की छाप भी दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने फ़ारस की शैली के अनुसार नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेम पात्र की प्राप्ति के

११—सूफी मत का उद्भव इस्लाम से हुआ था, परन्तु उस पर बाहरी प्रभाव भी पड़े। प्रेममार्गी कवियों की रचनाओं में हम इन प्रभावों की छाप देखते हैं। सूफी मत पर भारतीय अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जो प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरोध में खड़ा हुआ उसमें अहिंसा आदि पर विशेष जोर दिया गया था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह शिक्षा ग्रहण की थी और वे अहिंसावादी बन गये थे। उपनिषदों के अन्य अनेक वादों जैसे प्रतिबिंबवाद के अनुसार मान-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिंब है, का जायसी आदि सूफी कवियों पर प्रभाव पड़ा है। जायसी ने अपने 'पद्मावत्' में कई स्थानों पर प्रतिबिंबवाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टिकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय पंचभूतों में आकाश को न मानकर उन्होंने चार ही तत्व माने हैं। इसी प्रकार पतंजलि द्वारा निरूपित योग की क्रियाओं को हठ-योगियों आदि ने जिस रूप में ग्रहण किया था उसी रूप में सूफी कवियों ने भी इनको ग्रहण किया है।

१२—सूफी कवियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा सरल व्याख्या हुई है। संत कवियों का रहस्यवाद तो बड़ा ही शुष्क तथा नीरस है। उसमें शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। उसमें "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को ही आधार माना है। इस कारण उसमें जगत का वहिष्कार होने से रागात्मक अनुभूति का नितांत अभाव मिलता है। किन्तु सूफियों के रहस्यवाद में हृदय की मधुर भावनाओं का बड़ा महत्व है। सूफियों ने जगत को सत्य मानकर रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा भावात्मक अभिव्यक्ति की है। उन्होंने प्रेम के द्वारा अव्यक्त सत्ता को व्यक्त रूप में प्रकट किया है।

सूफी मत पर प्रभाव

यों तो सूफी मत पर नास्तिक, यूनानी और नव अफलातूनी, यहूदी और मसीह आदि मतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में जो सूफी

मत के दर्शन होते हैं उस पर वस्तुतः भारतीयता का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यहूदी और मसीही मत तो सूफियों के पूर्वजो के मत माने जाते हैं, और नास्तिक, मानी और नव अफलातूनी मतों का प्रभाव भी सूफियों की आस्था पर पड़ा है। सूफी मत के सिद्धान्तों की समीक्षा में तथा उसके उद्भव तथा विकास के विवेचन में हम कुछ हद तक इन प्रभावों का विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम सूफीमत पर भारतीयता के प्रभाव का विश्लेषण करेंगे।

सूफीमत पर बौद्ध धर्म और वेदान्त का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। कुछ लोग तो सूफीमत को (जो भारत में मिलता है) वेदांत का मधुर रूपान्तर ही मानते हैं। सूफीमत के अध्यात्म पर भारतीय प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है यह इतिहास सिद्ध तथ्य है कि मसीह के बहुत पहले से ही शामी जातियों के प्रान्त और उसके आसे-पास के अन्य प्रान्तों से भारत का व्यापारिक संबंध रहा है। सूफीमत का उदय भी इन्हीं प्रान्तों में हुआ था। बौद्ध धर्म का प्रचार सब जगह एक संघ की सत्ता कायम हो जाने के कारण बहुत अधिक हुआ। सूफीमत का उदय जिन प्रांतों में हुआ, बौद्ध लोग वहाँ भी सद्धर्म के प्रचारार्थ गए थे। ईसामसीह के सम्बन्ध में भी एक बात यह है कि उनपर भारतीय बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है, चाहे वे भारत न भी आये हों। बाइबिल में यह प्रभाव अहिंसा वृत्ति के अध्याय में देखा जा सकता है। साथ ही नास्टिक बुद्ध का पर्यायवाची शब्द जान पड़ता है, और यह तो इतिहास से सिद्ध है ही कि, नास्टिक मत की परम्परा के किसी "मग" को सूफियों ने अपना गुरू माना है। निदान नास्टिक मत के प्रभाव में भारत का भी भाग है। फलतः पर्याप्त रूप में भारत ने सूफीमत को प्रभावित किया और सूफियों का नाम नास्टिक भी हो गया। नास्टिकों से अधिक मानीमत वालों का प्रभाव सूफीमत और इस्लाम दोनों पर पड़ा है। इस मत का प्रवर्तक 'मानी' बौद्धमत का ज्ञाता था। इस प्रकार हमें पुष्ट प्रमाणों के आधार पर कहना पड़ता है कि नास्टिक तथा मानी मत के द्वारा भी सूफी मत पर भारत का पूरा-पूरा योग सिद्ध हो जाता है।

नव अफलातूनी के संबंध में भी यही बात है। वह भी भारत का ऋणी है। भारत के सम्पर्क में आ जाने से यूनानी दर्शन में भी पर्याप्त परिवर्तन हो

चुका है। बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रायः सभी विदेशी मतों पर पड़ा है। भारतीय दर्शन के आधार पर ही अफलातून मत का 'प्रेम' तथा पंथ पुष्ट हुआ है। इस्लाम वालों ने इन्हीं भारतीय प्रभावों के कारण सूफ़ीमत को वक्र दृष्टि से देखा है और उसे 'अमुसलमानी' कहा है।

सीरिया में भी भारतीय संस्कृति के चिह्न विद्यमान हैं, जिनसे मालूम पड़ता है कि वहाँ के दार्शनिक भी भारतीय दर्शन से कुछ-कुछ ग्रहण कर चुके हैं। इसका पक्का प्रमाण मिलता है कि सीरिया के बौद्ध भिक्षुओं ने आरम्भ में फ़कीरी चोला धारण किया। जो लोग सूफ़ी मत को पूर्णतः इस्लाम से निकला मानते हैं, या प्रभावित मानते हैं, उन्हें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस्लाम पर भी भारतीयता का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कुछ मुसलमान विद्वानों ने यह स्वीकार भी किया है कि कुरान पर उपनिषदों का प्रभाव पड़ा है। अल्लाह की सर्व व्यापकता और अंतर्यामी आदि होने का जो वर्णन कुरान में मिलता है, वह भारतीय उपनिषदों से प्रभावित है, क्योंकि यह भावना शामी जाति में दूसरे रूप में पाई जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिम में भी भारतीय संसार का प्रचार या मुस्लिम साहित्य में मसीह संतों के साथ जो जुन्नार का विधान मिलता है वह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे कभी आर्य धर्मावलम्बी थे और धर्म परिवर्तन के बाद भी प्राचीन संस्कारों की परम्परा को मानते हैं। इस प्रकार सूफ़ी वेदांत से प्रभावित हुए। इसी प्रकार ईरान प्रभृति प्रांतों में महायान शाखा का बोलबाला था जिसमें धीरे-धीरे बहुत कुछ गुह्यता और भक्ति का योग हो गया था। महायान के भीतर जो सहजयान आदि अनेक यान चल पड़े थे उन्हीं से सूफ़ियों का विशेष परिचय हुआ। बुद्ध को सूफ़ियों ने किस दृष्टि से देखा इसका पता सूफ़ियों के इस सिद्धान्त से चल जाता है—"बुत के बदले में कोई ले तो खुदा देते हैं"। अर्थात् सूफ़ी बुत के लिये खुदा को अलग दान देते हैं। मिस्र के जूलनून के आधार पर भी सूफ़ीमत का भारतीय प्रभाव सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार सूफ़ीमत में 'इंसानुल कामिल' की प्रतिष्ठा है, जो हमारे यहाँ के पुरुषोत्तम अथवा पूर्णपुरुष का इस्लामी प्रतिध्वनि है और इस

बात की स्पष्ट घोषणा है कि सूफ़ी मत भारत का पक्का ऋणी है। भारत आज भी सूफ़ियों का प्रमुख आश्रय है।

निदान, हम देखते हैं कि सूफ़ी मत पर भारतीय दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

सूफ़ी काव्य-परम्परा में जायसी का स्थान

प्रेममार्गी सूफ़ी काव्य परम्परा में जायसी का प्रमुख स्थान है। जायसी का प्रेम काव्य अन्य सब प्रेममार्गी कवियों से स्पष्टतः भिन्नता रखता है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित प्रेम कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहाँ जायसी ने पद्मावत की प्रेम-कथा में कल्पना के साथ ऐतिहासिकता का भी मिश्रण किया है। इसी कारण से जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से भिन्न ही है। यह तो काव्य-विषय की दृष्टि से हुआ, साथ ही काव्य कौशल की दृष्टि से भी जायसी प्रेममार्गी शाखा के कवियों में सर्व श्रेष्ठ हैं। अन्य सूफ़ी कवि जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों को ही व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी का भाव पक्ष लोक भावना से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि के वर्णनों से पूर्ण है। इस दृष्टि से जायसी अन्य सूफ़ी कवियों से श्रेष्ठ हैं।

हिन्दी सूफ़ियों की प्रेमगाथाओं की परम्परा में मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सबसे महत्वपूर्ण है। पद्मावत में सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती और चित्तौड़गढ़ के राजा रतनसेन की प्रेम कथा है। हीरामन तोते से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा विरह-व्याकुल हो जाता है और रानी नागमती तथा राजपाट को छोड़कर योगी बन कर सिंहल द्वीप को चल देता है। अनेक बाधाओं के बाद शिवजी की कृपा से वह पद्मावती को प्राप्त करता है। चित्तौड़गढ़ लौटने पर अपने दरबार के राघवचेतन नामक एक पण्डित से वाद-विवाद में झगड़ा होने पर क्रोध में उसे देश निकाला देता है। राघवचेतन अलाउद्दीन को, पद्मावती के रूप की प्रशंसा कर, चित्तौड़ पर चढ़ाई

करने को उकसाता है, जिससे रतनसेन कैद होता है। अन्त में पद्मावती के चातुर्य और गोरा और बादल की वीरता से रतनसेन छूट आता है, पर कुम्भलनेर के राजा देवपाल से, जिसने पद्मावती को रतनसेन की कैद के वक्त फुसलाने का प्रयत्न किया, लड़ते-लड़ते मारा जाता है। अन्त में दोनों रानियां शव के साथ सती हो जाती हैं।

यद्यपि इस कहानी में पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है तथापि जायसी ने इन दोनों का ऐसा मिश्रण किया है कि उनके प्रबन्ध-सौष्ठव पर आश्चर्य होता है। दूसरी बड़ी विशेषता इस कहानी में यह है कि इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना हुई है।

संयोग और वियोग शृंगार दोनों का ही वर्णन जायसी ने अत्यन्त सुन्दर किया है। विरह का वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि हिन्दू धर्म की बातों का समावेश है, जिससे मालुम पड़ता है कि जायसी बहुश्रुत थे। जायसी का यह ग्रन्थ ठेठ अवधी भाषा में लिखा हुआ है। इसमें दोहा-चौपाई पद्धति को अपनाया गया है। अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए हुआ है। लोक-जीवन में शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों, मुहावरों और किम्वदंतियों का प्राधान्य रहता है। जायसी के काव्य में इन सबका विपद प्रयोग है। इससे जान पड़ता है कि जायसी इन लोक-जीवन की प्रिय वस्तुओं से परिचित होने के साथ ही स्वयं भी बड़े वाग्पटु थे। जायसी ने मसनवी शैली से प्रभावित होकर कल्पना के प्राचुर्य को अपने काव्य में स्थान दिया है।

जायसी की रचनाओं पर विशद रूप से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूफी प्रेम-काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि किसी सूफी कवि में मिल सकता है तो वे जायसी ही हैं। वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफी धारा का वेदान्त, योग निष्ठ भारतीय रूप उपस्थित किया है। जो कुछ उन्होंने उपस्थित किया है वह उनका अपना है, मौलिक है और शास्त्र-ज्ञान के माध्यम के फलस्वरूप न होकर स्वयं की अनुभूति के माध्यम से उन्हें प्राप्त हुआ है। वेदान्त और योग जायसी के समय की दो महत्त्वपूर्ण धाराएं

थीं। एक तीसरी धारा भक्तिवाद की थी। पद्मावत में राम और कृष्ण की पौराणिक कथाओं के जो निर्देश हैं, उनसे यह स्पष्ट ही है कि जायसी इन पौराणिक महापुरुषों से पूर्ण रूपेण परिचित थे। जायसी ने वेदान्त से मिश्रित सूफी मत से समन्वित एक सामान्य प्रेम-मार्ग की खोज की। जायसी का श्रेय यह है कि उन्होंने विदेशी सूफी विचार धारा को भारतीय दार्शनिक विचारों से समन्वित करके उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप दिया है। प्रेम की पीर को मानव हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। इसी कारण जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में बोलते हुए ज्ञात होते हैं। सूफी भक्ति काव्य में प्रेम की पीर का जो महत्व है इसका जायसी ने बड़े सुन्दर ढंग से अपने काव्यों में प्रतिपादन किया है। उन्हें इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र, हठयोग आदि का थोड़ा बहुत ज्ञान था। धर्म के क्षेत्र में उनकी दृष्टि बड़ी उदार है। वे किसी धर्म का खण्डन-मण्डन नहीं करते हैं। उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का (सूफीमत का) और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है उनका स्थान हिन्दी के सूफी कवियों में सर्वोपरि है। प्रेम काव्य की कुतबन, मंझन आदि से चली आती हुई परम्परा को जायसी ने पुष्ट किया और उसको चरम विकास की स्थिति तक पहुँचाया।

सगुण मत का उद्भव तथा विकास

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में जो रचनाएँ हुईं, उन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़े हैं। निर्गुण उपासक सन्तों की रचनाओं में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का प्रेम मार्गी निर्गुण उपासकों में प्रेम का महत्व प्रतिपादित किया गया है। सगुण भगवान के उपासक भक्त कवियों के हृदयों से जो वाणी इस काल में निसृत हुई, उसमें उन्होंने अपने हृदय का रस घोला है। उनकी कविताओं में हृदय की शुद्ध भक्ति भावना का परिचय मिलता है यह भक्ति भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी, जिसका सम्बन्ध भागवत धर्म से है। सगुण मतवाद को मुख्यतः दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है—भागवत और वाल्मीकि-रामायण। अन्य अनेक स्मार्त-ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है, परन्तु भागवत का प्रभाव अधिक

पड़ा है। भागवत् के कृष्ण केस मकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की और अनेक सिद्धान्त भागवत से लिये हैं यही नहीं उसका काव्य भी उससे प्रभावित है। एक अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है और वह यह है कि जहाँ भागवत में माधुर्य-भाव की प्रधानता है वहाँ तुलसी ने दास्य भाव को अपनाया है। भागवत के भगवान कृष्ण परमेश्वर हैं, अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति तथा प्रलय के कारण हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु ब्रह्म के आदि रूप हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है।

बौद्ध-मत और जैन मत के समान ही वैष्णव मत की भावना धार्मिक सुधार से सम्बन्ध रखती है, जिसका उद्भव ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसी का परिवर्द्धित रूप भागवत् या पंचरात्र धर्म है। नारायण की भावना के मिश्रण से यह धर्म और भी विस्तृत हो गया। जब ८ वीं शताब्दी में शंकर के अद्वैतवाद का जन्म हुआ तो यह धर्म उसके सम्पर्क में आया। वैष्णव धर्म में भक्ति का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसके कारण अद्वैतमत के मायावाद से इसका संघर्ष हुआ। आगे चलकर इसका रूप कुछ अधिक विकसित हुआ और यह रूप रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में प्रदर्शित हुआ। आगे चलकर निम्बार्क ने इसमें विष्णु रूप के स्थान पर कृष्ण रूप की भावना को अधिक महत्व दिया और उसमें राधा के रूप को भी जोड़ दिया। तेहरवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इस भावना को और अधिक विकसित किया तथा द्वैतवाद का प्रचार करके विष्णु के महत्व का प्रतिपादन किया। रामानन्द ने दूसरी ओर विष्णु रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया तथा भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण करके उनके रूप सौन्दर्य पक्ष का महत्व प्रतिपादित किया। बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति में भी बाल कृष्ण की भावना पर जोर दिया।

नामदेव और तुकाराम नाम के सगुण सन्तों ने निम्बार्क के राधा कृष्ण को न मानकर विष्णु के विट्ठल या विठोबा नाम की उद्भावना करके उनकी उपासना और शास्त्रीय भक्ति के महत्व को प्रतिपादित किया।

दक्षिण से वैष्णव धर्म के प्रचार की लहर उत्तर-भारत में आई। इस धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों का कार्य स्तुत्य है। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। इनके बाद कुछ अन्य आचार्यों ने भी वैष्णव धर्म की उन्नति किया। इन आचार्यों में रामानन्द चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रमुख थे। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इन सभी आचार्यों में निम्नलिखित सामान्य भावनाएँ मिलती हैं :—

१—"जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" सिद्धान्त के अनुसार ये सभी आचार्य भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं मानते यद्यपि ब्राह्मण जाति सभी जातियों से श्रेष्ठ है, पर शूद्र होने से ही कोई भगवद् भक्ति के अधिकार से च्युत नहीं हो जाता। ये आचार्य वैसे जाति की श्रेष्ठता का महत्व प्रतिपादन करते थे, किन्तु भक्ति का सभी को समान अधिकार मानते थे।

२—अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण—किसी न किसी रूप में अवश्य भिन्न है। रामानुज ने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की भावना उपस्थित की। इसी प्रकार मध्वाचार्य ने यद्यपि जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से ही मानी है, किन्तु ब्रह्म को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र माना है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों के सिद्धान्त भी अद्वैतवाद से भिन्न हैं।

३—गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है—उसका सम्मान संसार की सभी वस्तुओं से अधिक है। तुलसी और सूर इन्हीं आचार्यों की शिष्य परम्परा में थे। उन्होंने गुरु को बड़ी महत्ता दी है। इन आचार्यों ने गुरु को सच्चा मार्ग प्रदर्शक माना है, और उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है।

४—भक्ति का चरम उद्देश्य—गोलोक अथवा बैकुन्ठ प्राप्ति है। ये आचार्य ईश्वर की भक्ति की चरम परिणति मोक्ष में मानते हैं। इनकी ईश्वर भक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए है।

रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति और ज्ञान पर ही जोर दिया है! उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु रूप के स्थान पर राम रूप

की भावना को अधिक प्रश्रय दिया। शेष तीन आचार्य निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी ने विष्णु रूप के स्थान पर कृष्ण रूप की भावना को अपनाया। उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। रामानुज की भक्ति में चिन्तन और ज्ञान का विशेष स्थान है। अन्य तीन आचार्यों ने ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया। उन्होंने श्रवण, कीर्तन स्मरण, अर्चन, वन्दन और आत्म-निवेदन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। उनकी भक्ति पूर्णरूपेण प्रेम पर आधारित है। इस प्रकार रामानुज अपने सिद्धान्तों में ज्ञान और भक्ति का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, अन्य आचार्य केवल आत्म समर्पणमय भक्ति को। इस प्रकार सगुण मत का विकास होता गया। इसके साथ ही भाषा भी जन-साधारण की अपनायी जाने लगी। यह भक्ति युग के प्रारम्भ का साहित्यिक वातावरण अस्त-व्यस्त था किन्तु इस युग में भक्ति की धारा का रूप प्रधानता प्राप्त कर रहा था।



सगुण मत के सिद्धान्त

भक्ति काल के सगुण धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों ने सहयोग दिया। वे थे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्क। इनके पश्चात् कुछ आचार्य और हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म को व्यापक बनाया। इनमें रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। मध्य-युग के सगुण भाव में भजन करने वाले भक्तों की बात ठीक ठीक समझने के लिये उनके शास्त्रिय मतवाद का जानना आवश्यक है। सगुण भक्तों का उपजीव्य ग्रन्थ भागवत पुराण रहा है। सगुण धर्म का प्रचार करने वाले आचार्यों ने अपने मत की पुष्टि के लिए इसी के वचन उद्धृत किये हैं। इस महापुराण ने रामायण और महाभारत की भाँति समस्त भारतीय चिन्ता को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। इस भागवत पुराण के अनुसार वैकुण्ठ आदि धर्मों में भगवान तीन रूप से निवास करते हैं—स्वयंरूप, तदेकात्म-

रूप और आवेशरूप। कृष्ण और राम स्वयंरूप हैं। मत्स्य, वाराह आदि लीलावतार तदेकात्मकरूप और नारद, शेष, सनक आदि आवेश रूप हैं। संक्षेप में सगुण मत के सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१—सगुणोपासना—ब्रह्म के दो रूप हैं; निर्गुण और सगुण। इनमें निर्गुण रूप सगुण रूप की अपेक्षा दुर्लभ है। इसलिए सगुण भगवान के सुगम, और फिर भी अगम, चरित्र को सुनकर भक्त लोग उनमें अनुरक्त होते हैं। तुलसीदास ने उत्तर कांड में कहा भी है :—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥

इस प्रकार जो भगवान अगुण, अरूप अलख और अज हैं वही भगवान भक्त के प्रेमवश सगुण रूप धारण करते हैं। सगुण रूप की महत्ता के प्रतिपादन में एक स्थान पर भागवत् में लिखा भी है "हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी विशुद्ध चित्त द्वारा तुम्हारे निर्विकार रूप-हीन विज्ञान-वस्तु के रूप में अगुण ब्रह्म की महिमा कदाचित समझ में आ भी जाय तो भी इस विश्व के लिए अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूप की गुणावली गिनने में कौन समर्थ होगा ? जो अति निपुण हैं वे भी यदि दीर्घ काल तक गिनें तो पृथ्वी के परमाणु, आकाश के हिमकण और सूर्यादि की किरणें गिन सकते हैं, पर ये भी तुम्हारे सगुण रूप के गुणों की गणना नहीं कर सकते"। इस प्रकार सभी सगुण भक्तों ने भगवान के सगुण रूप की उपासना को अधिक प्रश्रय दिया है।

२—अवतार—सगुण भक्त भगवान के अवतार की कल्पना करते हैं। भगवान का अवतार मुख्यतः भक्तों के लिए ही होता है। गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब मैं अपने आपको मनुष्य रूप में सृष्ट करता हूँ। इस प्रकार सभी सगुण सन्त भगवान के मनुष्य रूप में अवतार लेने की बात को मानते हैं। अवतार का मुख्य हेतु भक्तों के लिए लीला का विस्तार करना ही है। यह लीला दो प्रकार की—प्रकट और अप्रकट होती है। सगुण भक्तों के भगवान की प्रकट लीला का ही मान किया

है। वृन्दावन में भगवान गोपियों के साथ नित्य लीला में रत हैं यह सगुण भक्तों की मान्यता है।

३—भगवान की लीला—भगवान की लीला माधुरी चार प्रकार की है। ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीड़ा माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह माधुरी। भागवत् में भगवान की वेणु-माधुरी का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। भगवान की वेणु-लीला को उसमें अचिन्त्य बताया गया है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने इस वेणु-निनाद का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। भगवान् की क्रीड़ा-माधुरी में गोपीलीला सर्वश्रेष्ट है। भगवान की विग्रह-माधुरी या रूप-माधुरी का वर्णन सभी सगुण भक्तों ने किया है। सभी मनुष्य इस रूप माधुरी के दर्शन से मुग्ध होते हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान के ईश्वर-रस की प्रधानता है।

४—भक्ति का रूप—भक्ति के दो रूप हैं, रागानुगा और वैधी। तुलसीदास ने कहा है कि भगवान अखण्ड ज्ञान-स्वरूप है और जीव मायावश अज्ञानी। जीव मायावश है और भगवान स्ववश। जो भक्त भगवान के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रखते हैं। उनकी भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। रागानुगा भक्ति में तन्मयता को अधिक स्थान मिला है। वह एकान्तिक भक्ति है जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं देखती। वह 'विपयाशक्ति का ही एक रूप है तथा इस भक्ति के अधिकारी केवल ब्रजवासी ही हैं। वैधी भक्ति में भक्त की कर्त्तव्य बुद्धि सदैव जाग्रत रहती है और वह अन्त तक विधि नियमों का पालन करता जाता है। परन्तु रागानुगा-भक्ति में भी कुछ बन्धन है। जब तक भक्त तन्मयता की अवस्था को नहीं पहुँच जाता तब तक यह बन्धन निषेध इस प्रकार है:—

१—हरि विमुख लोगों का संग त्याग।
२—शिष्य, संगी, भृत्य आदि द्वारा किया हुआ अनुबन्ध।
३—महारम्भ का उद्यम।
४—नाना ग्रन्थ, कलाओं और वाद्यों का अभ्यास।
५—कृपणता।
६—शोकादि के वशीभूत होना।

७—अन्य देवता के प्रति अवज्ञा।

८—जीवों को उद्विग्न करना।

९—सेवापराध अर्थात् यत्न का अभाव, अवज्ञा, निष्ठा का अभाव आदि।

१०—नामापराध—अर्थात साधुनिन्दा, शिव और विष्णु का पृथकत्व-चिन्तन, गुरु अवज्ञा देवादि निन्दा, नाम महात्म्य के प्रति अनस्था, हरि नाम की नाना विधि अर्थ-कल्पना, नाम, जप और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को नामोपदेश, नाम के प्रति अप्रीति।

वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—श्रद्धावन, नैष्ठिक और रुचि युक्त। ये लोग दो मूल तत्व और पाँच अंगों को स्वीकार करते हैं। दो मूल तत्व हैं:—

१—भगवान ही एकमात्र जीवों का स्मर्तव्य है और जो कर्म भगवान के स्मरण में सहायक हैं, भक्त के लिये वही वैद्य है।

२—भगवान को भूल जाना अमंगल है और इसमें सहायक सभी कर्म त्याज्य हैं।

वैध भक्ति के पाँच अङ्ग इस प्रकार हैं:—

१—भगवान की मूर्तियों की सेवा।

२—कथा-सत्संग।

३—साधु संग।

४—नाम कीर्तन और

५—व्रज में वास करना।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं—ॐमहात्मासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणसक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, ये पाँचों भगवत प्रेम की पूर्ण अवस्थाएँ हैं। यह प्रेम क्रम से उदय होता है:—

१—श्रद्धा की उत्पत्ति।
२—साधु संग।
३—भजन क्रिया।
४—अनर्थ-निवृत्ति।
५—निष्ठा।
६—रुचि।
७—आसक्ति प्रभाव और फिर पूर्ण प्रेम का उदय।

५—भगवान का स्वरूप—भगवान के तीन रूप हैं। क्षमावान रूप, शरणागत-वत्सलरूप और करुणायतन रूप। इन्ही स्वरूपों के द्वारा भगवान भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा करके उसे मोक्ष देते हैं।

६—मोक्ष—सगुण भक्तों की भक्ति का चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। भक्त लोग भगवान की भक्ति में लीन होकर अन्तःमोक्ष की प्राप्ति करते हैं। उनकी सगुण भक्ति के अनुसार भगवान सगुण अवतार लेकर भक्तों के दुःख को दूर करते हैं तथा अन्त में भक्तों से प्रसन्न होकर गोलोकवास या बैकुंठवास देते हैं। यही इनकी भक्ति की चरम परिणित है।

—:*:—

राम भक्ति का उद्भव तथा विकास

रामोपासना का प्रचार कदाचित् अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापक रूप में चला आ रहा है। वैष्णव-भक्ति में राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति से अधिक प्राचीन है। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित वैष्णव-सम्प्रदाय की गद्दी के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी थे, उन्होंने अपने अन्त समय में स्वामी रामानन्द को दीक्षित किया। उत्तरी भारत में राम-भक्ति का जो प्रचार हुआ उनका एक मात्र श्रेय इन्हीं रामानन्द स्वामी को है। रामानंद के पूर्व यद्यपि रामानुजाचार्य भी रामोपासक हो गए थे परन्तु उन्होंने ज्ञान-कर्म समन्वित विशिष्टाद्वैत की उपासना को प्रधानता दी है और राम को नारायण

और विष्णु के रूप में माना है तथापि रामभक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गए ।

रामानन्द यद्यपि रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही थे तथापि उन्होंने भगवान के विष्णु के रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया। इन्होंने वैष्णव धर्म में तीन बड़े सुधार किये। एक तो उन्होंने भक्तिमार्ग में जाति-भेद की संकीर्णता मिटाई, दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में अपने मत का प्रचार किया तथा तीसरे लोक मर्यादानुकूल सदाचार मूलक राम-भक्ति पर जोर दिया। उनके अनुसार भक्त कोई ऐतिहासिक नहीं जो यह देखने की चेष्टा करे कि कृष्ण अधिक प्राचीन हैं अथवा राम। भक्त तो हृदयगत भावों के अनुकूल अपने आराध्य परमात्मा का एक सच्चिदानन्द मय रूप चाहता है। उस रूप को जिसकी इच्छा हो कृष्ण माने या राम। कृष्ण की उपासना करने वालों में अतिमानवी विषयों की भरमार थी, क्योंकि कृष्ण के चरित्र में अलौकिकता थी। रामचरित में मर्यादा पुरुषोत्तमता थी अतः रामोपासक उनके आदर्श रूप को सामने रखकर उनका अनुकरण कर सकते थे। इसीलिए भावुक भक्तों ने संस्कृत रामायणों और रामपूजा परक उपनिषदों के विषय में विशेष छानबीन न करके रामभक्ति को श्रद्धा पूर्वक अपना लिया।

रामानन्द के समकालीन नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया। उत्तर भारत में सदन और वैनी ने भी इसी प्रकार का काम किया।

रामानन्द की अधिकांश शिक्षा मौखिक जान पड़ती है, अतः उनके शिष्यों के मत से हम उनका मत निकाल सकते हैं। रामानन्द सगुण राम के उपासक थे परन्तु राम को विष्णु का अवतार न मानकर परात्पर ब्रह्म का अवतार मानने के कारण उनकी रामोपासना में निर्गुण ब्रह्म का भी कुछ अंश आ जाता था। रामानन्द ने कोई सम्प्रदाय विशेष खड़ा नहीं किया परन्तु उनकी सहिष्णुता के कारण उनकी रामोपासना स्मार्तों में बिना सम्प्रदाय भेद के फैली। रामानन्द के बाद, युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, उनके निर्गुणी शिष्यों ने राम के नए अर्थ किए और राम के अवतार पर चोट की। कबीर ने कहा—

१—श्रद्धा की उत्पत्ति।

२—साधु संग।

३—भजन क्रिया।

४—अनर्थ-निवृत्ति।

५—निष्ठा।

६—रुचि।

७—आसक्ति प्रभाव और फिर पूर्ण प्रेम का उदय।

५—भगवान का स्वरूप—भगवान के तीन रूप हैं। क्षमावान रूप, शरणागत-वत्सलरूप और करुणायतन रूप। इन्हीं स्वरूपों के द्वारा भगवान भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा करके उसे मोक्ष देते हैं।

६—मोक्ष—सगुण भक्तों की भक्ति का चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। भक्त लोग भगवान की भक्ति में लीन होकर अन्तःमोक्ष की प्राप्ति करते हैं। उनकी सगुण भक्ति के अनुसार भगवान सगुण अवतार लेकर भक्तों के दुःख को दूर करते हैं तथा अन्त में भक्तों से प्रसन्न होकर गोलोकवास या वैकुण्ठवास देते हैं। यही इनकी भक्ति की चरम परिणति है।

—:•※•:—

राम भक्ति का उद्भव तथा विकास

रामोपासना का प्रचार कदाचित् अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापक रूप में चला आ रहा है। वैष्णव-भक्ति में राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति से अधिक प्राचीन है। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित वैष्णव-सम्प्रदाय की गद्दी के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी थे, उन्होंने अपने अन्त समय में स्वामी रामानन्द को दीक्षित किया। उत्तरी भारत में राम-भक्ति का जो प्रचार हुआ उनका एक मात्र श्रेय इन्हीं रामानन्द स्वामी को है। रामानंद के पूर्व यद्यपि रामानुजाचार्य भी रामोपासक हो गए थे परन्तु उन्होंने ज्ञान-कर्म समन्वित विशिष्टाद्वैत की उपासना को प्रधानता दी है और राम को नारायण

और विष्णु के रूप में माना है तथापि रामभक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गए।

रामानन्द यद्यपि रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही थे तथापि उन्होंने भगवान के विष्णु के रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया। इन्होंने वैष्णव धर्म में तीन बड़े सुधार किये। एक तो उन्होंने भक्तिमार्ग में जाति-भेद की संकीर्णता मिटाई, दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में अपने मत का प्रचार किया तथा तीसरे लोक मर्यादानुकूल सदाचार मूलक राम-भक्ति पर जोर दिया। उनके अनुसार भक्त कोई ऐतिहासिक नहीं जो यह देखने की चेष्टा करे कि कृष्ण अधिक प्राचीन हैं अथवा राम। भक्त तो हृदयगत भावों के अनुकूल अपने आराध्य परमात्मा का एक सच्चिदानन्द मय रूप चाहता है। उस रूप को जिसकी इच्छा हो कृष्ण माने या राम। कृष्ण की उपासना करने वालों में अतिनानजी विषयों की भरमार थी, क्योंकि कृष्ण के चरित्र में अलौकिकता थी। रामचरित में मर्यादा पुरुषोत्तमता थी अतः रामोपासक उनके आदर्श रूप को सामने रखकर उनका अनुकरण कर सकते थे। इसीलिए भावुक भक्तों ने संस्कृत रामायणों और रामपूजा परक उपनिषदों के विषय में विशेष छानबीन न करके रामभक्ति को श्रद्धा पूर्वक अपना लिया।

रामानन्द के समकालीन नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया। उत्तर भारत में सदन और वैनी ने भी इसी प्रकार का काम किया।

रामानन्द की अधिकांश शिक्षा मौखिक जान पड़ती है, अतः उनके शिष्यों के मत से हम उनका मत निकाल सकते हैं। रामानन्द सगुण राम के उपासक थे परन्तु राम को विष्णु का अवतार न मानकर परात्पर ब्रह्म का अवतार मानने के कारण उनकी रामोपासना में निर्गुण ब्रह्म का भी कुछ अंश आ जाता था। रामानन्द ने कोई सम्प्रदाय विशेष खड़ा नहीं किया परन्तु उनकी सहिष्णुता के कारण उनका रामोपासना स्मार्तों में बिना सम्प्रदाय भेद के फैली। रामानन्द के बाद, युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, उनके निर्गुणी शिष्यों ने राम के नए अर्थ किए और राम के अवतार पर चोट की। कबीर ने कहा—

रचना उनके मानस की समानता में प्रसिद्ध प्राप्त न कर सकी। इस प्रकार तुलसी की काव्य-रचना की उत्कृष्टता आने वाले कवियों को इस विषय पर प्रसिद्धि प्राप्त करने का अवसर न दे सकी। इतना अवश्य है कि राम साहित्य में तुलसी की रचना कवियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करती रही।

तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है उतनी हिन्दी साहित्य के किसी अन्य कवि ने नहीं की। इसके साथ ही उन्होंने लोक-संग्रह का भी पूर्ण ध्यान रक्खा है। लोक-संग्रह को ध्यान में रखकर उन्होंने ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो सार्वभौमिक है। उन्होंने इन आदर्शों की भित्ति पर अपनी भक्ति के स्वरूप की इतनी सुन्दर विवेचना की है कि वह तत्कालीन धार्मिक अव्यवस्था में पथ-प्रदर्शन का कार्य कर गई। भक्ति काल की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय-वाद है, जिसका तुलसीदास के काव्य में पूर्ण परिपाक हुआ है। उन्होंने धार्मिक सामाजिक और दार्शनिक सभी भावनाओं का अपूर्व समन्वय किया है। धर्म के क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय का उन्होंने बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम और आश्रय चतुष्टय का सुन्दर समन्वय उनके काव्य में दृष्टिगोचर होता है। एक वर्ण दूसरे का विरोधी न होकर पूरक है, और इसी प्रकार एक आश्रम दूसरे आश्रम का पूरक है। इन सभी में समन्वय दिखाया है। दार्शनिक क्षेत्र में उन्होंने अद्वैतवाद, द्वैतवाद, और विशिष्टा-द्वैतवाद आदि मतों का समन्वय स्थापित करके ब्रह्म की भावना को स्पष्ट किया।

इसी प्रकार काव्य कौशल की दृष्टि से देखने पर भी हमें मालुम पड़ता है कि तुलसीदास का काव्य राम-भक्ति शाखा के समस्त काव्य में सर्वश्रेष्ठ है। भाव पक्ष की दृष्टि से गोस्वामीजी ने मानव हृदय के सभी भावों का सुन्दर चित्रण किया है। मानव-जीवन के सभी मार्मिक स्थलों को उन्होंने पहचाना है। मानव-जीवन के जितने चित्र तुलसीदास के काव्य में मिलते हैं, उतने हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ हैं। कला की दृष्टि से शैली, अलंकार, छन्द, भाषा का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। आपने दोहा, चौपाई पद्धति को अपनाकर उसमें एक नवीन माधुर्य भर दिया है। रसानुगुण भाषा के प्रयोग से काव्य सौन्दर्य का उत्कर्ष हुआ है। [illegible]नका अवधी व ब्रज दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। अलंकारों का

प्रयोग गोस्वामी जी ने भावों के उत्कर्ष के लिए किया है। तुलसी ने अपने समय की प्रचलित प्रायः सभी काव्य-पद्धतियों को और विचारधाराओं को अपनाकर युग का प्रतिनिधित्व किया है।

तुलसीदास के काव्य के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपने काव्य का नायक बनाया है, अतः उनका काव्य भी मर्यादित है। शृंगार रस के वर्णन के अवसरों पर वे बहुत सतर्क रहते हैं। पहले तो तुलसीदास ने ऐसे स्थलों का पूर्ण बहिष्कार किया है और अगर कहीं शृंगार रस का वर्णन आ भी गया है तो वह बहुत मर्यादित है। उदाहरण के लिए जनक-वाटिका में सीता-राम मिलन का प्रसंग।

इस प्रकार तुलसीदास का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है। आप राम भक्ति शाखा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। तुलसीदास जी के बाद भी राम भक्ति काव्य की परम्परा चलती रही परन्तु जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है तुलसी की काव्य-रचना की उत्कृष्टता आने वाले कवियों को प्रसिद्धि का अवसर न दे सकी।

तुलसी के बाद रामभक्ति शाखा के दूसरे कवि कृष्णदास पयाहारी के शिष्य स्वामी अग्रदास हुए। आपके लिखे हुए चार ग्रंथ हैं। हितोपदेश उपखाणां-बावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यान-मंजरी, कुण्डलियाँ। इनकी काव्य-कला का अधिक विकास नहीं हुआ है।

स्वामी अग्रदास के शिष्य नाभादास बड़े भक्त और सन्त थे। नाभादास जी का 'भक्तमाल' भक्तों का प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसमें साम्प्रदायिकता का विभेद त्याग कर अनेक महात्माओं की जीवनी और कीर्ति वर्णित की गई है नाभादास की एक अन्य पुस्तक भी रामभक्ति पर मिली है। आपकी कविता में राम-भक्ति की कथा के साथ ही काव्य कला का पूर्ण परिपाक हुआ है। आपने अवधी भाषा में काव्य रचना की है।

नाभादास के उपरांत प्राणचन्द चौहान और हृदय राम का समय आता है। इन दोनों कवियों ने नाटकों की शैली में राम कथा का वर्णन किया है। इनके द्वारा सिद्ध होता है कि राम-भक्ति की कविता प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों के

अतिरिक्त दृश्य काव्य की शैली पर भी लिखी गई है। प्राणचन्द और हृदयराम ने क्रमशः रामायण और हनुमन्नाटक की रचना की है। हृदयराम के सम्वाद कवित्त और सवैया के रूप में मिलते हैं। इन दोनों रामभक्ति शाखा के कवियों में हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ और प्रसिद्ध हुई।

हनुमान की भक्ति भी राम भक्ति का ही एक अंग रही तुलसीदास ने हनुमान बाहुक की रचना की। इस प्रकार की पुस्तकों में रायमल पाण्डे का लिखा हनुमान चरित्र प्रसिद्ध है।

यहाँ हम केशवदास आदि कवियों की रामचन्द्रिका की श्रेणी की अन्य पुस्तकों का उल्लेख नहीं करेंगे क्योंकि इनके रचयिता कवि राम भक्त नहीं थे, वरन् कविता के लिए ही कविता करते थे, अतः उनके काव्य भक्ति काव्य नहीं कहे जा सकते।

इनके अतिरिक्त अन्य राम भक्त कवियों में लालदास प्रियादास, कलानिधि, जानकीरसिकशरण, बाबा रामचरणदास, महाराज विश्वनाथ, महाराज रघुराजसिंह आदि प्रसिद्धि हैं इनमें बाबा रामचरणदास, रघुनाथदास और रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह की रचनाएँ सुन्दर हुई हैं।

१६ वीं शताब्दी के अन्त में रामभक्ति का एक और समुदाय स्थापित हो गया जिसमें अश्लील रचनाएँ हुईं। अतः वे भक्ति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आती हैं। निदान, हम कह सकते हैं, कि यदि राम-भक्ति-शाखा के कवियों में किसी का काव्य उत्कृष्ट है तो वह तुलसी का, उनका राम-भक्ति-शाखा के कवियों में सर्वोपरि स्थान है। वास्तव में राम भक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई है कि उनके पीछे के राम भक्त कवियों की अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामीजी के आलोक के सामने वे फीके दीख पड़ते हैं।

—:-*-:—

राम-साहित्य का आगे विकास क्यों न हो सका ?

राम-साहित्य हिन्दी के इतिहास में उसी प्रकार अपना विकास नहीं कर सका जिस प्रकार कृष्ण-साहित्य। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह एक खटकने वाली बात है कि जिस राम साहित्य में तुलसी जैसे प्रतिभाशाली कवि और 'राम चरितमानस' जैसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना हुई हो उसका विकास आगे के लिए रुक गया। इसका विशेष कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ हैं। उस समय की स्थिति ही ऐसी थी कि राम-काव्य को कृष्ण-काव्य के सम्मुख नत मस्तक होना पड़ा। जिन-जिन कारणों से राम-काव्य की धारा अवरुद्ध हुई वे निम्न-लिखित हैं:—

१—राम-साहित्य की गंभीरता और मर्य्यादा:—

राम-काव्य के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा उसकी गंभीरता और मर्य्यादा ने उपस्थित की। राम-काव्य में गुरुता और नैतिकता के उच्च स्तर के कारण उसका जनसाधारण के हृदय से सम्बन्ध टूट गया। मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने के लिए जिस रागात्मक तत्व की आवश्यकता होती है उसका तुलसीदास के बाद के राम-काव्यकारों की रचनाओं में नितांत अभाव मिलता है। इन कवियों ने राम के मर्य्यादापुरुषोत्तम रूप का तो चित्रण किया, किन्तु उनके मधुर व्यक्तित्व को एकदम भुला दिया।

इस मधुर-व्यक्तित्व की अवहेलना का दूसरा कारण यह भी है कि राम का चरित्र ही केवल लोक-संग्रह का संगठित रूप है तथा उसमें कृष्ण-चरित्र की भाँति मधुरता और कोमलता के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल तुलसीदास ही राम-भक्ति शाखा में ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से राम के लोक-कल्याणकारी तथा लोकरंजक दोनों रूपों का समन्वय अपने 'रामचरितमानस' में किया। उनके बाद के कवि इस बात का निर्वाह न कर सके। इस प्रकार राम-काव्य अपने गाम्भीर्य और मर्य्यादावाद के कारण तुलसीदास के पश्चात् विकसित नहीं हुआ।

२—तुलसीदास का अद्वितीय काव्य-कौशल:—

रामभक्ति काव्य के विकासहीन हो जाने का दूसरा कारण गोस्वामी तुलसी दास का अद्वितीय काव्य-कौशल है। रामभक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदास

की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि उनके पीछे के रामभक्त कवियों को अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामी जी के आलोक के सामने अन्य कवि प्रभाहीन पड़ जाते हैं। उनके काव्य-कौशल के आगे अन्य कवियों को राम-कथा के वर्णन करने का साहस ही न हुआ। इसके अतिरिक्त तुलसीदास में राम-काव्य का चरम विकास दीख पड़ने से जनता की चित्त-वृत्ति तुलसीदास को छोड़कर अन्य कवियों की रचनाओं में रमी ही नहीं। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास का काव्य-कौशल राममक्ति-काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुआ या हम यह कह सकते हैं कि तुलसी ने राम काव्य को चरम विकास की अवस्था पर पहुँचा दिया था इस लिए अन्य कवियों ने उस पर लेखनी उठाना ठीक न समझा।

३—तत्कालीन परिस्थितियाँ:—

रामभक्ति-शाखा के काव्य के विकास में तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बाधक सिद्ध हुईं। उस समय की जनता की वृत्ति बहुत कुछ भगवान के मधुर रूप की ओर ही उन्मुख होती जा रही थी। राम-काव्य में भगवान के लोक-रक्षक रूप को ही महत्ता दी गई है तथा लोक-रंजक रूप का गौण स्थान है। इसी प्रकार राम-काव्य जनता की चित्तवृत्ति को संतुष्ट न करने के कारण विकसित नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त उस समय की जनता का ध्यान तुलसी के 'रामचरित-मानस' ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि अन्य रामभक्त कवियों की रचनाएँ उन्हें आकर्षित न कर सकीं।

४—कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता:—

कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता के कारण भी राम-काव्य का विकास रुक गया। उस समय कृष्ण-काव्य जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल ही था। उसमें कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का पूर्ण स्पष्टीकरण हुआ है। राम-काव्यकारों को वे सुविधाएँ प्राप्त न हो सकीं, जो राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के कारण कृष्ण-काव्यकारों को प्राप्त थीं। उस समय जनता का ध्यान कृष्ण-काव्य की ओर जितना ही आकृष्ट होता चला जा रहा था उतना ही राम-काव्य से उसकी गंभीरता तथा मर्यादा के कारण हटता चला जा रहा था। संभव है कि कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता राम-काव्यधारा के विकास में बाधक बन गई हो।

कृष्ण-भक्ति शाखा का उद्भव तथा विकास

जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम-भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णु स्वामी के आदर्शों को सामने रखकर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति 'भागवत पुराण' से ली गई है जिसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्व है, आत्म-चिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। ऋगवेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम कई स्थल पर आया है। यजुर्वेद में भी कृष्णकेसी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण का उल्लेख है जिन्हें ऋषि अंगिरस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई जो एक ऐतिहासिक पुरुष, द्वारका के राजा तथा महाभारत के कराने वाले समझे जाते थे। वैदिक कृष्ण और उपनिषद् के कृष्ण से इनका योग हुआ और कदाचित इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। पतंजलि के समय में वासुदेव धर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

निम्बार्क से पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग चलाया शुद्धाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग के योग से उन्होंने श्री को ब्रह्म मानकर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत् चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यवहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली परमार्थिक रूप

की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि उनके पीछे के रामभक्त कवियों को अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामी जी के आलोक के सामने अन्य कवि प्रभाहीन पड़ जाते हैं। उनके काव्य-कौशल के आगे अन्य कवियों को राम-कथा के वर्णन करने का साहस ही न हुआ। इसके अतिरिक्त तुलसीदास में राम-काव्य का चरम विकास दीख पड़ने से जनता की चित्त-वृत्ति तुलसीदास को छोड़कर अन्य कवियों की रचनाओं में रमी ही नहीं। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास का काव्य-कौशल रामभक्ति-काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुआ या हम यह कह सकते हैं कि तुलसी ने राम काव्य को चरम विकास की अवस्था पर पहुंचा दिया था इस लिए अन्य कवियों ने उस पर लेखनी उठाना ठीक न समझा।

३—तत्कालीन परिस्थितियाँ:—

रामभक्ति-शाखा के काव्य के विकास में तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बाधक सिद्ध हुईं। उस समय की जनता की वृत्ति बहुत कुछ भगवान के मधुर रूप की ओर ही उन्मुख होती जा रही थी। राम-काव्य में भगवान के लोक-रक्षक रूप को ही महत्ता दी गई है तथा लोक-रंजक रूप का गौण स्थान है। इसी प्रकार राम-काव्य जनता की चित्तवृत्ति को संतुष्ट न करने के कारण विकसित नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त उस समय की जनता का ध्यान तुलसी के 'रामचरित-मानस' ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि अन्य रामभक्त कवियों की रचनाएँ उन्हें आकर्षित न कर सकीं।

४—कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता:—

कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता के कारण भी राम-काव्य का विकास रुक गया। उस समय कृष्ण-काव्य जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल ही था। उसमें कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का पूर्ण स्पष्टीकरण हुआ है। राम-काव्यकारों को वे सुविधाएँ प्राप्त न हो सकीं, जो राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के कारण कृष्ण-काव्यकारों को प्राप्त थीं। उस समय जनता का ध्यान कृष्ण-काव्य की ओर जितना ही आकृष्ट होता चला जा रहा था उतना ही राम-काव्य से उसकी गंभीरता तथा मर्यादा के कारण हटता चला जा रहा था। संभव है कि कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता राम-काव्यधारा के विकास में बाधक बन गई हो।

कृष्ण-भक्ति शाखा का उद्भव तथा विकास

जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम-भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णु स्वामी के आदर्शों को सामने रखकर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति 'भागवत पुराण' से ली गई है जिसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्व है, आत्म-चिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। ऋगवेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम कई स्थल पर आया है। यजुर्वेद में भी कृष्णकेसी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद में भी एक कृष्ण का उल्लेख है जिन्हें ऋषि अंगरिस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई जो एक ऐतिहासिक पुरुष, द्वारका के राजा तथा महाभारत के कराने वाले समझे जाते थे। वैदिक कृष्ण और उपनिषद के कृष्ण से इनका योग हुआ और कदाचित इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। पतंजलि के समय में वासुदेव धर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

निम्बार्क से पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग चलाया शुद्धाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग के योग से उन्होंने श्री को ब्रह्म मानकर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत् चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यवहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली परमार्थिक रूप

बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। वल्लभ ने प्रेम-लक्षणा भक्ति को ही अपनाया।

इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म और दिव्यगुण-सम्पन्न 'पुरुषोत्तम' माना है। उनके लोक को वैकुण्ठ माना है, जिसका गोलोक एक खण्ड है। इसके अन्तर्गत वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन, निकुंज आदि सभी आते हैं और इनमें कृष्णजी अलक्ष भाव से गोचारण रास क्रीड़ा किया करते हैं। इस नित्य क्रीडा स्थल में यदि जीव प्रविष्ट हो पाता है तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। जीव का इसमें प्रविष्ट होना भगवदनुग्रह से होता है। इस भगवदनुग्रह को ही ये पोषण या पुष्टिमार्ग मानते थे। वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का बहुत अधिक प्रचार किया और उसे शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया।

वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव दीक्षित हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। इसमें अष्टछाप के कवि बहुत प्रसिद्ध हैं जिसकी स्थापना श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने की थी। उसी अष्टछाप में सूरदास, नन्ददास आदि व्रजभाषा और कृष्ण-भक्ति के श्रेष्ठ कवि थे। वल्लभाचार्य की गद्दी व्रज भूमि में थी जहाँ से उन्होंने कृष्ण भक्ति का खूब प्रचार किया। रामानुजाचार्य के समान वल्लभाचार्य ने भी भारत में बहुत से भागों में पर्याप्त पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। कृष्ण भक्ति के प्रचार में अन्य सम्प्रदाय के कृष्ण भक्तों ने भी बहुत योग दिया। श्री वल्लभाचार्य से प्रभावित होकर जिन कवियों ने श्री कृष्ण-भक्ति पर रचना की उनमें सूरदास का प्रमुख स्थान है। भक्त कवि सूरदास ने कृष्ण-भक्ति के प्रचार में अपूर्व सहयोग दिया। सूरदास के बाद भी यह परम्परा चलती रही।

—:-*-:—

वल्लभाचार्य के सिद्धान्त

श्री वल्लभाचार्य ने सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए जीव को कृष्ण-सेवा का उपदेश दिया है। जब तक सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध नहीं होता, तब तक जीव को दिव्य प्रेम की सिद्धि

भी प्राप्त नहीं हो सकती। उस सिद्धि को प्राप्त किये बिना श्रुतियों की गति दुर्लभ है, अतः निरन्तर कृष्ण-सेवा करना ही प्रेम जिज्ञासु जीवों के लिए एक मात्र कर्त्तव्य कहा गया है।

वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। आचार्य ब्रह्म में दो अचिन्त्य शक्तियाँ मानते हैं—एक आविर्भाव की दूसरी तिरोभाव की। उसके सत्, चित्त् और आनन्द तीन स्वरूप हैं। वह अपनी शक्ति द्वारा जगत् के रूप में परिणित भी हो जाता है और परे भी रहता है। वह अपने स्वरूप का कहीं अविर्भाव और कहीं तिरोभाव किए रहता है। जीव के रूप में उसका सत् और चित् आविर्भूत रहता है और आनन्द तिरोभूत। जड़ में सत् ही आविर्भूत रहता है शेष दोनों तिरोभूत। इस प्रकार उन्होंने शंकर अद्वैत को मायावाद में शुद्ध करके अपने मत का प्रतिपादन किया। अतः इनका मत शुद्धाद्वैत कहलाया।

जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में उनका साधना मार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। दार्शनिक सिद्धान्त के वल्लभाचार्य चाहे विष्णु-स्वामी के ऋणी रहे हों, किन्तु अपने साधन-वर्ग की व्यवस्था स्वयं उनकी वस्तु है। वल्लभाचार्य का मत है कि 'पुष्टि-मार्ग भगवान के अनुग्रह से ही साध्य है।' पुष्टि मार्ग के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी ने 'श्री पुष्टिमार्ग लक्षणानि' नामक लेख में पुष्टिमार्ग का इस प्रकार परिचय दिया है—

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्री कृष्ण के स्वरूप प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। और जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध बनते हैं, जिस भगवान की इच्छा के बल पर फलरूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत्-विरह-अवस्था में भगवान की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान को समर्पण है, वह पुष्टि मार्ग कहलाता है।

पुष्टि मार्गी सिद्धान्तों की सम्यक् निष्पत्ति के लिए हमें वल्लभाचार्य के कृष्ण, आत्मा, प्रकृति और मुक्ति सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कर लेनी चाहिये।

कृष्ण—वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण परब्रह्म है। वही संसार का पालन पोषण और संहार करते हैं। वही सृष्टि का उपादान कारण व स्वयं सच्चिदानंद स्वरूप हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई। जीव में कृष्ण के सत् और चित् गुणों का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु आनन्द-तत्व का तिरोभाव रहता है। इसी प्रकार जड़-प्रकृति में केवल सत तत्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित् और आनन्द का तिरोभाव रहता है। वास्तव में तीनों तत्व की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। यही त्रिगुणात्मक ब्रह्म कृष्ण हैं जो अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार के रूप में प्रकट होते हैं। जन साधारण के ग्रहण करने के लिए वल्लभाचार्य ने कृष्ण के गोलोक की कल्पना की जिसमें वे राधिका और भक्त आत्माएँ रूपी गोपियों के साथ निवास करते हैं भक्तों की लीला का आनन्द देने के लिए ही वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं तथा भक्त ही गोपी, ग्वाल, नन्द यशोदा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और कृष्ण और राधा की लीला का आनन्द उठाते हैं। यही वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों का धार्मिक पक्ष है।

आत्मा—वल्लभ के अनुसार आत्मा का आविर्भाव परमात्मा के आनन्द गुण के तिरोभूत होने से हुआ। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है जीव और ब्रह्म में इतना ही अन्तर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं।

प्रकृति—जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रकृति तत्व का विकास ब्रह्म के आनन्द और सत् के तत्वों के तिरोभाव से हुआ। गोलोक की अवतारणा व्रज के रूप में पृथ्वी पर करके वल्लभाचार्य ने प्रकृति को साधारण जड़ सत्ता से कहीं ऊपर उठा दिया है।

आत्मा—वल्लभाचार्य के अनुसार आत्मा तीन प्रकार की है—

१—मुक्ति योगिन।

२—नित्य संसारिन।

३—तमो योगिन।

नित्य संसारिन आत्मा की मुक्ति नहीं होती वह अनन्त काल तक आवागमन के चक्कर में पड़ी रहती है। तमोयोगिन आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। मुक्ति योगिन आत्मायें ही मुक्ति को प्राप्त करती हैं।

मुक्तियोगिन आत्मायें परब्रह्म के अनुग्रह से ही मुक्ति प्राप्त करती हैं, इसी भगवद् अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रक्खा।

वल्लभाचार्य ने मुक्ति के दो मार्ग माने हैं। एक ज्ञान और साधन का मार्ग जिसे मर्यादा मार्ग कहा है और दूसरा अनुग्रह का मार्ग जिसे पुष्टि मार्ग कहा है और जो मर्यादा मार्ग से भी श्रेष्ठ है। पुष्टि मार्ग से प्राप्त मुक्ति की अपेक्षा मर्यादा मार्ग से प्राप्त मुक्ति निम्नकोटि की भी है। उनके अनुसार भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिए अधिक साधन की भी आवश्यकता नहीं। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करना चाहिये और उसके अनुग्रह की प्रतिक्षा करनी चाहिये। पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है:—

१—प्रवाह पुष्टि।
२—मर्यादा पुष्टि।
३—पुष्टि पुष्टि।
४—शुद्ध पुष्टि।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। इस प्रकार प्रवाह पुष्टि और मर्यादा पुष्टि, पुष्टि की निम्न श्रेणियाँ हैं, जिनमें भक्त भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। पुष्टि पुष्टि में भगवान के प्रति प्रेम करने का भक्त को व्यसन सा हो जाता है। वह श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है किन्तु साधना बनी रहती है और इस प्रकार भक्त और भगवान दोनों क्रियाशील रहते हैं। सबसे ऊँची श्रेणी की

पुष्टि शुद्ध पुष्टि है जो वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य थी। इसमें भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित रहता है। वह भगवान का कृपापात्र बनकर अनुग्रह प्राप्त करता है, उसके गुण-गीत गाता और मस्त रहता है। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। गो, गोप, गोपी, कदम्ब और राधा-कृष्ण उसके आराध्य ही नहीं वरन् अत्यन्त निकट की वस्तुयें हो जाती हैं। वह वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और अन्त में परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है। शरीर छोड़ने पर वह गोलोक में निवास करता है और इस प्रकार उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि की व्यवस्था की है। इस सेवा के दो भेद हैं—क्रियात्मक और दूसरा भावात्मक। क्रियात्मक सेवा शरीर और द्रव्य से होती है, जिससे जीव की अंहता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है। भावनात्मक सेवा मानसी है। इसकी सिद्धि भी क्रियात्मक सेवा द्वारा एकादश इन्द्रियों और मन के विनियोग होने के अनन्तर ही हो सकती है। इस प्रकार पुष्टि मार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा पर अधिक जोर दिया है। यही कारण है कि वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है। इनका नाम और परिचय इस प्रकार है—

(१) मंगल (२) शृंगार (३) ग्वाल (४) राजभोग (५) उत्थान (६) भोग (७) संध्या आरती (८) शयन।

इन आठ नैमित्तिक कर्मों द्वारा प्रातःकाल से सायंकाल तक श्री कृष्ण की भक्ति में मन लगा रहता है। वर्षोत्सव की सेवा-विधि में श्री कृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

———

कृष्ण काव्यधारा

राम-काव्य की तरह कृष्ण-काव्य की परम्परा भी चली आती थी। राम ने देवत्व की स्थापना कृष्ण में उसी तरह की भावना की स्थापना के साथ ही हुई थी। परन्तु कृष्ण जी शीघ्र लोकप्रिय हो गए। श्रीमद्भागवत की रचना ने कृष्ण-भक्ति को एक ऐसा आकर्षक रूप दिया कि शीघ्र ही इसके साहित्य की परम्परा चल पड़ी। कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना गया है, किन्तु विद्यापति पर 'गीतगोविंद' के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से मानना चाहिये। कृष्ण-भक्ति शाखा का विकास प्रायःमुक्तक के ही रूप में हुआ है। विद्यापति का सम्पूर्ण काव्य गीत-काव्य है। विद्यापति शैव थे, अतः उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे अवश्य ही भक्ति से ओतप्रोत हैं। किन्तु कृष्ण और राधा सम्बन्धी उनके जो पद मिलते हैं उनमें वासना का ही वर्णन है। इस क्षेत्र में जयदेव के श्रृंगार ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है। राधा-कृष्ण को साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में लिया गया है, कृष्ण की सख्य भाव से उपासना की गई है और राधा का जो प्रेम-वर्णित है वह भौतिक और वासनामय है। इनकी भाषा मैथिली है। चैतन्य के कारण ही विद्यापति का इतना अधिक प्रचार हुआ।

व्रजभाषा में कृष्ण काव्य की रचना का समस्त श्रेय वल्लभाचार्य को है, जिनके द्वारा प्रचारित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्ट छाप के कवियों ने कृष्ण-साहित्य की रचना की। पुष्टि मार्ग के प्रभाव में आकर अनेक भक्ति कवि भगवान की लीला गाने में मस्त होगए। वे प्रतिदिन गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर में कृष्ण जी के नैमित्तिक कर्मों पर मधुर पद बनाकर राधा-कृष्ण के चरित्र का गान करते थे। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन कवियों में से सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की।

हिन्दी साहित्य में काव्य सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख थे। सूरदास के काव्य के दो पक्ष महत्वपूर्ण हैं, भक्ति पक्ष और काव्य पक्ष। सूर काव्य का विषय गोपाल कृष्ण की व्रजलीला

है। इस लीला के अतिरिक्त अन्य अवतारों आदि का जो वर्णन हुआ है उसमें भक्त सूरदास के दर्शन नहीं होते न उनके कवि हृदय की ही झलक मिलती है। सूरदास के विनय के पद यद्यपि उनके हृदय की भक्ति-भावना को व्यक्त करते हैं तथापि उनमें काव्य सौन्दर्य का अभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण-लीला के सम्बन्ध में जो पद हैं उनमें सूर के भक्त और कवि हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है।

सूर साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका विषय अलौकिक होते हुए भी वह इतना सामान्य है कि साधारण बुद्धि और हृदय वाला व्यक्ति भी उससे सहज में आनन्द पा सकता है। सूर के समस्त चित्र मानवी और सामान्य हैं। यशोदा माँ, नन्द पिता, कृष्ण पुत्र, सखा और विलास प्रिय प्रेमी है। गोपियाँ अनन्य प्रेम की अधिकारिणी प्रेमिकायें हैं। राधा चचल अल्हड़ किशोरी, विलास-चतुरा नायिका है, प्रेषित पतिका है और अन्त में सामान्य भार्या है जो अपने पति से अनन्य रूप से प्रेम करती है। अपने चरित्रों की इसी सामान्यता के कारण सूर-साहित्य प्रत्येक मनुष्य के हृदय को छूता है। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति और पूजा की प्रतिष्ठा करके धार्मिक साहित्य के लिए एक नए प्रसंग की सृष्टि करदी। भगवान कृष्ण की बाल-लीलाओं का जितना स्वाभाविक और सरस वर्णन सूर अपनी बन्द आँखों से कर सके उतना हिन्दी का कोई अन्य कवि न कर सका। सूरदास का वात्सल्य रस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। सूर का शृंगार वर्णन भी केवल कवि-परम्परा का पालन मात्र न होकर जीवन की सजीवता व पूर्णता की अभिव्यक्ति करता है। गोपियों का विरह वर्णन तो अपना एक विशेष महत्व रखता है। उसमें गोपियों के सरल हृदय के प्रेम जनित विरहोद्‌गारों का बड़ा स्वाभाविक और रोचक ढंग से वर्णन हुआ है। सूर का भ्रमर-गीत वियोग शृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं है वरन् उसमें सगुण और निर्गुण का भी काव्यमय विवेचन है। सूर ने साहित्यिक व्रजभाषा में अपने काव्य का सृजन किया है। आपका व्रजभाषा में काव्य का प्रयोग अपना विशेष महत्व रखता है। उन्होंने एक इतः पूर्व काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर मधुर एवं आकर्षक बना दिया कि लगभग चारसौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम

प्रतीत, भजन भाव इसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सूर ने गीत पदों में हृदय भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना की है। इसी कारण उनके गीत अपना विशेष महत्व रखते हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूर अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के शेष सात सत्कवियों में कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी चतुर्भुजदास और नन्ददास सम्मिलित थे।

कुम्भनदास का 'संतन कहा सीकरी सों काम' उनकी संसार से विरक्ति का द्योतक है। इनकी फुटकर कविताएँ मिलती हैं। वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति पर इनकी फुटकर कविताएँ मिलती हैं। वल्लभाचार्य की पद्धति पर इनकी भक्ति-कविता रचित है। भक्त-कवि होने के साथ ही ये उच्च कोटि के गायक थे। इनकी कविता बड़ी भावमयी और रसभरी है।

परमानन्ददास भी अष्ट-छाप के एक कवि थे। सूर के बाद कृष्ण-भक्त कवियों में इनका ही वात्सल्य रस का सुन्दर और सजीव निरूपण हुआ है। प्रेम का वर्णन भी आपका बड़ा सुन्दर हुआ है। ये तन्मयता और भक्ति की विह्वलता में बड़े ही सरस और भावपूर्ण पद गाया करते थे। आपने शृंगाररस में संयोग पक्ष के साथ वियोग पक्ष को भी अपनाया है।

कृष्णदास, विट्ठलनाथ के शिष्य और कृष्ण-भक्त कवियों के अष्ट-छाप में से एक थे। इनकी कविता, सूरदास और नन्ददास को छोड़कर 'अष्ट-छाप' में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है इन्होंने श्री राधाकृष्ण के विशुद्ध शृंगार का गेय पदों द्वारा बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इनकी कविता बड़ी सरस और भावमयी है।

छीतस्वामी—विट्ठलनाथ के शिष्य और अष्ट-छाप के कवियों में थे। आपके गीत पद सरस और प्रेमानुभूति-मिश्रित हैं। इनकी विशेषता व्रज-भूमि के प्रति आसक्ति की अभिव्यक्ति है।

गोविन्दस्वामी—विट्ठलदास के शिष्य और बड़े उच्चकोटि के गायक थे। अतएव आपके पदों में संगीत का विशेष प्रवाह है।

चतुर्भुजदास—कुम्भनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनको लीला में विशेषकर कृष्ण-लीला विषयक गानों का बाहुल्य पाया जाता है, इनकी भाषा सरल स्वाभाविक तथा सुव्यवस्थित है।

नन्ददास—अष्ट-छाप में सूर के बाद अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें रास पंचाध्यायी और भँवर गीत अधिक प्रसिद्ध हैं। नन्ददास परम भागवत, महान, भावुक और उच्च प्रतिभावान सत्कवि थे। इनकी रचना हृदय-वेधिनी, मर्म स्पर्शनी सरस और सजीव है। नन्ददास का भ्रमरगीत सूर से भिन्न है। सूर के भ्रमरगीत में गपियों की मानसिक अवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण है परन्तु नन्ददास के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति पर विवाद है। उनका उद्धव-गोपी संवाद भी अधिक वग्वैदग्ध्य पूर्ण है। और भी एक बात है, सूर के भ्रमरगीत में उद्धव कृष्ण का सन्देश ही प्रकट करते हैं, पर नन्ददास के भ्रमरगीत में वे स्वयं उपदेश देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्ददास का भ्रमरगीत अपनी एक अलग विशेषता रखता है। नन्ददास के काव्य में भक्ति रस की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। काव्य-कला की दृष्टि से भी इनका काव्य महत्वपूर्ण है। इनकी कविता के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—
"और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में भक्तों, सूफियों, कथाकारों, रीति-कारों, सन्तों तथा अन्य सम्प्रदाय के सुकवियों को पाते हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त चार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त कवि अधिक प्रसिद्ध हैं। ये चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं :—

१—राधा वल्लभीय सम्प्रदाय।
२—गोड़िया सम्प्रदाय।
३—टट्टी सम्प्रदाय।
४—निम्वार्क सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने भी बड़े-बड़े रसिक और भावुक कवियों को जन्म दिया है। उनमें से मुख्य-मुख्य का विवेचन हम आगे करेंगे।

श्री हितहरिवंश—राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने कृष्ण
अधिक राधाजी को महत्ता दी है। आप बड़े उच्च कोटि के भक्त थे। आपने
ाध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्री राधाकृष्ण का विशुद्ध शृङ्गार वर्णन किया
; आपकी व्रज भाषा की रचना यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस
ौर हृदय ग्राहिणी।

गदाधर भट्ट—चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत
के पण्डित होने के कारण आपकी रचना में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य और
रिमार्जित, सुन्दर, सरस तथा सारगर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है। आपके
दों में साहित्यिक सौष्ठव के साथ अनुराग, भक्ति और त्याग की मात्रा अधिक
है। तुलसीदास के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-
कविता की रचना भी की है। ये भागवत को गा गा कर सुनाया करते थे।

मीराबाई—की रचनाओं का कृष्ण-काव्य में विशेष स्थान है। उन्होंने
क्रमानुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं किया, वरन् दीनता से अपनी
हृदय को समस्त भावनाओं को भक्ति के सूत्र में बाँधकर कृष्ण की आराधना
की है। उन्होंने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया
और स्वयं कृष्ण का विरहिणी बनकर अपने आराध्य कृष्ण से प्रणय-भिक्षा
माँगी है। यही कारण है कि मीरा की कविता में गीत काव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति
है। इनके पद कुछ राजस्थानी में हैं और कुछ शुद्ध व्रज भाषा में। जो पद
इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी पीड़ा में निजीपन होने के
कारण तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है।

स्वामी हरिदास—टट्टी सम्प्रदाय के प्रवर्तक तथा गायनाचार्य थे।
इनकी रचना में भावों की सुन्दर छटा है पर शब्दों के चयन में विशेष चातुर्य
नहीं है।

सूरदास मदनमोहन—चैतन्य सम्प्रदाय के नैष्ठिक वैष्णव थे। इनकी
कविता बड़ी सरल और मनोहारिणी थी। इनके कुछ फुटकर पद मिलते हैं।

श्री भट्ट जी—की रचनाएँ सरस और मधुर होती थीं। इनका काव्य
यद्यपि परिमाण में अधिक नहीं है तथापि कवित्व में श्रेष्ठ है। इनकी कविता

में कृष्णजी की भक्ति का बड़े सरल पदों में प्रतिपादन किया गया है जिसमें पदों में तन्मयता का भाव यथेष्ट है।

व्यास जी—संस्कृत के अच्छे पण्डित थे तथा हितहरिवंश के शिष्य थे। इन्होंने ज्ञान और भक्ति की विवेचना बड़े सरल तथा स्पष्ट ढंग से की है। ये कृष्ण लीला के बड़े प्रेमी थे, और इन्हीं लीलाओं के पद बना कर सुनाया करते थे। इनकी रचना अधिकतर स्फुट पदों में मिलती हैं।

रसखान—हिन्दी के मुसलमान कवियों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रेम का बहुत ही सुन्दर स्वरूप दिया है। इन्होंने एकांकी और निस्वार्थ प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है व्रजभाषा में इनकी बड़ी उत्तम कविता हुई है। इनकी कविता मे शब्दाडम्बर शायद ही कहीं हो। उसमें प्रसाद गुण और भावगांभीर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। 'सवैया' इनका इतना टकसाली और रसपूर्ण है कि उसका दूसरा नाम 'रसखानि' हो गया। प्रेम और भक्ति का जैसा सजीव और सुन्दर चित्र रसखान ने खींचा है, कदाचित ही वैसा किसी अन्य कवि ने खींचा हो।

अन्य कृष्णोपासक कवियों में ध्रुवदास, नागरीदास, अलबेली अलिजी, चाचा हित-वृन्दावनदास जी, भगवत् रसिक, आनन्दघन, ललितकिशोरी आदि अनेक उच्चकोटि के भक्त हुए हैं, जिनकी रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कृष्णोपासक भक्त कवियों में गंग, नरहरि, बीरबल, टोडरमल, बनारसीदास, नरोत्तमदास, लक्ष्मीनारायण, निपट निरंजन, लालचदास, कृपाराम, मनोहर कवि, बलभद्र मिश्र, केशवदास, होलराय, सेनापति, सुन्दर और पुहकर कवि आदि हैं। इस काव्य परम्परा के मुसलमान कवियों में रसखान के अतिरिक्त जमाल, कादिर, कारेखाँ, मुबारक, आलम, महबूब, रसलीन, नजीर आदि ने कृष्णजी की बाल लीलाओं का और प्रेम का बड़ा सुन्दर और मनोहारी वर्णन किया है। इनमें रसलीन, मुबारक, कादिर, आलम आदि की रचनाएँ अधिक सुन्दर हुई हैं।

स्त्री कवयित्रियों में मीरा के अतिरिक्त प्रवीणाराय, कुँवरिबाई, साईं, रसिक, बिहारी, प्रतापकुँवरि, सुन्दरिकुँवरि, रत्नकुँवरि आदि ने कृष्ण-भक्ति

विषयक काव्य का सृजन किया। मुसलमान महिलाओं में ताज और शेख नाम की महिलाओं की कविता बड़ी ही सरस और भावपूर्ण है। संत निर्गुण उपासिकाओं में दयाबाई और सहजोबाई के कृष्ण विषयक पद भक्तिपूर्ण हृदयों के स्वच्छ उद्‌गार हैं। इनकी रचना में उच्च कोटि का साहित्य तो नहीं है परन्तु सन्तों के समान विरक्ति, गुरुपूजा, निर्गुण-उपासना आदि की अच्छी विचारावली है।

आधुनिककाल में भी कृष्ण-भक्ति विषयक रचनाएँ हुई हैं। भक्तिकाल के परब्रह्म कृष्ण रीतिकाल के शृंगार के नायक बन गए थे। उस काल में राधा-कृष्ण को आलम्बन मानकर कवियों ने अपने हृदय के अश्लील उद्‌गारों को व्यक्त किया। कृष्ण-भक्ति विषयक कविता लिखने की परम्परा आगे चलती रही। अष्टछाप के कवियों द्वारा इस काव्य का पूर्ण परिपाक हुआ था। राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक लोक प्रिय हुए, इसी कारण से हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य, राम-काव्य से बहुत अधिक है।

अष्टछाप

विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य में महाप्रभु बल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा की स्थापना की थी। यह सम्प्रदाय 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से विख्यात है। महाप्रभु बल्लभाचार्य के अनन्तर उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता द्वारा स्थापित संप्रदाय की सांगोपांग उन्नति की। विट्ठलनाथ जी के २५२ शिष्य मुख्य थे जिनका वृतान्त 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है। बल्लभाचार्य के भी ८४ शिष्य मुख्य थे जिनका विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है।

विक्रम की १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की एक मंडली बनाई। उस मंडली के आठों भक्त अपने समय में पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्यकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये आठों भक्त-कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवास में एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में

कीर्तन सेवा और वहीं रहकर भगवद्-भक्ति की पदरचना करते थे। पुष्टि संप्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों के निर्वाचन द्वारा गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन पर अपने आशीर्वाद की 'छाप' लगाई थी। इस मौखिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ही ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे थे। हिन्दी ब्रज-भाषा के निम्नलिखित आठ कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१—कुंभनदास	महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य।
२—सूरदास	,, ,, ,,
३—परमानन्ददास	,, ,, ,,
४—कृष्णदास	,, ,, ,,
५—नन्ददास	गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य।
६—गोविंद स्वामी	,, ,, ,,
७—छीत स्वामी	विट्ठल नाथ के शिष्य
८—चतुर्भुजदास	,, ,,

पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि वे आठों भक्तजन श्रीनाथजी की नित्य लीला में अन्तरंग के रूप में सदैव उनके साथ रहते हैं। ये पुष्टि सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' के नाम से विख्यात हैं। बल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है, अतः इस सम्प्रदाय के कवि भगवान कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं पर पद रचना किया करते थे, वही रचनाएँ अब हमें उपलब्ध होती हैं। अष्टछाप के कवि भी अपनी मनोहर पद-रचना द्वारा श्रीनाथजी की लीलाओं का गायन किया करते थे।

अष्टछाप के कवि उच्च कोटि के भक्त, कवि तथा गवैये थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किए हैं, वे काव्य-कौशल की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। वात्सल्य, साख्य, माधुर्य और हास्य भावों की भक्ति का जो स्रोत अपने काव्य में इन भक्तों ने खोला है वह बड़ा मर्मस्पर्शी है। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान है। अब हम अष्टछाप के कवियों का पृथक पृथक संक्षेप में परिचय देंगे।

श्री कुम्भनदास—महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य तथा उच्च-कोटि के भक्त-कवि और गायक थे। इनका जन्म संवत् १५२५ में हुआ था। आपका रचा हुआ कोई विशेष ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु कीर्तन संग्रहों में उनके स्फुट पद यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। शुक्लजी ने इनकी काव्य-रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि "इनका कोई ग्रन्थ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला"। कुम्भनदास की आसक्ति निकुंज लीला में थी, अतः उनके काव्य में माधुर्य भक्ति सूचक दान-मान आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उनकी कविता मध्यम श्रेणी की है किन्तु उसमें माधुर्य भक्ति की प्रचुरता है।

सूरदास—अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, बल्कि व्रजभाषा के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। हिन्दी में कृष्ण काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलायी देता है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म संवत् १५५० के लगभग हुआ था। आपने वल्लभाचार्य जी के उपदेश से श्रीमद्भागवत की छाया पर व्रजभाषा में 'सूरसागर' के नाम से एक विशद ग्रंथ का प्रणयन किया, जिसमें सवा लाख पद माने जाते हैं। सूरदास की प्रामाणिक एवं स्वतन्त्र रचनाएं सात हैं।

१—सूर-सारावलि।
२—साहित्य-लहरी।
३—सूरसागर।
४—सूर-साठी।
५—सूर पच्चीसी।
६—सेवा-फल
७—सूरदास के विनय के पद।

इनमें से सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर बड़ी रचनाएं हैं, जिनमें सूरसागर प्रमुख है शेष छोटी रचनाएँ है, जो विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं।

सूरदास की कविता व्रज-भाषा साहित्य का शृंगार है। उनका वात्सल्य शृंगार, भक्ति और विनय का वर्णन आज भी अपनी तुलना नहीं रखता। वास्तव में सूरदास ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया उसका वे कोना-कोना झाँक आए हैं सूरदास ने वात्सल्य और शृंगार का ऐसा अपूर्व और सांगो पांग वर्णन किया है कि पाठक उसमें तन्मय हो जाता है। भगवान कृष्ण की बाल-लीला तथा नन्द यशोदा की मानसिक वृत्तियों एवं चेष्टाओं का ऐसा स्वाभाविक वर्णन हुआ है कि हिन्दी साहित्य में वह बेजोड़ हो गया है। वात्सल्य रस के उदाहरण के लिए वह संसार भर के साहित्य में बेजोड़ है। उन्होंने सयोग और विप्रलभ दोनों प्रकार के शृंगार की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। गोपियों के विरह-वर्णन में वियोग की समस्त दशाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन हुआ है कि जिसे पढ़कर पत्थर का कलेजा भी पिघल जाता है। कला की दृष्टि से भी सूर का काव्य बड़ा उत्कृष्ट है। आपका सम्पूर्ण काव्य, वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में जो नैमित्तिक कर्मों की उपासना की विधि थी उन्हीं अवसरों पर नित्य नए पदों का जो सृजन सूरदास ने किया, उसका संकलन रूप है।

परमानन्ददास—वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५५० में हुआ था। वात्सल्यरस का अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इन्होंने सुन्दर और सरस वर्णन किया है। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। इनकी कविता को सुनकर आचार्य जी प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। इनके 'परमानन्ददास जी का पद' 'दान-लीला' और 'ध्रुव-चरित्र' नामक तीन ग्रन्थ मिले हैं।

कृष्णदास जी—का जन्म सं० १५५३ में हुआ था। आप वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनकी आसक्ति रास-लीला में थी। अतः उनके काव्य में प्रिया प्रियतम के विहार विषयक पदों की अधिकता है। उन्होंने अतिशय शृंगार प्रधान पद प्रचुर संख्या में रचे हैं। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। 'कृष्णदास जी का कीर्तन' नामक एक पद संग्रह मिलता है। इनकी कविता बड़ी सरस और भावमयी है।

गोविन्दस्वामी—विट्ठलदास के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५६२ में हुआ था। आप जैसे परम उच्च श्रेणी के गायक थे वैसी उच्च श्रेणी की आपकी

कविता नहीं है। आपके श्रीनाथ जी के कीर्त्तन स्वरूप कुछ स्फुट पद ही मिलते हैं। उनके काव्य के विषय राधा-कृष्ण की श्रृंगारात्मक लीलाएँ हैं। उनके रचे हुए कुछ बाल-लीला के पद भी प्रसिद्ध हैं।

छीतस्वामी—गोसाईं विट्ठलदास के शिष्य थे। उनका जन्म सं० १५७३ में हुआ था। आपकी कविता बड़ी भक्तिपूर्ण है, जिसकी भाषा सीधी और सरल है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से आपकी कविता का महत्व नहीं है। आपने कीर्त्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी।

महात्मा चतुर्भुजदास गोसाईं—विट्ठलदास के प्रिय शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५८७ में हुआ था। आपने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना की थी आपकी कविता में भक्ति-भावना और श्रृंगार की अच्छी छटा दिखलाई देती है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह उत्तम रचना है। उन्होंने अपने पदों में कृष्ण के जन्म से लेकर गोपी-विरह तक की व्रजलीला का गायन किया है।

अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान सूरदास के बाद प्रमुख है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता और कोमलकांत पदावली के कारण उनका स्थान व्रजभाषा साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आप गोसाईं विट्ठल-दास के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५६० के लगभग माना जाता है। आपने लगभग एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों का सृजन किया है, जिनमें भवँर गीत और रास पंचाध्यायी ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। 'भवँरगीत' में उद्धवगोपी-सम्वाद के रूप में निर्गुण पर सगुण को विजय और योग एवं ज्ञान मार्ग पर प्रेम की विजय दिखलाई गई है तथा गोरखनाथ जैसे योगियों के योग-पंथ और कबीर आदि संतों के ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम-भक्ति का महत्व स्थापित किया गया है। 'रास-पंचाध्यायी' में कवि-कला का और भी विकास हुआ है। अपनी कोमल-कांत पदावली और श्रुति-मधुर भाषा शैली के कारण यह ग्रंथ हिन्दी का 'गीत-गोविंद' कहा जा सकता है नन्ददास के काव्य की दो विशेषताएँ मुख्य हैं—भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट। इसी कारण आपके बारे में यह उक्ति प्रसिद्ध है 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'।

अष्टछाप के कवियों का संक्षेप में विवेचन करने के पश्चात् हम हिन्दी साहित्य में उसके महत्व का विश्लेषण करेंगे।

हिन्दी साहित्य में अष्ट छाप का महत्व उसके काव्य के कारण है, किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में उसके महत्व का अन्य कारण भी है। पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा हैं जो उनकी नित्यलीला में सदैव उनके साथ रहते हैं गिरिराज नित्य-निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सदैव सेवा करते हैं। लौकिक-लीला में वे भौतिक शरीर से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिक लीला की समाप्ति पर वे अपने भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त अष्टछाप का हिन्दी के काव्य में बहुत महत्व है। हिंदी के प्राचीन साहित्य की उन्नति से भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय ब्रजभाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। किन्तु उनके प्रश्रय के कारण साम्प्रदायिक भक्तों में उसका व्यापक प्रचार हो गया। इसके अनुकरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई सम्प्रदायों ने भी ब्रजभाषा काव्य को प्रश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्टछाप ने ब्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उसका महत्व अक्षुण्ण है। अष्टछाप के महानुभावों ने यद्यपि स्वयं ब्रजभाषा गद्य में रचना नहीं की है, तथापि उनके प्रसांगिक चरित्र वार्ता रूप में ब्रजभाषा गद्य में रचित होने से अन्ततः वे गद्य साहित्य के भी कारण हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, जिनमें अष्टछाप के कवियों के जीवन वृतांत दिए हुए हैं, ब्रजभाषा के साहित्यक गद्य की आरम्भिक पुस्तकें हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टि सम्प्रदाय के कारण ब्रजभाषा गद्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी। इस प्रकार हम देखते हैं पद्य और गद्य दोनों के क्षेत्र में अष्टछाप का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक है।

अष्टछाप की स्थापना का एक उद्देश्य पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में ठाकुर जी के नित्य और नैमित्तिक उत्सवों के लिए कीर्तन की उचित व्यवस्था करना भी था। कीर्तन में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के पद ताल-स्वर से गाए जाते हैं,

इसलिए कीर्तनकार को संगीत शास्त्रानुसार गान-वाद्य का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है। अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि होने के अतिरिक्त गान और वाद्य के मर्मज्ञ और उनके अपूर्व ज्ञाता थे। इसी कारण से अष्टछाप का कलात्मक महत्व इतना अधिक है कि शताब्दियों तक देश में सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में उसकी रचनाओं का पूर्ण प्रभाव रहा है।

संगीत कला के अतिरिक्त अष्टछाप पर अन्य कलाओं का भी प्रभाव है। सूरदास आदि के पदों में नाना प्रकार के व्यंजनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ये पद ठाकुर जी के राज भोग, छप्पन भोग अथवा अन्नकूट आदि उत्सवों पर गाये जाते हैं इस प्रकार अष्टछाप का पाक कला विषयक महत्व भी स्पष्ट है।

—:-*-:—

कृष्ण काव्य को सूरदास की देन

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, सूरदास अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, वरन् व्रजभाषा साहित्य के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। सूरदास उच्चकोटि के भक्त और कवि हैं। इनकी कविता ने व्रजभाषा काव्य की गणना विश्व साहित्य में कराई है। सूर के कविता-काल को सौर काल कहा जाता है। इस काल की गणना सं० १५०३ से १५७३ तक है। यह व्रजभाषा का काल हिन्दी का परम समृद्धि युग था। हिन्दी में कृष्ण-काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है, किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलाई पड़ता है। सूरदास के बाद ही कृष्ण-काव्य का इतना अधिक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्चकोटि की रचनाएँ इसी विषय पर बनती रहीं। निदान, हम कह सकते हैं कि कृष्ण-काव्य परम्परा के कवियों में सूरदास का प्रमुख स्थान है। आपने कृष्ण-काव्य को पूर्ण समृद्धि प्रदान की और उसे उसकी चरमोन्नति के शिखर तक पहुँचाया।

सूरदास के सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, पर अब तक उनके लगभग छः सात हजार पद ही प्राप्त हुए हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से आपने श्री मद्भागवत् के आधार पर श्रीकृष्ण-लीला का विशद वर्णन किया। सूर सागर में भागवत् के दशम् स्कन्ध का प्राधान्य है। दशम् स्कन्ध के पूर्वार्ध में गोकुल और व्रज में विहार करने वाले कृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्ध में कृष्ण के द्वारिका गमन से लेकर उनकी मृत्यु तक की कथा का वर्णन है। सूरदास के आराध्य बालकृष्ण ही थे, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण के पूर्वार्ध जीवन पर ही विशेष प्रकाश डाला। भागवत् का आधार लेते हुए भी सूरदास ने कृष्ण के जीवन का चित्रण नितान्त मौलिक रूप से किया है। भागवत् के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं और सूर के कृष्ण इस गुण से समन्वित होते हुए भी प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं। इस प्रेम और माधुर्य की व्यंजना बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव हुई है। सूरदास ने कृष्ण के प्रेमपूर्ण जीवन में जो मौलिकता रक्खी है उसमें निम्नलिखित अंगों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(अ) मनोवैज्ञानिक चित्रण—बाल-जीवन की प्रत्येक भावना का जो सूक्ष्म और स्वभाविक चित्रण सूर ने किया वह उनकी मौलिकता का द्योतक है। उन्होंने बाल-जीवन की विविध मानसिक अवस्थाओं के बड़े ही सुन्दर चित्र खींचे हैं। कृष्ण का जन्म, उनका घुटुअन चलना, मक्खन खाना, सोना, खेलना, खेल में झगड़ना, तुतलाकर बात करना अपने आप नाचना, आदि जितनी बाल मनोभावनाओं का चित्र सूर ने खींचा है वह अपूर्व है। उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदय की भावनाओं का सार्वभौमिक चित्रण किया है।

(आ) लौकिक आचार—कृष्ण के जन्मोत्सव, छठी नामकरण बँधावा आदि लौकिक आचारों का ग्राम्य वातावरण के मध्य में बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन सूर की विशेषता है।

(इ) साम्प्रदायिक विचार—वल्लभाचार्य द्वारा चलाए पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने के कारण सूरदास ने कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पुष्टि मार्ग के लोग कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं पर पद रचना किया करते थे। नैमित्तिक कर्म आठ हैं—

१—मंगला। २—शृङ्गार। ३—गोचारण। ४—राजभोग। ५—उत्थापन। ६—भोग। ७—सन्ध्या-आरती। ८—शयन।

(ई) साहित्यिक परम्परा—सूरदास से पूर्व जयदेव और विद्यापति कृष्ण का वर्णन कर चुके थे, किन्तु उनके कृष्ण शृंगार-रस के आलम्बन हैं। इस साहित्यिक परम्परा में सूर ने अपना मौलिक योग दिया। उनको सूर ने शृंगार रस के अतिरिक्त वात्सल्य रस का आलम्बन भी बनाया। शृंगार के वर्णन में भी उन्होंने उसमें धार्मिक भावना का समन्वय करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया। विप्रलम्भ शृंगार के चित्रण में भ्रमर गीत की कल्पना करके सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया। यद्यपि कृष्ण की बाल लीला, भ्रमरगीत आदि का वर्णन भागवत में भी है, किन्तु उसमें सौन्दर्य भरकर सूर ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की मुरली को योग-माया के रूप में वर्णन किया है। रास में इस मुरली ध्वनि से गोपिका रूप आत्माओं का आह्वान तथा वास होता है। गोपियों के साथ रास उसी प्रकार है जिस प्रकार असंख्य आत्माओं के बीच परमात्मा। सूर ने लौकिक चित्रणों में इसी अलौकिक भावना का समावेश किया है।

सूरदास ने व्रजभाषा साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया। सूरदास की चलाई हुई परम्परा के आधार पर कृष्ण-काव्य का इतना व्यापक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्च कोटि की कविताएँ इसी विषय पर बनती रहीं।

भाषा की दृष्टि से भी सूर अपनी विशेषता रखते हैं। उन्होंने काव्य में इतः पूर्व अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर और आकर्षण रूप दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग, विराग प्रेम प्रतीति, भजन भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति हुआ। सूरदास का गीत-काव्य भी अपनी एक अलग विशेषता रखता है। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे उनको सूर ने सगुण रस से सरस बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिन्दी-साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया वरन् कृष्ण काव्य की विशिष्ट परम्परा का भी जन्म दिया।

—:×:—

कृष्ण काव्य की शृंगार में परिणति

जिस प्रकार भक्तिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का आधार लेकर उसे अपनी निगूढ़तम भक्ति-भावना का व्यंजन बनाया था उसी प्रकार रीति-कालीन कवि उसे ऐसा सुन्दर तथा पवित्र रूप न दे सके। उनसे राधा-कृष्ण के मधुरतम व्यक्तित्व में निहित सूक्ष्म भक्ति-भावना का निर्वाह न हो सका। रीति-कालीन कवियों ने राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीलाओं को स्थूल रूप में ग्रहण किया, जिसके परिणामस्वरूप राधा और कृष्ण जो अलौकिक प्रेम की साक्षात्मूर्ति समझे जाते थे, साधारण लौकिक प्रेमियों के रूप में प्रदर्शित किये जाने लगे। वास्तव में यह स्वभाविक भी है क्योंकि जिस भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है तथा श्रद्धा अथवा पूज्य बुद्धि का अभाव होता है वह वासना में परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति धारा का भी यही हाल हुआ। आचार्य शुक्लजी ने ठीक ही कहा है, 'भक्ति' इन्द्रियोपभोग की भावना से कलुषित हो जाती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयंव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षण भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

..................................वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लीलता की प्रवृत्ति जगाई।"

शुक्लजी ने एक अन्य स्थल पर भी लिखा है, "जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों (भक्ति कालीन कवि) ने गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन कवियों के राधा और कृष्ण साधारण नायक और नायिक मात्र रह गए। उनका देवत्व तिरोहित हो गया। वह विद्यापति के राधाकृष्ण के समान पुनः लौकिक रति क्रीड़ा में व्यस्त हो गए। कवियों ने कृष्ण और राधा के लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इन रीतकालीन कवियों ने यद्यपि लोक-निन्दा के भय से कृष्ण और राधा को कहीं-कहीं अलौकिक रूप में स्वीकार कर लिया है, किन्तु

यह सब धोखा मात्र था। उदाहरण के लिए बिहारी जहाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपनी असीम भक्ति भावना का दावा करते थे जैसे कि:—

कोऊ कोटिक संग्रहों, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा, बिपद विदारन हार॥

वहां उन्होंने श्रीकृष्ण को पूर्ण कामुक के रूप में भी प्रदर्शित किया। यही हाल देव पद्माकर आदि अन्य रीतिकालीन कवियों का भी है। कृष्ण-काव्य के शृंगार में परिणत होने के निम्नलिखित तीन मुख्य कारण हैं:—

(१) कृष्ण भक्ति की दार्शनिक जटिलता:—

कृष्ण-भक्ति शाखा के काव्य की शृंगार में परिणत का सबसे मुख्य कारण यह है कि कृष्ण भक्ति की पृष्ठभूमि में जो वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार धारा थी जन साधारण के लिए उसकी प्रतिपत्ति बड़ी ही कठिन थी। वल्लभाचार्य ने कृष्ण को ब्रह्म, गोपियों को मुक्तयोगिन आत्माएँ तथा ब्रह्म को गोलोक मानकर जिन कृष्ण की नित्यलीला की महत्ता प्रतिपादित की उसे वास्तविक रूप में समझना अत्यन्त कठिन था। रीतिकालीन कवियों में भक्ति की श्रेष्ठ भावना का नितान्त अभाव होने से वल्लभाचार्य की भक्ति के शुद्ध रूप को समझने में असमर्थ रहे और श्रीकृष्ण के स्थूल दृष्टि से घोर शृंगारिक दीखने वाले रूप को लेकर उन्होंने वासनामूलक शृंगारी कविताएँ लिखीं।

(२) तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ—

कृष्ण-काव्य में शृंगारिकता के समावेश हो जाने का दूसरा कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं। उस समय के हिन्दू राजा विदेशी तथा विजातीय विजेताओं के हास विलास में सम्मिलित हो तज्जन्य रूप समता का अनुभव करके हार से व्यथित हृदय की पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनकी इस प्रकृति की छाप तत्कालीन कविता पर भी पड़ी। उस समय के कवियों को विलासिता का प्रदर्शन करने के लिए राधा और कृष्ण के चरित्र से बढ़ कर और कौन सा माध्यम मिल सकता था।

(३) कवियों का राज्याश्रय में होना—

रीतिकालीन कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में ही रहा करते थे। उन्हें ऐसी कविताएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं जिन्हें उनके आश्रयदाता राजा पसन्द करते थे। जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि तत्कालीन राजाओं की वृत्ति शृंगारोन्मुखी हो चली थी, अतः कविगण उन्हें प्रसन्न करने के लिए शृंगारी कविताओं की रचना ही किया करते थे।

(४) तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिया—

रीतिकाल में केवल राजाओं की वृत्ति ही शृंगारोन्मुखी नहीं हुई वरन् जनता पर भी इसका प्रभाव पड़ा। साधारण जनता के लिए, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, कृष्ण काव्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि को समझना अत्यन्त कठिन था, अतः उसने श्रीकृष्ण के लौकिक शृंगारी रूप को ही ग्रहण किया। तत्कालीन राजाओं की चित्तवृत्ति के प्रभाव ने इसमें और योग दिया। साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है, अतः तत्कालीन साहित्य में शृंगारी रूप का विशद वर्णन हुआ।

(५) शृङ्गार मूलक संस्कृत साहित्य का प्रभाव—

कृष्ण-काव्य के शृंगार में परिणित हो जाने का यह भी एक कारण है कि प्राचीन शृंगारी संस्कृत कवियों की कृतियों का प्रभाव उस पर यथेष्ट-रूप से पड़ा। रीतिकाल में संस्कृत ग्रन्थों का बहुत कुछ अनुवाद तथा प्रचार हुआ यह तो सबको विदित ही है। उस समय संस्कृत की 'आर्याशतशती' तथा 'गाथा सतशती' आदि का काफी प्रचार हुआ होगा। इसी प्रचार का प्रभाव तत्कालीन राधा और कृष्ण को लेकर लिखी गई रचनाओं पर भी पड़ा। बिहारी-सतसई पर तो इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्ति ही है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' के 'संजीवन भाष्य' की भूमिका में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण जो शृंगारिकता कृष्ण-काव्य में आ गई थी उसमें संस्कृत साहित्य की शृंगारी रचनाओं के प्रभाव ने भी योग दिया।

रीतिकाल

रीतिकाल की परिस्थितियाँ तथा विशेषताएं

रीतिकाल का समय सं० १७०० से १६०० तक का माना जाता है। सम्वत् १७०० से १६०० तक भारत का राजनैतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। समस्त देश युद्धों और विप्लवों से आक्रान्त था जिनके कारण व्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गई थी। केन्द्रीय शासन के निर्बल हो जाने से विभिन्न प्रान्तों में छोटे-छोटे महत्व-हीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुगल साम्राज्य को विराट् गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति में क्षुद्रता आ गई थी। यह राजनीतिक अधः पतन का युग था। शासन-समुदाय में मौलिक प्रतिभा निःशेष हो चुकी थी। स्वयं औरंगजेब भी सफल राजनीतिज्ञ नहीं था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास, टोडरमल आदि को राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस युग में उत्तरी भारत ने औरङ्गजेब को छोड़ कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न किया— मुगल परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें उत्पन्न कर रहा था। औरंगजेब के सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल किसी और युग में नहीं पड़ा। इसी समय, देश पर भयंकर बाह्य आक्रमण हुए। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती हुई दीवारों को एक धक्के में धराशायी कर दिया। दिल्ली के कत्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया। इस युग का शासन विधान स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था, जो सैनिक सामान्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरंगजेब के अशक्त उत्तराधिकारियों के हाथ में पड़कर वह ऐसा अस्त-व्यस्त हो गया था कि उपर्युक्त विधान के सभी दुर्गण उसमें उभर आये थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शाहजहां ने अपने शासन काल के उत्तरार्ध में जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था—औरंगजेब ने उसे

पूर्णता को पहुँचा दिया। इसी के परिणाम स्वरूप हिन्दू और मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र चेतना का उदय हुआ। किन्तु दोनों ही जातियां जर्जर थीं। हिन्दू पादाक्रांत थे तो मुसलमान विलास-जर्जर। इसका प्रभाव साहित्य कला आदि पर भी पड़ा। उस काल का साहित्य, कला और कौशल जनता के उन्नत व्यक्तित्व का परिचय नहीं देते हैं।

इस काल में सामाजिक परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। भक्तिकाल के आन्दोलनों ने समाज में जिन नई शक्तियों का प्रादुर्भाव किया थीं, उनमें शिथिलता आ गई थी। संतों का वर्णाश्रम के प्रति विरोध भी कम हो गया था। पौराणिकों ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को एक बार फिर स्थापित कर दिया था। हिन्दू मुसलमानों का सांस्कृतिक विरोध उसी प्रकार चला आता था। अराजकता के उस युग में दूर प्रदेश के निवासियों से न सम्बन्ध ही जोड़े जा सकते थे, न पुराने संबंध बनाये ही रखे जा सकते थे। इससे समाज की आत्मा संकुचित हो गई थी। वह आत्मनिष्ठ और रूढ़िनिष्ठ था। ज्ञान के प्रसार में बाधा उपस्थित होने के कारण अंध भ्रांतियों और अंध रूढ़ियों की जड़ें समाज में गहरी होती रहीं। साधारण जनता के अतिरिक्त संस्कृतिनिष्ठ उच्च वर्ग भी रूढ़ियों और भ्रान्तियों का शिकार हो रहा था।

धार्मिक क्षेत्र—में कोई विशेष उद्‌भावना नहीं हुई जो राष्ट्रीय चेतना में सहायक होती। संतों के सुधार-आन्दोलन क्षीण पड़ गये थे यद्यपि कितने ही पंथों का आविर्भाव इस काल में हुआ है। इस काल में पौराणिक और सगुण वैष्णव सम्प्रदायों की सारी मान्यताएँ प्रायः सभी पंथों में प्रमुख रूप धारण कर गईं। यही नहीं, कृष्ण भक्तों के प्रचार ने जनता को शृंगार का रुचिकर मार्ग दिखाया। मुग़ल विलासिता की चकाचौंध से आश्चर्यान्वित-जनता और राजे-महाराजे शृंगार सम्बन्धी साहित्य और शृंगार समन्वित कृष्ण-भक्ति की ओर ही झुके। इसके अतिरिक्त इस काल में दक्षिण और पूर्व में ईसाई धर्म-शक्ति धीरे धीरे निम्न वर्ग की जनता में अपना प्रचार-आन्दोलन दृढ़ कर रही थी परन्तु ये क्षेत्र हिन्दी काव्य से दूर थे।

इस काल में हिन्दी प्रदेश में विभिन्न भाषाओं का व्यवहार हो रहा था। राजाश्रय फ़ारसी को प्राप्त था, तथा उसका भंडार खूब भरा जा रहा था। हिन्दी

का साहित्य भी दो प्रकार का था—एक राजाश्रय में पल्लवित तथा दूसरा जन साधारण में। इस काल का राजाश्रय का काव्य प्रायः व्रजभाषा और बुन्देलखंडी में है। इसमें शृंगार रस का ही अधिक वर्णन हुआ है, तो भी जाति सम्बन्धी भी पर्याप्त साहित्य रचा गया। आश्रयदाताओं की कुरुचि और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इस काल का साहित्य उच्चकोटि का नहीं है। इसी काल में राधा कृष्ण की आड़ में कवियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं का नग्न चित्रण किया है। किन्तु इसके साथ ही कला की भी अभिवृद्धि हुई। इस काल का साहित्य किसी भी प्रकार मुसलमान राजाश्रय में निर्मित फारसी साहित्य से कम शृंगारिक, कम ऐहिक और कम कलापूर्ण नहीं है। इस सम्पूर्ण काल में वीर रस के उत्थापक कवियों और चारणों द्वारा रचित काव्य ही महत्वपूर्ण है। भूषण, गुरु गोविंदसिंह, लाल जैसे कवियों ने इस काल को लांछनों से बचाने का प्रयत्न किया है। सारांश यह है कि "साहित्य समाज का दर्पण है" यह उक्ति रीतिकाल के काव्य के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।

संक्षेप में रीतिकालीन कविता की छः मुख्य प्रवृत्तियाँ है :—

(१) इस काव्य के कवियों का ध्यान भक्ति, नीति अथवा आचार की ओर नहीं था। इन्होंने लौकिक प्रेम का ही विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रकार शृंगार रस की धारा पूरे जोर से प्रवाहित हो रही थी। शृंगार ही रीतिकाल की मूल भावना है।

रीतिकाल में शृंगार की इस अतिशयता को तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यक प्रभावों के प्रकार में अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है। इस शृंगार की अधिकता का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से कृष्ण-भक्त कवियों पर है। कृष्ण भक्त कवियों ने राधा और कृष्ण की मिलन-विरह तथा हास-विलास सम्बन्धी बातों के वर्णन में पूर्ण शक्ति लगा दी थी। उनका राधा कृष्ण का शृंगार-वर्णन यद्यपि भक्ति के आवेश में ही होता था तथापि वह इतनी अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाता था कि साधारण जनता उसे लौकिक शृंगार के रूप में ही ग्रहण करती थी। साथ ही राज दरबारों के आश्रय में भी राधा-कृष्ण सम्बन्धी काव्य की पवित्रता में भी कलुषता आई।

हिन्दी में रस-निरूपण करने वाले पहले कवि कृपाराम भक्तिकाल में हुए जिन्होंने इस प्रकार का काम किया।

(२) इस काव्य का वह रूप जो इन कवियों ने उपस्थित किया, वह मुक्तक का था, प्रबन्धात्मक काव्य का नहीं। राज दरबार में कवि को इतना ही अवसर था कि राजा का जब मन हो तब शीघ्रता से एक दो छन्द सुनाकर उसका मनोरंजन करे। इस प्रकार हिन्दी को राज-दरबारों में आश्रय मिलने से कवियों का मुख्य उद्देश्य आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना ही था। इसलिए कवियों को राजा का मन प्रसन्न करने के लिये उसके मनोनुकूल कविता करनी पड़ती थी, जिससे मौलिकता का ह्रास हुआ। यही कारण है कि इस काल में प्रबन्ध-काव्यों का प्रायः अभाव ही है। इसी के परिणाम स्वरूप इस काल में कवित्त सवैया और दोहा छन्द का ही प्राधान्य रहा। कवित्तों का विशेष सम्बन्ध वीर रस से रहा। सवैये शृंगार और करुण दोनों रसों की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त हुए। इस काल में बिहारी ने दोहों की सम्भावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित किया। नीति सम्बन्धी काव्य में बरवै भी प्रयुक्त हुए।

(३) इस काल में भाव-पक्ष का प्राधान्य रहा। काव्य की आत्मा की ओर से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर गई और वहीं अटक कर रह गयी। उस समय तक कृष्ण-भक्त कवियों के प्रयोग से व्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की काव्य भाषा बन चुकी थी और विशेष रूप से मज कर प्रौढ़ता को प्राप्त हो गई थी। भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति, शब्दकोष और लचक बढ़ जाने के कारण कला को अधिक प्रश्रय मिला। इसीलिए डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को 'कलाकाल' नाम दिया है। रीतिकाल भाषा का नाम अलंकृत काल भी है। कविता का विषय शृंगार होने के कारण रीतिकाल में रूप आकार की सजावट भी अनिवार्य थी। दूसरे उस समय अलंकार सम्प्रदाय भी बहुत लोक-प्रिय था। इसी कारण से रीति-काव्य एक तरह से अलंकारों का समृद्ध कोष है। कवियों ने इस काल में उपमानों और प्रतीकों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। परन्तु ये उपमान प्रायः काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं। इसी प्रकार इन कवियों ने शब्द चयन में भी अपनी शक्ति का परिचय दिया है। सारांश यह है कि रीति काल में काव्य का कला पक्ष प्रधान हो गया था।

(४) इस काल की भाषा व्रजभाषा और अवधी का मिश्रण थी। उसमें मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ गयी थी। अतः भाषा में सुकुमारता का अधिक परिचय मिलता है।

(५) इस काल के कवियों ने काव्य-शास्त्र में शिक्षा-दीक्षा ली। उन्होंने रस, अलंकार और छन्दों के उदाहरण स्वरूप कविता करने की परिपाटी का पालन किया। केवल कुछ ग्रन्थों को छोड़कर जो नखशिख, षट्ऋतु, अलकशतक जैसे बधे हुए विषयों को लेकर चलते हैं, शेष सारा काव्य रसों, अलंकारों और छन्दों के उदाहरण-स्वरूप ही उपस्थित हुआ है।

भक्तिकाल में कविता की जो लहर आई थी उसके बहाव में अलंकार आदि स्वतः चले आते थे। संस्कृत भाषा में अलंकारों और काव्यांगों के ऊपर काफी विवेचन हो चुका था। हिन्दी में भी लक्ष्य ग्रन्थों का सृजन हुआ, जिसका श्रीगणेश भक्तिकाल में हुआ था। लक्ष्य ग्रन्थों के बाद लक्षण ग्रन्थ आते हैं, जिनकी ओर रीतिकालीन कवियों ने ध्यान दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थो का बहुत अधिक मात्रा में सृजन हुआ।

(६) शृंगार के साथ-साथ कुछ वीररस की भी उत्कृष्ट रचनाएँ हुई, जो अपना विशेष महत्व रखती हैं।

रीतिकाल की सामान्य विशेषताओं का वर्णन करने के पश्चात् अब हम उसकी न्यूनताओं का वर्णन करेंगे। बा० गुलाबराय के अनुसार रीतिकाल की निम्नलिखित चार न्यूनताएं हैं :—

१—काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द की शक्ति पर यथोचित विवेचन न हो सका। पद्य में लिखने के कारण संस्कृत ग्रन्थों का सा सूक्ष्म विवेचन न हो सका। संस्कृत के आचार्य गद्य में टीकाएँ और वृत्तियाँ भी लिखते थे।

रीति-कालीन ग्रन्थों में अधिक गहराई न होने के कारण यह भी था कि वे पण्डितों के लिए नहीं वरन् राजाओं और उनके दरबारियों के लिए लिखे गए। रीति-ग्रन्थों का मूल-उद्देश्य काव्य का विवेचन नहीं रह गया था वरन् शृंगारिक और अलंकारिक कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना था।

२—नाट्य-शास्त्र के विवेचन का अभाव भी रहा। ये उस समय के आचार्यत्व में कमी की बात थी। हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ भी न थे।

३—विषयों का संकोच हो गया था और कवियों में कवि-परम्परा रूपी गाड़ी की लीक पर चलने की प्रवृत्ति हो गई थी। इसलिए कवियों को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा दिखलाने की कम गुञ्जायश रही थी, जो कुछ कविता करते थे ये स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं वरन् कवि कर्त्तव्य के कठोर बन्धन में बँधकर एक प्रकार की परम्परा की पूर्ति के लिए।

४—इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके तथापि इन्होंने शृंगार के संकुचित क्षेत्र में पारस्परिक जीवन को बाँधकर उसमें सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की।

रीतिकाल में रीतिग्रन्थों की परम्परा

हिन्दी साहित्य में रीतिग्रन्थों की परंपरा केशवदास के बाद से चली। यों तो केशवदास ही स्वयं इस परंपरा को चला गये थे, किन्तु उन्हें हम रीतिग्रन्थों का प्रवर्त्तक नहीं कह सकते। इसके दो कारण हैं। एक तो उनके बाद पचास वर्ष तक हिन्दी में किसी रीतिग्रन्थ की रचना नहीं हुई तथा दूसरे उनके पचास वर्ष बाद जो रीतिग्रन्थों की परंपरा चली वह केशव से बिल्कुल भिन्न थी। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया। हिन्दी के अधिकांश रीतिग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और उसकी प्रसिद्ध टीका 'कुवलयानंद' के आधार पर निर्मित हुए। इनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' का आधार लिया गया है। काव्य के अंगों और उपांगों का निर्णय करने के लिए हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्त्ती ग्रंथों का

अनुसरण किया। इस प्रकार शुक्ल जी के शब्दों में रीतिकाल में "संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।"

हिन्दी के रीतिग्रन्थों की अखंड परंपरा महाकवि चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिये। उन्होने संवत् १७०० के लगभग 'काव्यविवेक' 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रन्थ लिखकर काव्य के सब अंगो का पूर्ण निरूपण किया और पिंगल या छंदःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। इनके बाद तो हिन्दी में रीतिग्रन्थों की भरमार सी होने लगी।

चिंतामणि के पश्चात् दूसरे प्रसिद्ध रीतिग्रन्थकार महाराज जसवंत सिंह जी हैं। ये हिन्दी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं और इनका 'भाषा-भूषण' नामक ग्रन्थ अलंकारों पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ को इन्होंने आचार्य के रूप में लिखा है कवि के रूप में नहीं। इन्होंने अपना 'भाषा-भूषण' बिलकुल 'चन्द्रालोक' की छाया पर बनाया और उसी की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार 'चन्द्रालोक' में प्रायः एक ही श्लोक के भीतर प्रायः लक्षण और उदाहरण दोनों का समावेश है उसी प्रकार 'भाषा-भूषण' में भी प्रायः एक हो दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों साथ-साथ रखे गये हैं। अत्युक्ति अलंकार का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भये कल्पतरु भूप॥

महाराज जसवंतसिंह के पश्चात् प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थकार मतिराम हैं। मिश्र-बंधुओं ने इनकी गणना नव रत्नो में की है इनके 'रसराज' और 'ललित-ललाम' ये दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' तो इस सम्बन्ध में अद्वितीय ग्रन्थ है। 'ललितललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत सरस तथा स्पष्ट हैं। इसी सरसता तथा स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रन्थ सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़

और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती।

अब महाकवि भूषण त्रिपाठी का नम्बर आता है। इनका 'शिवराज-भूषण' नामक अलंकार ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है। यह ग्रन्थ रीतिग्रन्थ की दृष्टि से तथा अलंकार निरूपण के विचार से उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं है। भूषण के पश्चात् देव का नाम आता है। ये अपने आचार्यत्व के लिये तो प्रसिद्ध हैं ही। कहा जाता है कि केशवदास को छोड़कर आचार्यत्व में कोई कवि इनसे टक्कर नहीं ले सकता। देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नहीं हुआ, किन्तु देव इसके अपवाद हैं। वे जहां उच्चकोटि के आचार्य हैं वहां प्रतिभाशाली कवि भी। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का निरूपण हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। देव का ध्यान ही इस ओर आकृष्ट हुआ। उदाहरण के लिए एक दोहा नीचे दिया जाता है :—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यंजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन ॥

देव के बाद रीति ग्रन्थकार कवियों में भिखारीदास का नाम आता है। इनके इतने ग्रन्थों का पता लग चुका है :—

रससारांश, छन्दोर्णव पिंगल, काव्यनिर्णय, शृंगार निर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश, शतरंजशतिका और अमर प्रकाश। काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति-गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। इन्होंने श्रीपति से बहुत कुछ लिया है। इनकी विषय-प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचना शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। जैसे, हिन्दी काव्य के क्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आता है। बहुत से स्थानों पर तो

राधा-कृष्ण का नाम आने से देव काव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दास ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ व्यापक करना चाहा और कहा :—

श्रीमानन के भौन में योग्य भामिनी और।
तिनहूँको सुक्रियाहि में गनै सुकवि सिरमौर॥

यद्यपि दास ने अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा काव्यांगों का अधिक निरूपण किया है तथापि इन्हें पूर्ण आचार्यत्व प्राप्त नहीं हो सका है। इनके लक्षण व्याख्या के अभाव में अपर्याप्त और कहीं-कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थानों पर अशुद्ध हैं। दास के पश्चात अन्तिम रीति ग्रन्थकार पद्माकर का नाम आता है। पद्माकर के बाद कोई प्रतिभाशाली रीति ग्रन्थकार कवि नहीं हुआ। रीतिग्रन्थकारों में सबसे अधिक लोकप्रियता इन्हीं को प्राप्त हुई। मनीराम जी के 'रसराज' के समान पद्माकर जी का 'जगद्विनोद' भी काव्य-रसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। यह शृंगाररस का सारग्रन्थसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार रीतिकाल में रीति शब्दों की परम्परा चिन्तामणि से प्रारम्भ होती है तथा पद्माकर के पश्चात् भी अनेक रीतिकाल कवि हुए हैं तथापि उन्हें कोई प्रसिद्धि प्राप्त न होने के कारण उनका यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है।

—:-※-:—

रीतिकाल में शृंगार रस

रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों और कवियों ने शृंगार के रस-राजत्व की घोषणा की है। परन्तु यह कोई नवीन कल्पना नहीं थी। उनसे पूर्व संस्कृत के विद्वानों ने शृंगार को एक मात्र रस अथवा रस राज स्वीकार किया था। इसके प्राधान्य का एक कारण था। वह उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ और साहित्यक परम्परा का प्रभाव था। रीति-काल की मूल भावना शृंगार रस की अभिव्यक्ति है, इसी कारण से कुछ विद्वानों ने रीति-काल को शृंगार-काल भी कहा है।

भारतीय इतिहास में रीतिकाल का युग घोर अधःपतन का युग था। हिन्दू मुसलमानों द्वारा पदाक्रान्त थे तो मुसलमान विलास में लिप्त। इस प्रकार दोनों जातियाँ जर्जरित हो चुकी थीं। भक्ति-युग में हिन्दुओं को केवल राजनैतिक पराभव ही सहना पड़ा, आर्थिक दृष्टि से वे खुशहाल थे, किन्तु रीति-काल के युग में हिन्दुओं की आर्थिक अवस्था भी खराब होगई, तथा भक्त लोगों का आध्यात्मिक प्रकाश ही लुप्त होने लगा। इस प्रकार उसके जीवन की अब न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति हो सकती थी, न आध्यात्मिक। अतः उसकी समस्त वृतियाँ घर की चाहरदीवारी में सीमित हो गईं। घर में विलास का केन्द्र बिन्दु नारी थी इस युग में निराश हिन्दू जनता की अभिव्यक्ति घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकांक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मंडरा सकती थीं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें होती हैं। या तो मनुष्य उन बातों में प्रवृत्त हो जाता है जिनमें उसकी श्रेष्ठता अक्षुण बनी हुई है। इस प्रकार एक ओर की श्रेष्ठता दूसरी ओर की गिरावट की क्षति पूर्ति कर देती है। ऐसी मनोवृत्ति में दूसरी प्रवृत्ति यह होती है कि विजेताओं के हास विलास में शामिल होकर उनके सहवास में एक प्रकार की समता का अनुभव करके खोये हुए स्वाभिमान को भूल जाये अथवा हास विलास की मदिरा में अपने पराजय-जन्य दुःख को भुलादें। पहली प्रवृति भक्ति-काल में दिखलाई पड़ती है तथा दूसरी रीतिकाल में।

यह तो राजनैतिक परिस्थिति हुई जिसके कारण लोग विलास में अनुरक्त हुए इसके अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। भक्ति काल के कृष्ण भक्त कवियों ने राधा और कृष्ण की मिलन विरह तथा हास-विलास सम्बन्धी बातों के वर्णन में पूर्ण शक्ति लगा दी थी। उनका राधाकृष्ण का शृंगार वर्णन यद्यपि भक्ति के आवेश में ही होता था तथापि वह इतनी अश्लीलता की सीमा तक पहुंच जाता था कि साधारण जनता उसे लौकिक शृंगार के रूप में ही ग्रहण करती थी। साथ ही राज दरबारों के आश्रय में भी राधाकृष्ण सम्बन्धी काव्य की पवित्रता में भी कलुषता आई। हिन्दी में रस निरूपण करने वाले पहले कवि कृपा राम भक्ति काल में हुए जिन्होंने इस प्रकार का काम किया। फारसी संस्कृति और साहित्य की शृंगारिकता अब तक

भारतीय संस्कृति में घुल मिल कर उसका एक अंग बन गई। संस्कृत और प्राकृत-काव्य की जो परम्परा रीतिकाव्य को उत्तराधिकार में मिली वह भी एकांत शृंगारिक ही थी।

ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यक प्रभावों में पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता शृंगारिकता से अभिभूत थी।

नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण रीति-काल में काम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। इस काल में शृंगार वर्णन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। आध्यात्मिक आवरण में ही शृंगारिक कविता न होती थीं वरन् स्वतन्त्र रूप से भी होती थी। कवि लोग राजाओं की कुत्सित प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए नग्न शृंगार का चित्रण करते थे। परन्तु इस निर्बाध वासनातुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ, वह यह कि काम जीवन का अंतरंग साधक तत्व न रहकर बहिरंग साध्य बन सका। इसीलिए रीति-काव्य की शृंगारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर वासना की झलक ही मिलती है। और उसमें भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम की भावना हृदय की प्रवृत्ति है जो ऐकोन्मुखी होती है किन्तु विलास या रसिकता उपभोग की भावना प्रधान एवं अनेकोन्मुखी होती है। इसी कारण प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल सरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि, मतिराम आदि रसिक ही थे प्रेमी नहीं। इन्होंने बाह्य स्थूल सौन्दर्य को ही अभिव्यक्ति की है। उनके काव्य में मन के सूक्ष्म सौन्दर्य का और आत्मा के सात्विक सौन्दर्य का प्रायः बिल्कुल ही अभाव है। परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन कवियों की पहुँच बहुत गहरी थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रस सिद्ध कवि रूप सौन्दर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमने लगे। उदाहरण के लिए नयनों, के कटाक्षों और चंचलता का इतना सुन्दर वर्णन विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है :—

पद्माकरः—

पैरें जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहां तहां ताल में होत त्रिवेनी।

देवः—

धार में धार धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न उबेरी ।
री अँगराय गिरीं गहरी, गहि फेरि फिरीं न घिरीं नहिं घेरी ॥
ऊवौ कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरो ।
वेगि ही बूढ़ि गई पखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ॥

इस प्रकार शृंगार के विविध अंगों, उपांगों का रीतिकालीन कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है । इस शृंगार के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इसका स्वरूप गार्हस्थिक है । भारतीय शृंगार-परम्परा में पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, वियोग आदि सभी दशाओं में गार्हस्थ-तत्व बना रहता है । इसी परम्परा में होने के कारण रीति-कविता का शृंगार दरबारी प्रभाव में रहते हुए भी अपना स्वाभाविक रूप स्थिर रख सका । उसमें नागरिकता का समावेश तो हुआ किन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारी रूप सौन्दर्य की बू नहीं आई । राजाओं के दरबारों में वेश्याएँ रहती थीं किन्तु उनके आश्रित कवि स्वकीया नायिका के प्रेम का ही गायन करते थे । परकीया-प्रेम वर्णन का उनके काव्य में इसी कारण से अभाव ही रहा । इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में यद्यपि शृंगार का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है तथापि उस पर कुल शील की छाया पड़ी रहने के कारण उसका रूप बहुत बुरा नहीं होने पाया है ।

रीतिकाल के कवियों ने नारी की वैयक्तिक सत्ता से प्रेम न होकर उसके नारीत्व की ओर आकर्षण था । नारी के व्यक्तित्व का वर्णन उसके आकर्षण को समृद्ध बनाने के लिए ही हुआ है । इस प्रकार उसका व्यक्तित्व पुरुष के सुख भोग का साधन मात्र था । गृहस्थ जीवन के अन्तर्गत नारी के बहुत से सात्विक रूप जैसे सहचरी, माँ, बहन आदि के हो सकते थे किन्तु इधर भी इन कवियों का ध्यान नहीं गया है । उन्होंने तो नारी को शृंगार रस के आलम्बन रूप में वर्णित किया है क्योंकि यही रूप उनकी वासना की तृप्ति के लिए उपयुक्त था ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-काल के शृंगार का मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं । इस रसिकता में इन्द्रियजन्य वासना के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है। उसको किसी प्रकार के आवरण जैसे आध्यात्मिक आदि में नहीं वर्णित किया गया है, वरन् भक्तिकाल के शृंगार वर्णन के विरुद्ध नग्न रूप में चित्रित किया गया है। यह शृंगार उपभोग-प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है और दूसरी ओर स्वच्छन्द प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान की भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती। इसीलिए इसमें तरलता और कला अधिक है, हृदय पक्ष का प्रायः अभाव है।

रीतिकाल में हृदय-तत्व का अभाव

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार रीतिकालीन कवियों का सबसे बड़ा दोष हृदय-तत्व का अभाव है। इन कवियों की रचनाओं में उतनी मधुरता तथा सरसता नहीं मिलती जितनी कि भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं में। इसका विशेष कारण यही है कि जहाँ भक्त कवियों ने स्वयंसंवेद्य अनुभव और वास्तविक अनुभूतियों का आधार लेकर कविताएँ की वहाँ रीतिकालीन कवियों ने इस ओर तनिक भी ध्यान न दिया। उन्होंने शास्त्रीय पद्धति का सहारा लिया तथा उनकी कविताएँ उनके हृदय की प्रेरणा से उद्भूत न होकर आश्रयदाता राजाओं के मनोविनोद के उद्देश्य से लिखी गई थीं। रीतिकाल के कवि आचार्यत्व की दृष्टि से तो अपने पूर्वजों से कहीं अधिक आगे बढ़ गए किन्तु सहृदयता के अभाव में उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास न हो सका। इसी कारण रीतिकाल का काव्य निकृष्ट समझा जाता है। रीतिकाल की रचनाओं को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह विदित होगा कि यद्यपि उनमें रसों और उनके सब अंगों का शास्त्रीय रीति से तो निर्वाह हुआ है तथापि उनमें हृदय का योग न रहने से वे निर्जीव सी जान पड़ती हैं।

रीतिकालीन कवियों में सहृदयता का अभाव कई रूपों में देखा जा सकता है। अब हम ऐसे रूपों में से मुख्य-मुख्य का विवेचन करेंगे। वे निम्नलिखित हैं—

१—प्रबन्ध काव्यों के मार्मिक स्थलों को चुनने की अक्षमता:—

आचार्य शुक्ल ने कहा है "प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।" हम यदि इस दृष्टि से रीतिकालीन काव्यों को समीक्षा करें तो हमें निराश होना पड़ेगा। रीतिकालीन कवि इतने सहृदय नहीं थे कि इन मर्मस्पर्शी स्थलों की परख कर सकते। उदाहरण के लिए हम केशव की 'रामचन्द्रिका' को लें तो हमें प्रतीत होगा कि केशव में सहृदयता का नितान्त अभाव है। राम-कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम हो गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गये हैं या यों ही इतिवृत मात्र कह कर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़ने वाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनिशाप-हत, किधौं ब्रह्मदोष-रत, किधौं कोउ ठग हौं" यही हार्दिकता का अभाव रीतिकाल के अन्य अनेक कवियों में मिलता है।

२—प्रकृति-वर्णन की नाम-परिगणन की शैली—शुक्लजी ने लिखा है, "किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का ग्रहण दो प्रकार से होता है—बिम्बग्रहण और अर्थ ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पङ्खड़ियों और झुके हुये नाल आदि के सहित एक फूल के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे, और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है।"

यदि उपर्युक्त कसौटी पर कस कर देखा जाय तो हम देखेंगे कि रीतिकालीन काव्य में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण नहीं हो सका। रीतिकालीन प्रकृति-चित्रणों से प्रकृति के किसी चित्र का बिम्बग्रहण नहीं होता। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति-चित्रण में नाम-परिगणन की शैली को अपनाया है। उन्होंने शास्त्रीय पद्धति के आधार पर प्रकृति की इनी-गिनी वस्तुओं के नाम गिनाकर संतोष कर लिया है। इस सब का कारण यह है कि रीतिकालीन कवि इतने सहृदय नहीं थे कि प्रकृति के प्रत्येक रूप के साथ अपने हृदय का तादात्म्य अनुभव करते। उन्होंने प्रकृति का वर्णन केवल परम्परा के निर्वाह मात्र के लिये किया है। उन्होंने प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार न करके उद्दीपन रूप में स्वीकार किया है। उनके प्रकृति-वर्णन में उद्दीपन भर के लिये फुटकर वस्तुएँ आई हैं, सो वे भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की आड़ में छिपी हुई हैं। वसन्त कहीं राजा होकर आया है, कहीं फौजदार, कहीं फकीर, कहीं कुछ, कहीं कुछ। किसी ने कुछ बढ़कर हाथ मारा तो शिशिर और ग्रीष्म-ऋतु में अपने शरीर को दशा जो देखी उसका वर्णन कर दिया, और उपचार का नुस्खा कह गये। गरमी के मौसम के लिये एक कवि राय देते हैं :—

सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमल-दल न्हाइबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अतर-अतर-संग,
केसर, उसीर-नीर घनसार घँसिए।
जेठ में गोविन्दलाल चन्दन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए॥

३—लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी—

रीतिकाल में अधिकतर लक्षण ग्रन्थों की ही रचना हुई। इन लक्षण ग्रन्थों में काव्यत्व का उतना ध्यान नहीं रक्खा गया है जितना कि काव्य के अंगों के विवेचन का। कवियों ने काव्य के अंगों के साथ-साथ काव्य के उदाहरण भी उपस्थित किये हैं। इन उदाहरणों में मौलिकता को कोई स्थान नहीं दिया गया है तथा वे अधिकांश में रूढ़ियों पर आधारित हैं। इस प्रकार हमें रीतिकाल में

हृदय-तत्व का अभाव लक्षण ग्रन्थों के रूप में भी उपलब्ध होता है। किन्तु हमें यह न समझना चाहिए कि रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थों के सब उदाहरणों में हृदय-तत्व का अभाव मिलता हो। रीतिकाल में कुछ ऐसे भावुक, सहृदय और निपुण कवि भी हुए हैं, जिनका "उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः श्रृङ्गार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

४—कोरी चमत्कार प्रियता :—

रीतिकालीन कवियों में हृदय-तत्व का अभाव उनकी कोरी चमत्कार-प्रियता में भी स्पष्ट झलकता है। रीतिकालीन कवियों में अधिकांशतः चमत्कार के ही प्रेमी हुए हैं तथा उनके काव्यों में हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों को कोई स्थान न दिया गया है। उनकी कविताओं में कहीं-कहीं तो अलंकारों की ही भरमार है। यदि उनकी कविताओं से अलंकारों का चमत्कार निकाल लिया जाय तो वे महत्वहीन प्रतीत होंगी। इस प्रकार रीतिकालीन कवियों की कोरी चमत्कार-प्रियता में उनका हृदय-हीन स्वरूप प्रकट होता है।

रीतिकाल में हृदय-तत्व के इस अभाव के कई कारण हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

१—आश्रयदाताओं की प्रसन्नता और अनुकूलता का ध्यान :—

रीतिकालीन कवि प्रायः राज्याश्रित हुआ करते थे। उन्हें अपने राजाओं की प्रसन्नता और अनुकूलता का ध्यान रखना पड़ता था। वे अपनी स्वयं की अनुभूतियों के आधार पर कविताएँ नहीं लिखा करते थे। वरन् अपनी कविताओं को उन्हें ऐसा रूप देना पड़ता था जिससे उनके आश्रयदाता राजाओं का मनोरंजन होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्याश्रय के कारण कवियों को अपनी वास्तविक अनुभूतियों को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देने का अवसर न मिलता था जिसके फलस्वरूप रीतिकाल में हृदय-तत्व का नितान्त अभाव मिलता है।

२—चिन्ता पारतन्त्र्य का प्रभाव :—

जैसा कि हम 'हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव' शीर्षक अध्याय में हम कह आये हैं कि संस्कृत के निबन्ध ग्रन्थों की परम्परा के कारण जिस चिन्ता-पारतन्त्र्य का जन्म हुआ, उसने आगे चलकर रीतिकालीन रचनाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस चिन्ता-पारतंत्र्य के कारण रीतिकाल में स्वतन्त्र चिन्ता का एक साथ नितान्त अभाव मिलता है। इस स्वाधीन चिन्ता के अभाव में जितनी कविताएँ हुईं उन सब में हृदय-तत्व का अभाव मिलता है। कवियों ने अपनी मौलिक अनुभूतियों को कोई स्थान न देकर पुराने आचार्यों के चलाये हुये मार्ग पर ही कविताएँ लिखीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चिन्ता-पारतन्त्र्य के कारण रीतिकाल के कवियों में सहृदयता का एक दम लोप-सा हो गया है।

३—सांस्कृतिक ह्रास :—

जिस समय रीतिकाल का जन्म हुआ उस समय हिन्दी-भाषी प्रदेशों की संस्कृति का ह्रास सा हो गया था। मुसलमानों के राज्य के पूर्णतया स्थापित हो जाने से देश की संस्कृति को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। यद्यपि मुसलमानी राज्य की पूर्ण स्थापना तो भक्तिकाल के आरम्भ में ही हो चुकी थी, तथापि हिन्दू जनता में उस समय अपनी संस्कृति के प्रति मोह था और वह उसकी रक्षा में संलग्न थी। कबीर, सूर, तुलसी आदि महान् कवियों के काव्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में उसकी रक्षा हुई है। किन्तु रीतिकाल में आकर निराश जनता की सांस्कृतिक भावना जाती रही क्योंकि अब उसे ऐसा करने में कोई आशा ही नहीं दिखाई देती थी। जनता की इसी चित्त-वृत्ति का प्रभाव साहित्य तथा कलाओं पर भी पड़ा। इसका फल यह हुआ कि काव्य में से संस्कृति का एक दम लोप हो गया। यही नहीं कविगण कविता का वास्तविक उद्देश्य भी भूल गये। उन्होंने चमत्कार और मनोरंजन को ही कविता का उद्देश्य मान लिया, जिससे उसमें से हृदय-तत्व की भावना बिल्कुल जाती रही।

———

रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव

रीतिकाल की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर संस्कृत रीति शास्त्र का प्रभाव तो था ही, साथ ही संस्कृत काव्य परम्परा का भी पूर्ण प्रभाव था। रीति काव्य में हमें उन्हीं कवि-प्रसिद्धियों और कवि-समयों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुई थी। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फारसी आदि का प्रभाव है, वह परवर्ती कवियों के ढंग पर ही ग्रहण किया गया है। कुछ लोगों ने रीति-कालीन आचार्यों की शास्त्रीय उद्भावनाओं की बड़ी प्रशंसा की। इन मौलिक उद्भावनाओं की प्रशंसा करने वालों को शुक्ल जी ने बड़े आड़े हाथों लिया है और अपनी अमोघ शैली में अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि ये उद्भावनायें वास्तव में या तो उद्भावनायें हैं ही नहीं क्योंकि संस्कृत के ग्रन्थों में उनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है, या फिर सर्वथा निरर्थक और अनर्गल हैं।

हिन्दी के रीतिकाल की मूलभावना लोकरुचि, ऐहिकता और संस्कृत एवं अपभ्रंश की परम्परा में है। रीति-काव्य का आरम्भ अपभ्रंश से ही होता है। इसके विषय रस, अलंकार, नायिकाभेद, नायक नायिका के अंगों और उनके विलास का वर्णन है। संस्कृत में काव्य के पांच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थे। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति। इन सब में प्रधान ध्वनि सम्प्रदाय माना गया। रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय तो अधिक जीवित ही न रह सके। इस प्रकार हिन्दी के रीति कवियों के सामने तीन काव्य-सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलंकार इन तीनों का ही उन्होंने अनुकरण किया।

रीतिकाल के जिन आचार्यों ने ध्वनि सम्प्रदाय का विवेचन किया है, प्रायः मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसिंह, प्रभृति कविगण मम्मट की भाँति ही ध्वनि अथवा रसवादी थे। उनके काव्य की पद्धति और रीति सिद्धान्त दोनों ही इसके प्रमाण हैं। ध्वनि सम्प्रदाय में जिसके प्रवर्त्तक आनन्दवर्धनाचार्य थे, रस और अलंकार को एक स्थान पर एकत्र किया गया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा कि रस ध्वनित भी हो सकता है, अतः जहाँ अलंकार है वहाँ भी इसकी ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। इस व्याख्या के

अनुसार फुटकल पदों में अलंकार के साथ रस का सृजन भी संभव समझा गया। हिन्दी रीतिकाल में इसी ध्वनि सम्प्रदाय का अनुसरण किया गया। इसका सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसिंह में मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति बहुत कुछ ध्वनिवाद के अनुकूल थी। उनके दोहों के काव्य गुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नहीं रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक आनन्द की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्व देते थे।

रस की शास्त्रीय व्यवस्था सबसे प्राचीन है। यह भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में मिलती है। वास्तव में इसका प्रधान माध्यम नाटक ही होता है। मतिराम, देव, रसलीन, बेनीप्रवीन और उनसे भी अधिक घनानन्द ठाकुर, नेवाज, बोधा आदिक रीति-मुक्त कवि वस्तुतः पूर्ण रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं इन सभी ने रस का, विशेषकर शृंगार रस का ही वर्णन किया है; अन्य अंगों का तो प्रायः इनकी कविता में पूर्ण अभाव है।

तीसरे सम्प्रदाय अलंकार वाद का भी प्रभाव हिन्दी की रीतिकालीन कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। अलंकार शास्त्र का सम्बन्ध केवल भाषा से है, अतः उसका माध्यम काव्य है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रसंग में केवल कुछ अलंकारों की चर्चा की थी, बाद में भामह, उद्भट आदि ने इसका विवेचन किया। रीति काल में अलंकार ग्रन्थों की इतनी बृहत् संख्या ही उसका महत्व प्रतिपादन करने के लिये पर्याप्त है। यह ठीक है कि इन सभी रचयिताओं को अलंकार सम्प्रदाय का समर्थक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने न तो रस का विस्तार ही किया है और न अलंकार को ही काव्य का प्राण माना है। परन्तु जिन्होंने अपने रस-प्रेम का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलंकार-ग्रन्थों का ही प्रणायन किया है, वे पूर्णरूप से अलंकारवादी हैं। केशव, राजा जसवन्त-सिंह, उत्तमचन्द भण्डारी और कवि ग्वाल की भी रुचि अलंकारों में ही रमी थी। केशव का तो सिद्धान्त ही यह था :—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, वनिता मित्त ॥

इस प्रकार रीति-युग में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीन संस्कृत काव्य के सम्प्रदायों का अनुसरण हुआ। उपर्युक्त तीनों वादों में भी रस सम्प्रदाय की प्रधानता रही और रसों में भी शृंगार रस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुकरण पर शृंगार रस की स्वतन्त्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी। सारांश यह है कि रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत काव्य के विभिन्न-सम्प्रदायों की रचनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

यद्यपि हिन्दी साहित्य के रीतिकाल पर संस्कृत लक्षण ग्रन्थों की परम्परा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है तथापि रीतिकालीन कवि किन्हीं बातों में संस्कृत आचार्यों से पीछे रह गये हैं तथा कुछ बातों में आगे बढ़ गये हैं। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के व्यक्ति होते थे। हिन्दी रीति-काव्य क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे।

काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हो सका। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास न हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वो पद्य में ही होता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा का उस पर तर्क वितर्क हो नहीं सकता, इस अवस्था में चन्द्रालोक की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर कवि लोग अपने आचार्यत्व की इति कर देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन कवियों ने लक्षण ग्रन्थों के निर्माण में उस सूक्ष्मदर्शिता का परिचय नहीं दे सके जो संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में मिलती है। इस बात में वे संस्कृत के लक्षण ग्रन्थकारों से पीछे रह जाते हैं।

रीतिकाल के कवि संस्कृत के लक्षणकारों से एक बात में आगे बढ़ गए हैं। रीतिकाल में कुछ ऐसे भावुक सहृदय और निपुण कवि हुए हैं जिन्होंने कविता करना अपना उद्देश्य बनाया तथा काव्यांगों के निरूपण को विशेष

महत्व नहीं दिया। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। यहाँ तक कि रीतिकाल के कट्टर विरोधी आचार्य शुक्ल को भी यह कहने को बाध्य होना पड़ा—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

—:-※-:—

रीति-ग्रन्थों का प्रवर्त्तक कौन है ?

रीतिग्रन्थों के प्रवर्त्तक का निश्चय करना अत्यंत कठिन है। इस विषय में सब विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान केशवदास को रीतिग्रन्थों के प्रवर्त्तक का स्थान देते हैं तथा कुछ चिंतामणि त्रिपाठी को इस स्थान का अधिकारी घोषित करते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास महाकवि केशव को रीतिग्रन्थों की परम्परा का प्रवर्त्तक मानते हैं। उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य' के रीतिकाल के आदि में उनको स्थान दिया है। वे लिखते हैं "यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रिका आदि ग्रन्थ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी काव्य धारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीतिग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।"

उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर तीन बातें सामने आती हैं। वे निम्न-लिखित हैं :—

१—केवल किसी विशेष युग में होने से कवि उस काल का कवि नहीं कहा जा सकता। अतः केशवदास केवल भक्तियुग में होने मात्र से ही भक्त कवियों में परिगणित नहीं किए जायँगे।

२—केशवदास पर पिछले संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उन्हें सर्व प्रथम रीति-ग्रन्थाकार मान लेना चाहिये।

३—केशवदास जी यद्यपि 'रामचंद्रिका' की रचना के कारण भक्त कवि कहे जा सकते हैं तथापि उनमें यह भक्ति की प्रवृत्ति इतनी प्रबल नहीं है जितनी कि पिछले संस्कृत साहित्य का प्रभाव, अतः उन्हें भक्त कवि न कहकर रीति-ग्रन्थों का प्रथम आचार्य कहना अधिक उपयुक्त होगा।

श्यामसुन्दरदास के विरुद्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत जाता है। शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में चिंतामणि त्रिपाठी को रीति-ग्रन्थों की परंपरा का वास्तविक प्रवर्त्तन करने वाला कहा है यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि चिंतामणि से ५० वर्ष पूर्व केशवदास इसकी नींव डाल गए थे। शुक्लजी लिखते हैं:—"पर केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रन्थों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था।

हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति-काल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने संवत् १७०० के कुछ आगे पीछे 'काव्य विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रन्थ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छन्दःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी।

शुक्ल जी के मत की विवेचना करने पर यह सब विदित हो जाता है कि (१) यद्यपि केशव ने सर्वप्रथम 'रसिकप्रिया' लिखकर रीति ग्रन्थों की परंपरा आरंभ की तथापि उन्हें रीति-ग्रन्थों का प्रवर्त्तक नहीं कहा जा सकता। इसके अनेक कारण हैं।

(२) सबसे पहला कारण यह है कि केशव के पचास वर्ष बाद तक हिन्दी साहित्य में कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। यदि उनके आगे भी रीति ग्रन्थों की परंपरा निरंतर चलती रहती तो वे रीति-ग्रन्थों के प्रवर्त्तक कहे जा

सकते थे, किंतु उनके आगे परंपरा नहीं चली अतः उन्हें प्रवर्त्तक नहीं कहा जा सकता है।

(३) दूसरा कारण यह है कि रीतिकाल में जो रीतिग्रंथों की परंपरा चली वह केशवदास के दिखाए हुए मार्ग से भिन्न मार्ग पर चली। अतः इस परंपरा का प्रवर्त्तक और कोई हो सकता है केशव नहीं।

(४) केशवदास के पश्चात् सर्वप्रथम चिंतामणि त्रिपाठी ने रीति-ग्रन्थ लिखे। चिंतामणि के बाद तो रीति-ग्रन्थों की अखंड परंपरा सी चल पड़ी। इसके अतिरिक्त चिंतामणि ने प्राचीन आचार्यों को छोड़कर परवर्ती आचार्यों का आधार ग्रहण किया और यही आधार उनसे आगे के लक्षणकारों ने भी अपनाया। इसके अतिरिक्त चिंतामणि ने काव्य के उन सब अंगों का निरूपण किया जो आगे के रीत-ग्रन्थकारों द्वारा निरूपित किए गए। अतः चिन्तामणि को रीति-ग्रन्थों की परंपरा का प्रवर्त्तक मान लेना चाहिए।

आचार्य शुक्ल और श्यामसुन्दरदास के मतों की परीक्षा कर लेने पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते। केशव को शुक्ल जी के अनुसार रीति-ग्रन्थों का प्रवर्त्तक न मानने में भी आपत्ति है। वह यह है कि केशव के पश्चात् ५० वर्षों तक हिन्दी-साहित्य में कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा गया, केवल इसी कारण से वे रीति-ग्रन्थों के प्रवर्त्तक के स्थान से च्युत नहीं किए जा सकते हैं। इसका विशेष कारण यही है कि यदि कोई किसी नवीन प्रवृत्ति का प्रवर्त्तन करता है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसके बाद एक साथ उसकी परंपरा चल पड़े। लोगों को उस नवीन प्रवृत्ति के समझने तथा ग्रहण करने में भी समय लगता है। इस दृष्टि से ५० वर्ष का व्यवधान कुछ अधिक नहीं है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी भ्रम में डाल देता है कि आगे के रीति-ग्रन्थकार केशव के दिखाए हुए मार्ग पर न चलकर एक भिन्न मार्ग पर चल पड़े। केशव ने केवल रीति-ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में स्थापित की। यह बात दूसरी है कि आगे के रीति-ग्रन्थकारों ने, केशव ने जिन आचार्यों का आधार लिया, उन्हें छोड़कर अन्य आचार्यों के मतों को अपनाया।

जहाँ तक श्यामसुन्दर दास के मत का संबंध है वहाँ तक वह इस बात में उचित है कि वे केवल रीति-ग्रन्थों के लिखने की परिपाटी का आरम्भ केशव से मानकर उन्हें रीति ग्रन्थों का प्रवर्त्तक प्रमाणित करते हैं। किन्तु उनके अनुसार हम केशव को निश्चित रूप से रीति-ग्रन्थों का प्रवर्त्तक करनेवाला नहीं मान सकते हैं। इसके कारण हैं। एक तो केशव का समय भक्तिकाल है, दूसरे उनमें रीति-ग्रन्थ लिखने की प्रवृति के साथ-साथ भक्ति-भावना भी मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-ग्रन्थों के प्रवर्तक के निश्चय का प्रश्न बिना उत्तर का पड़ा हुआ है। यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि निश्चयात्मिका बुद्धि से काम लिया ही नहीं जा सकता है।

रीतिकाल में भूषण की कविता

रीतिकाल के काव्य की मूल भावना शृंगार है। शृंगार का आधार भी प्रेम न होकर रसिकता है। इसीलिए वासना को उसमें प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि के निमित्त शृंगार को प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है। पुरुष-स्त्री के प्रेम-का वर्णन, उनके यौवन-विलास, केलि-विलास, हास-परिहास, संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। इस काल का काव्य बड़ा निम्न कोटि का है। रीतिकालीन कवियों में भूषण, लाल और जसवन्तसिंह आदि कवि ऐसे हुए जिन्होंने इस लांच्छन को बचाया। जहाँ तक कलाप्रियता की बात है वहाँ तक तो यह ठीक है परन्तु "शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता, राजा महाराजाओं की रुचि थी जिसके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" इस अभाव की पूर्ति वीर रस के उत्थापक भूषण आदि कवियों ने की।

भूषण का जन्म भारत के इतिहास में उस विप्लवकारी युग में हुआ जिस युग में मुगल सम्राज्य का पतन हो रहा था और औरंगजेब की धर्मान्धता ने उस पतन को पराकाष्ठा तक पहुँचाने में सहायता दी। उस समय प्रायः सारा भारत-

सर्व छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे राज्य उठ खड़े हुये थे और दिल्ली के बादशाह की शान्ति को भंग कर रहे थे। दक्षिण में महाराष्ट्र-केशरी शिवाजी हिन्दुओं की रक्षा के लिए सतत प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार उत्तर में मुगल बादशाह का पतन और दक्षिण में मराठों का उदय हुआ और इस सन्धि और शान्ति के समय में ही भूषण का जन्म हुआ था।

भूषण रीतिकालीन धारा के कवि होते हुए भी वीररस के कवियों में एक प्रकार से अग्रणी हैं। भूषण सच्चे कवि थे। सच्चा कवि कभी पुरानी परिपाटी का अनुसरण नहीं कर सकता। भूषण ने भी घोर शृंगार के काल में वीररस की कविता करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। रीतिकालीन शृंगारी कवियों का हास-विलास का वर्णन वास्तव में समाज को पतन की ओर ले जाने वाला था। उनका कार्य देश के लिए अहितकर था। भूषण ही हिन्दी साहित्य के पहले ऐसे कवि हुए जिन्होंने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर कविता की। अपनी समकालीन परम्परागत काव्य-पद्धतियों में मर्यादित रहते हुए भी वस्तुतः वे सर्वथा मौलिक थे। अपने आश्रयदाताओं का कीर्तिगान यद्यपि उन्होंने भी किया है तथापि उनकी प्रशस्तियों में जो भावना निहित थी, वह थी हिन्दू-राष्ट्र के संगठन की। अपनी कविता में सबसे पहले उन्होंने हिन्दू-नरेशों के सहयोग और आपस की फूट के विनाशकारी परिणाम की ओर ध्यान आकर्षित किया था। भूषण वीरता के पुजारी थे और अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा इसी दृष्टिकोण से करते थे। उनकी प्रशंसा में प्रमुख रूप से देश की दशा, देश-द्रोहियों का दमन और वीर-पूजन के ही भावों को प्राकृतिक और शक्तिशाली रूप मिलता है। वे अपने आश्रयदाता नरेश की विजय को उनकी व्यक्तिगत विजय मानते थे। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू-राष्ट्र को लेकर गौरव और अभिमान की भावना उनके भीतर काम करती थी और इस अर्थ में भूषण का स्वर उस काल के सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वर है।

भूषण की कविता के विषय युद्ध वर्णन और वीरों का कीर्ति गान है। उनकी कविता में विषय के अनुरूप ही वीररस का सुन्दर वर्णन मिलता है। उनकी भाषा रसानुकूल है। वीररस का उसमें पूर्ण रूप से परिपाक हुआ है। भूषण की कविता के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है वह यह कि इन्होंने ऐतिहासिक

घटनाओं में सत्य-प्रियता का आदर्श परिचय दिया है। यहाँ तक यदि उनकी वर्णित घटनाओं को क्रमबद्ध किया जाय तो शिवाजी के कार्यों का परिचय मा झलकने लगेगा।

कीर्तिगान में भूषण ने अपने पूर्ववर्ती-कवियों की परिपाटी का भी अनुसरण किया। वे लोग अपने आश्रयदाताओं को दान-वीरता तथा उदारता का अति-रंजित वर्णन करने में अपनी कवि-कल्पना का उपयोग करते हुए सकुचाते न थे। भूषण ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया किन्तु साथ ही पात्रापात्र का ध्यान अवश्य रक्खा। उन्होंने दान-शीलता का वर्णन उसी आश्रयदाता का किया जो उसका उपयुक्त अधिकारी था। शिवाजी की दानशीलता तो इतिहास प्रसिद्ध है। इस प्रकार शिवाजी जैसे दानवीर की प्रशंसा में यदि भूषण की कविता में कुछ अतिरंजन भी हो तो वह बुरा नहीं है।

रीतिकाल में संस्कृत के काव्य सम्बन्धी सम्प्रदायों का कवियों ने अनुसरण किया। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसरण में केशवदास, ग्वाल आदि ने अलंकार ग्रन्थों का सृजन किया। भूषण की राष्ट्रीय-प्रतिभा को इस प्रगति ने आकर्षित किया और उन्होंने शास्त्रीयता के प्रभाव में आकर एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा। किन्तु उन्होंने उसका नामकरण शैली के आधार पर "शिवराज-भूषण" किया। इस प्रकार वे अपने समकालीन कवियों के नायिका वर्णन के चक्कर से बचकर निकल गये। उनकी प्रतिभा ने इस क्षेत्र में भी परिवर्तन किया। भूषण ने रीति शास्त्र की परम्परा का पालन तो किया किन्तु उसमें कुछ परिवर्तन भी किया। वस्तुतः वे कवि थे न कि अलंकार-शास्त्री।

भूषण को कुछ लोग जातीय कवि मानते हैं और इसका कारण यह बताते हैं कि उन्होंने हिन्दुओं की तो प्रशंसा की है और मुसलमानों की निन्दा। यह कहना सर्वथा असंगत है। यह तो भूषण को आज के युग की परिस्थितियों में रखकर जाँचना हुआ। उस समय हिन्दूपन का सन्देश ही राष्ट्रीयता का सन्देश था क्योंकि मुसलमान ही विदेशी और अन्याचारी थे। उस समय हिन्दू ही राष्ट्र का प्रमुख अंग समझे जाते थे, आजकल की तरह हिन्दू मुसलमान दोनों ही राष्ट्र के अंग न थे। इस दृष्टि से भूषण ने हिन्दुओं अर्थात् भारतीयों को जगाने

के लिए कविता की तो वह भी राष्ट्रीय ही समझी जानी चाहिए क्योंकि मुसलमान तो आक्रमणकारी और विदेशी थे।

सारांश यह है कि रीतिकाल के कवियों में भूषण की वीर रसपूर्ण कविता का अपना विशेष स्थान है। आपने वीररसपूर्ण कविता करके चली आती हुई रीति परम्परा को तोड़ा और अपनी मौलिक उद्भावनाओं से रीतिकाल की कविता को समृद्ध बनाया। रीतिकालीन कविता काव्य की दृष्टि से प्रायः महत्वहीन है किन्तु भूषण, लाल, जसवन्तसिंह आदि कवियों ने वीररस की सुन्दर कविता करके इस लांच्छन को बचाया। इन वीररस के कवियों में भूषण ही सच्चे वीररस के उत्थापक और श्रेष्ठ कवि हैं। आपने समकालीन कवियों की भाँति देवी सरस्वती का तिरस्कार नहीं किया वरन् "ब्रह्म के आनन से निकसी ते अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी" जानकर शिवाजी और छत्रसाल जैसे नायकों के यश गाकर उसे पुनः पवित्र कर दिया। भूषण ने अपनी प्रतिभा से रीति काव्य में नवीन लहर पैदा की और एक भारी अभाव को दूर किया। यही नहीं तत्कालीन राष्ट्रीय समस्या में पूरा सहयोग दिया। उनका काव्य नवयुग की ओर नई प्रेरणा की उत्तेजक शंख ध्वनि था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रीतिकालीन कवियों में भूषण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने रीति-काव्य में नवीन परिवर्तन उपस्थित करके उसका गौरव बढ़ाया।

—:-※-:—

देव का आचार्यत्व

रीतिकाव्य के शृंगारी कवियों के शिरोमणि महाकवि देव का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। ये आचार्य और कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। संस्कृत में जो आचार्य हुआ करते थे, वे प्रायः काव्य-रचना नहीं करते थे, किन्तु रीतिकाल के कवियों की यह विशेषता है कि इन्होंने कवि कर्म के साथ ही आचार्यत्व के कार्य-भार का भी सम्पादन किया। देव रीति काव्य के उन सफल कवियों में से हैं जिन्होंने कवि और आचार्य दोनों पदों के कर्त्तव्यों का पूर्ण निर्वाह किया। इन्होंने रीति-सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं और उनमें काव्यांगों का

अच्छा निरूपण किया है रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा ये बहुत बढ़े-चढ़े हैं। रीतिकालीन कवियों में आचार्यत्व की तुलना में केशवदास ही इनका मुकाबिला कर सकते हैं। यह कहना कि देव और केशव में आचार्यत्व की दृष्टि से कौन बड़ा है, बड़ा ही विवादग्रस्त विषय है।

केशव और देव की आचार्यत्व की दृष्टि से तुलना करने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि देव के आचार्यत्व का क्या स्वरूप है। देव रीतिकाल के उन आचार्य कवियों में है, जिन्होंने काव्य के सर्वांग का विवेचन किया है। इनके प्रमुख रीति ग्रन्थ दो हैं—भाव-विलास और शब्दरसायन। सभी रसों का सर्वांग पूर्ण विवेचन मुख्यतः शब्द रसायन में मिलता है। भाव-विलास में रस के अतिरिक्त अंगों एवं रस-परिपाक का सम्यक् विवेचन है, परन्तु उसमें केवल शृंगार को ही लिया गया है। अलंकार-निरूपण, भाव-विलास में संक्षेप से और शब्द रसायन नामक ग्रन्थ में कुछ विस्तार से वर्णित है। शब्दरसायन में शब्द-शक्ति, गुण-रीति और पिंगल का भी क्रमिक विवेचन है। इसके अतिरिक्त काव्य की आत्मा काव्य-शरीर काव्य-प्रयोजन और उसकी महिमा आदि के विषय में भी देव ने स्थान-स्थान पर सामान्य सिद्धान्त दिए हैं। तात्पर्य यह है कि केवल दोषों को छोड़कर काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन देव के ग्रन्थों में पाया जाता है। एक बात अवश्य है कि इन्होंने शृंगार रस और नायिका भेद का विस्तार अनुपात से अधिक किया है यद्यपि अन्य काव्याङ्गों की भी उपेक्षा नहीं की गई। संस्कृत में काव्यांगों के पांच सम्प्रदाय स्थापित हुए थे—रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, तथा वक्रोक्ति।

महत्व की दृष्टि से काव्यांगों में सबसे पहिला स्थान रस का ही है। रस की परिभाषा देव ने इस प्रकार की है—

जो विभाव अनुभाव अरू, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥

इसी प्रकार का शास्त्रीय विवेचन देव ने रस के स्वरूप और उसकी स्थिति का भी किया है। रस के स्वरूप को उन्होंने आनन्दमय एवं ब्रह्मानन्द-सहोदर माना है। वे स्पष्टतः उसे लौकिक एवं ऐन्द्रिय अनुभव से परे मानते हैं। शृंगार

रस की स्थिति को देव ने संस्कृत के आचार्यों के अनुसार नायक-नायिका के हृदय में ही माना है। देव ने रसों के सम्बन्ध में कुछ विशेष परिवर्तन भी किया है। एक तो उन्होंने नौ रस माने हैं जब कि भरतमुनि ने काव्य के सम्बन्ध में आठ ही रसों का निरूपण किया है। दूसरे देव ने रस को दो श्रेणियों में विभिक्त किया है—लौकिक और अलौकिक। यह निरूपण देव ने सीधा रस-तरंगिणी से लिया है। इसी प्रकार रसों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में देव ने दो मत प्रकट किए। पहली बात तो यह कि मुख्य रस केवल चार हैं:—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। शान्त रस को छोड़ कर शेष चार रसों का जन्म इन्हीं से होता है। शृंगार से हास्य का, रौद्र से करुण का वीर से अद्भुत का और वीभत्स से भयानक का। इसी सम्बन्ध में देव ने दूसरी स्थापना नौ रसों में तीन मुख्य मान कर की है। तीन मुख्य रस ये हैं शृंगार, वीर और शांत। शेष रस इन्हीं के आश्रित हैं, वास्तव में यह वर्गीकरण उचित नहीं है। शृंगार रस को प्रधानता देने वाला यह सिद्धान्त रस-शास्त्र में बहुत पुराना है। हिन्दी में देव के पूर्व केशव, मतिराम, चिंतामणि आदि शृंगार के रस-राजत्व की घोषणा कर चुके हैं। शृंगार की प्रधानता तो ठीक है किन्तु उसकी एक मात्रता सर्वथा मान्य नहीं है, क्योंकि शृंगार से अन्य विरोध रसों का विरोध मिटाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है।

संचारियों के वर्णन में भी देव ने सामान्य परम्परा से कुछ विभिन्नता दिखाई है। शास्त्र में एक प्रकार के ही संचारी माने गए हैं, किन्तु देव ने उनके दो भेद किए हैं—शारीरिक और आंतरिक। शारीरिक संचारियों से अभिप्राय सात्त्विक भावों से है, जिनको साधारणतः अनुभव के ही अन्तर्गत माना गया है। आंतरिक संचारियों से तात्पर्य निर्वेदादि मानसिक संचारियों से है। देव ने सात्त्विक भावों को रस का विलासक माना है और उन्हें संचारी की संज्ञा दी है, परन्तु इसके कारण का निर्देश नहीं किया है। दूसरे प्रकार के अर्थात् आंतरिक संचारी की स्थापना तो ठीक ही है। दूसरी नवीनता देव ने छल को चौंतीसवाँ संचारी मान कर की है शुक्ल जी ने इस नवीनता को निरर्थक मानते हुए छल को अवहित्थ संचारी के अन्तर्गत ही माना है परन्तु देव ने रस-तरंगिणी कार के आधार पर दोनों में भेद किया है। परन्तु यह सब होते हुए भी देव द्वारा

निरुपित छल में अवहित्थ से कोई विशेष पार्थक्य नहीं है। इसी प्रकार जहाँ अन्य रीतिकारों ने आठ काम दशाओं का वर्णन किया है वहाँ देव ने प्रत्येक के अनेक भेद-उपभेद कर डाले हैं। परन्तु इस प्रकार के अनावश्यक विस्तार का कोई भी महत्व नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का विस्तार रीति के अध्ययन में बाधक होता है।

रीतिकाल में नायिका-भेद शृंगार रस का अंग न रहकर एक स्वतन्त्र अंग बन गया था। देव ने भी काव्य के सभी अंगों की अपेक्षा इसे अधिक महत्व दिया है। उनके अधिकांश ग्रन्थों में इसी का वर्णन है। उन्होंने कहा भी है कि "बाणी को सार बखान्यौं सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी।" अन्य कवियों ने जहाँ नायिका-भेद का वर्णन अधिक से अधिक कर्म, काल, गुण, वयःक्रम, दशा और जाति के अनुसार किया है, वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्व और अंश के आधार को भी ग्रहण किया है। इस प्रकार ये नए भेद इन्होंने अन्य आचार्यों से अधिक किए हैं। किंतु यह उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। प्रकृति, सत्व और अंश का विवेचन आयुर्वेद तथा काम शास्त्र और देश-भेद का संकेत मम्मट ने काव्य-प्रकाश में तथा केशव ने रसिक-प्रिया में पहले ही दे दिया है। इस भेद विस्तार के अतिरिक्त देव ने अपने ढंग बनाकर कुछ नवीन संगतियां बैठाने का प्रयत्न किया है। उनमें दो मुख्य हैं:—

एक तो मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के विभिन्न भेदों की पूर्व राग, प्रथम-संयोग और सुख-भोग के साथ संगति। दूसरी काम दशा, अवस्था और ह्रास की क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के साथ संगति। इन दोनों संगतियों में कुछ विचित्रता होते हुए भी इसका कुछ महत्व नहीं है और औचित्य की दृष्टि से भी यह ठीक नहीं है।

नायिका के अतिरिक्त देव ने नायक, उसके सहायक, दूती आदि का भी वर्णन किया किन्तु वह साधारण परम्परा का अनुकरण मात्र है, उनमें कोई मौलिकता नहीं है।

देव ने अलंकारों का कुछ विवेचन भाव विलास में किया है। वे अलंकार प्रायः दण्डी के अनुसार ही हैं। दण्डी से केशव ने और केशव से देव ने भाव

ग्रहण किया है, अतएव यथासंख्य आदि कुछ अलंकारों के नाम संस्कृत आचार्यों के अनुसार न होकर केशव के अनुसार ही हैं। अलंकार के विषय में देव ने दो विचित्रताएँ कीं। एक तो उन्होंने शब्दालंकार को (मुख्यतः चित्र को) हेय माना है। इसमें शाब्दिक माधुर्य्य और चित्रोपमता अवश्य रहती है परन्तु अर्थ का अभाव अथवा क्लिष्टता होने के कारण इन्हें प्रेत-काव्य माना है। देव की दूसरी मान्यता अलंकारों में उपमा और स्वाभावोक्ति को मुख्य मानने की है। इस विषय में कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है, यह देव की स्वय की कल्पना है। उन्होंने उपमा के साधारण भेदों के अतिरिक्त कुछ नवीन भेद भी किए हैं। किन्तु उपमा को सब से प्रधान ही नहीं वरन् सभी अलंकारों का मूल आधार मानना देव की मौलिक उद्‌भावना नहीं है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में वामन ने सब से पूर्व इस सिद्धान्त की घोषणा की थी और हिन्दी में भी देव से भूषण इसको ग्रहण कर चुके थे "भूषण सब भूषनानि में उपम उत्तमा चाहि।"

अधिकांश रीति कवियों ने शब्द-शक्ति का विवेचन इतनी गहराई से नहीं किया जितना देव ने किया। देव ने चार शब्द-शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। प्रथम तीन शक्तियों के विषय में देव का मत है कि किसी शब्दार्थ में साधारणतः तीनों शक्तियाँ ही रहती हैं, परन्तु वहाँ जिसका अधिक प्रकाश रहता है वहीं उसी की स्थिति मानी जाती है। इसी प्रकार उन्होंने तीनों शब्द-शक्तियों के अनेक नये संकीर्ण भेदों की सृष्टि कर डाली। चौथी शब्द शक्ति के सम्बन्ध में प्राचीन मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद रहा है। देव ने इसे असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर इसी परम्परा से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है कोई नवीन उद्‌भावना नहीं की। रीति गुण का विवेचन भी देव ने काव्य रसायन में ही किया है। रीतियों को उन्होंने काव्य का माध्यम मानते हुए, रस से उनका सम्बन्ध माना है।

संस्कृत के साधारण रीति ग्रन्थों में पिंगल को नहीं लिया है, परन्तु देव ने अपनी काव्य की परिभाषा में रस, भाव, और अलंकार के साथ छन्द का वर्णन किया है। छन्द को उन्होंने कविता-कामिनी की गति माना है इस प्रसंग में देव ने कुछ नवीन प्रयत्न किए हैं। एक तो इन्होंने छन्द का लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में दिया है। सवैयों और घनाक्षरी में भी कुछ नवीन भेद किये हैं।

ये उद्भावनायें वास्तव में महत्वपूर्ण हैं परन्तु इससे देव के आचार्य रूप की अपेक्षा कलाकार रूप का अधिक सम्बन्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देव का रीति विवेचन पूर्णतः मौलिक नहीं है। नायिका भेद में उन्होंने केशव के माध्यम से विश्वनाथ तथा भानुदत्त का अनुसरण किया है। इसके अतिरिक्त इनका अलंकार, शब्द-शक्ति और रीति-गुण के विवेचन में कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं है। देव की मौलिकता वास्तव में विस्तार बढ़ाने तथा वर्ग बांधने तक ही सीमित रही है और इस क्षेत्र में भी उन्हें ऐसी सफलता नहीं मिली कि भारतीय रीति शास्त्र पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ता। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-साहित्य में रस-सिद्धान्त का इतना समर्थ एवं व्यापक प्रतिपादन दूसरा कवि नहीं कर पाया, जितना देव ने कर दिया। केवल इसी दृष्टि से उनका महत्व है, उनकी मौलिक उद्भावनाओं आदि का आचार्यत्व के क्षेत्र में कोई महत्व नहीं है।

आचार्यत्व की दृष्टि से केशव का स्थान देव से ऊँचा है। केशव को संस्कृत रीति-शास्त्र को हिन्दी में अवतरित करते हुये, अलंकार और रस दोनों सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा करने का मुख्य श्रेय प्राप्त है। देव का विषय-क्षेत्र अपेक्षाकृत किंचित अधिक व्यापक है, उन्होंने शब्द-शक्ति, रीति, गुण, पिंगल आदि का भी विवेचन किया है परन्तु अस्पष्टता दोष दोनों में प्रायः एक सा ही है। केवल एक बात में देव स्पष्टतः ही केशव से अधिक गौरव के अधिकारी हैं—वह है उनकी सूक्ष्म एवं गहरी रस-चेतना, जो कि आलोचक अथवा आचार्य का एक मूलवर्ती गुण है। केशव के अतिरिक्त शेष चारों कवियों—कुलपति, श्रीपतिदास तथा प्रतापसिंह ने आचार्य-कर्म को देव की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीरता तथा मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। दास वस्तुतः हिन्दी के पहले आचार्य हैं। रीति युग के आचार्यों में हिन्दी की प्रकृति का इतना विशद ज्ञान और किसी को नहीं था। विवेचन की स्वच्छता, सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग तथा भाषा की प्रकृति का ज्ञान—इन तीनों के विचार से दास की तुलना में देव क्या, कोई भी अन्य रीतिकालीन कवि नहीं ठहरता। परन्तु मौलिकता का उनमें अभाव होने के कारण देव का स्थान उनसे ऊँचा है। प्रतापसिंह रीतियुग के प्रथम

श्रेणी के कवियों में हैं, परन्तु काव्य विलास में सिद्धान्तों का निरूपण तथा उनका व्याख्यान करते समय वे अपने कवित्व को बाधक नहीं होने देते।

सारांश यह है कि काव्य का सर्वाङ्ग विवेचन करने वाले इन रीति आचार्यों में देव की गणना अवश्य की जा सकती है; परन्तु आचार्य की दृष्टि से वे इन सभी से हल्के पड़ते हैं। वास्तव में उनका महत्व रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करने के कारण ही है।

रीति काव्य में बिहारी का स्थान

रीति-काव्य की परम्परा प्रायः तीन सौ वर्षों तक चलती रही। इसकी मूल भावना शृंगार थी। रीतिकाल में इन्द्रिय-जन्य विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा था। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा अध्यात्म के आवरण में शृंगार का वर्णन खूब हुआ, किन्तु रीतिकाल में यह आध्यात्मिक आवरण भी हट गया। इस प्रकार ऐहिक शृंगार के वर्णन की अतिशय प्रधानता ही इस काल का मूलाधार है।

शृंगार रस का रस राजत्व संस्कृत में ही स्वीकार किया जा चुका था। पहले पहल जयदेव ने गीत गोविन्द में कृष्ण-राधा को अभिनव रूप में उपस्थित किया। विद्यापति ने भी अपने काव्य की प्रेरणा का आधार जयदेव के गीत गोविन्द को रक्खा। रीति कवियों के सामने विद्यापति और सूरदास दोनों थे, तथा शृङ्गार की प्रचुर सामग्री भी थी किन्तु उन्होंने राधाकृष्ण को भक्त कवियों से भिन्न रूप रक्खा।

कृष्ण भक्ति-काव्य में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में देखा जाता है यद्यपि उसमें वह ऊहात्मकता नहीं चली थी जो रीति में दिखलाई पड़ती है, कारण यह है कि उनके सम्मुख कृष्ण-काव्य निश्चित आधार था। भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी अनेक धारणाओं और शैलियों के लिये भी रीति काव्य कृष्ण काव्य का ऋणी है। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों का प्रभाव भक्ति काव्य पर ही बहुत कुछ पड़ चुका था।

रीति काव्य में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर जब रीति ग्रंथ लिखे जाने लगे तब उनके उदाहरणों की भी सृष्टि हुई। इन रीति ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में जिन कवियों की रचनाएँ रखी गई थीं उनकी ओर हिन्दी के लक्षण ग्रन्थकारों और कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक बात थी। ये ग्रन्थ—गाथाशतशती, अमरूकशतक, अर्याशतशती, कालिदास माघ आदि। इन सभी का हिन्दी रीति काव्य पर अमिट प्रभाव पड़ा है। 'बिहारी सतसई' में पिछली दोनों सतसइयों और अमरूकशतक के कितने ही भाव छाया रूप में ग्रहण कर लिये गये हैं और शैली ध्वनि, व्यंजना आदि की दृष्टि से इन्हीं रचनाओं को आदर्श मानकर चला गया है। खोज करने पर कितने ही संस्कृत मुक्तकों में ऐसे दोहे मिल जाते हैं जिनको बिहारी ने अवश्य ध्यान में रक्खा है। इस प्रकार बिहारी के माध्यम द्वारा संस्कृत मुक्तक-साहित्य का एक बड़ा भाग हिन्दी रीतिकाव्य का अंग हो गया। बाद के कवियों ने उन्हीं की सतसई को आधार बनाया। विरह-वर्णन की एक विशिष्ट ऊहात्मक शैली बन गई किन्तु रीतिकाल के कवियों ने उसका ग्रहण पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों से किया, संस्कृत से नहीं।

इसी प्रकार प्रकृति वर्णन उद्दीपन के रूप में होने लगा और वस्तु वर्णन का अभाव हो गया। धीरे-धीरे षट्ऋतु का विकास हुआ। इसे उद्दीपन काव्य भी कह सकते हैं। हिन्दी में आरम्भ से ही उद्दीपन रूप में स्वतन्त्र वर्णन 'षट्ऋतु और बारह मासे' के रूप में लिखे जाने लगे। रीति कवियों ने उन्हें अन्यतम उच्चकोटि तक पहुँचा दिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी रीतिकाव्य ने संस्कृत काव्य से बहुत कुछ उधार लिया। यही नहीं, उसने अपभ्रंश और प्राकृत से भी बहुत कुछ उधार लिया। "रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव" नामक अध्याय में हम विवेचन कर चुके हैं कि संस्कृत ग्रन्थों का रीति काव्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

रीति काव्य की परम्परा में सबसे पहले कृपाराम मिलते हैं, जिन्होंने सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हित-तरंगिणी की रचना की। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सतसई लिखने की परम्परा बिहारी से पहले ही चल पड़ी थी।

कृपाराम ने अपने ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती रीति कवियों का भी उल्लेख किया है। इनके समसामयिक कवि करनेस और मोहनलाल मिश्र के अप्राप्त ग्रन्थ 'राम भूषण' 'अलंकार चन्द्रिका' और 'श्रृंगार सागर' आदि हैं। इसी समय हमें रहीम के बरवै और गंग के कवित्त मिलते हैं। इसके बाद हमें केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र का नखशिख सम्बन्धी ग्रन्थ मिलता है, परन्तु रीति-काल के सर्वप्रथम कवि केशवदास ही रीति-कवियों में अग्रगण्य हैं। केशवदास के दो रीति ग्रन्थ हैं—रसिक प्रिया और कवि प्रिया।

वास्तव में सोलहवीं शताब्दी में भक्ति और सन्त धाराएँ शिथिल हो रही थीं और रीतिकाव्य धारा निरन्तर बल प्राप्त कर रही थी। इसी शताब्दी में चिन्तामणि त्रिपाठी इस क्षेत्र में आए। केशव चमत्कार वादी थे, चिन्तामणि रसवादी। हिन्दी में रीतिकाल के प्रवर्त्तक वैसे केशव ही हैं परन्तु लक्षण लिखने वाले वर्ग में चिन्तामणि का ही अनुकरण हुआ है। केशव प्रिय रहे, परन्तु उनकी अलंकार-प्रधान शैली की परिपाटी नहीं बनी। अठारहवीं शताब्दी के अन्य प्रमुख कवि—बिहारी, सेनापति, मतिराम, कुलपति मिश्र, महाराज जसवंत-सिंह, बेनी आदि हैं।

रीति काव्य की धारा का रंग रूप बिहारी से पूर्व ही निश्चित हो चुका था। बिहारी ने इस धारा में विशेष योग दिया। उन्होंने मूल संस्कृत ग्रन्थों की प्रवृत्ति से ही अपने काव्य को परिपुष्ट किया। एक कार्य उन्होंने अवश्य नवीन किया। उनके समय तक ब्रजभाषा में प्रचुर रचना हो चुकी थी, परन्तु उसका रूप शुद्ध और निश्चित नहीं हुआ था। बिहारी ने एक निश्चित व्याकरण, निश्चित शैली और निश्चित भाव-प्रकाशन प्रणाली का प्रयोग किया है। उन्होंने श्लेष और यमक के असाधारण प्रयोग किए हैं।

बिहारी सतसई की उत्कृष्टता की विशेषताओं के कई कारण हैं। एक तो उसमें बड़ा सुन्दर समास पद्धति का उत्कर्ष हुआ है। छोटे से छन्द में सुन्दरतम भावों, विचारों और कल्पनाओं को इकट्ठा करके बिहारी ने उसका उत्कर्ष बढ़ाया। दूसरे उनका काव्य अत्यन्त उच्चकोटि का ध्वनि काव्य है। रस, नायिका भेद, अलंकार की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और

उसके पांडित्य के साक्षी हैं। उनमें हाव भावों का बड़ा ही सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन हुआ है। सेनापति के अतिरिक्त किसी भी रीतिकालीन कवि ने प्रकृति को स्वतंत्र आलम्बन नहीं बनाया। बिहारी का इस ओर किया हुआ प्रयत्न अवश्य सराहनीय है। उनके नीति के दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी ही मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं और भक्ति के दोहों में कवि भावुक भक्त के रूप में हमारे सामने आता है। उनकी सतसई सूक्ति और सुभाषित की दृष्टि से बड़ा अनमोल ग्रन्थ है। बिहारी की कविता में काव्य-रीति के सभी अंग प्रचुर मात्रा में अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ मौजूद हैं, और वह भी एक ही दोहे में। अलंकारों की सुन्दर योजना, रस की मधुर व्यंजना, शब्दों का लालित्य आदि इतनी मात्रा में एक साथ कहीं भी नहीं मिलेगा। सतसई में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की सामग्री भी उपस्थित है। शृंगार के क्षेत्र में बिहारी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उनकी बहुज्ञता का प्रमाण भी उनकी रचनाओं से मिलता है।

परवर्ती साहित्य पर भी बिहारी की रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा है। सतसई की परंपरा बिहारी से चली जिसको मतिराम, रामसहाय, चन्दन और विक्रम ने अपनाया। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब पर बिहारी-सतसई का प्रभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी-सतसई परवर्ती सतसईकारों के लिए उसी प्रकार आदर्श बनी जिस प्रकार गाथा और आर्यासप्तशतियाँ बिहारी के लिए आदर्श थीं। परन्तु यहाँ बिहारी ने पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में गाथा और आर्या सप्तशती के मजमून छीन लिए वहाँ बिहारी की सतसई को आदर्श ग्रन्थ मानकर चलने वाले कवियों ने उनके भावों का अपहरण कर उनकी बड़ी छीछालेदर की। बिहारी का सौन्दर्य समास पद्धति, भाषा-सामर्थ्य और शब्दों के अत्यन्त उपयुक्त चुनाव पर आश्रित है। जहाँ अमरूक ने एक भाव के लिए एक बड़ा श्लोक लिखा वहाँ बिहारी ने उसे आद्यन्त काट-छाँट कर और अभिधा के स्थान पर व्यंजना का प्रयोग करके उसका उत्कर्ष अमरूक से अधिक बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त शब्द-सौन्दर्य, अनुप्रास और माधुर्य की जो छटा बिहारी के दोहे में है, वह भाव को विकसित करने में कहीं अधिक सहायक है। इन बातों का अमरूक, गाथा और आर्या में—सब कहीं अभाव है। इसी भाषा सामार्थ्य के अभाव के कारण बिहारी के

बाद के सतसईकार भी अपने भावों का प्रकाशन इतना सुन्दर नहीं कर पाये हैं जितना बिहारी कर सके।

बिहारी के परवर्ती सतसईकारों के अतिरिक्त भी अन्य कवियों ने बिहारी की कविता से सहायता ली। वास्तव में बिहारी के दोहे स्वयम् 'रूढ़ि' बन गए हैं। उनसे श्रृंगार काल (जैसा कि रीतिकाल को कुछ विद्वान कहते हैं) का प्रत्येक कवि प्रभावित हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी रीतिकाल के केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं।

बिहारी और उनकी सतसई के सम्बन्ध में जो लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि बिहारी ने बहुत थोड़ी रचना करके रीतिकाल में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। बिहारी को जो सम्मान मिला वह इस लिए नहीं कि वे अपनी कविता के क्षेत्र में अकेले थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपनी रचना के लिए श्रृंगार का जो क्षेत्र चुना उसमें उसी ढंग की मुक्तक-रचना करने वाले कवियों से अधिक बढ़कर सिद्ध हुए। बहुतों ने उनकी नकल की, बहुतों ने उनके भाव लिए, भाषा ली, शैली ग्रहण की, पर कोई इतना समर्थ या शक्तिशाली नहीं हुआ जो इस परम्परा में कुछ परिवर्तन कर देता। हिन्दी रीति-काव्य में बिहारी का अपने काव्य और उसके प्रभाव के कारण एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान है—प्रायः वही स्थान जो भक्ति-काव्य में तुलसीदास या सूरदास का है। वे निःसंदेह रीति-काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं।



सेनापति रीतिकालीन कवि हैं अथवा भक्ति कालीन

सेनापति का जन्मकाल संवत् १६४६ के लगभग माना जाता है। यदि हम इस संवत् की दृष्टि से देखें तो सेनापति भक्तिकालीन कवि ही ठहरते हैं। किन्तु जैसा कि हम "रीति-ग्रन्थों की परम्परा का प्रवर्तक कौन है" शीर्षक प्रकरण में कह आए हैं कि केवल किसी युग-विशेष में वर्तमान रहने से कोई कवि तत्कालीन कवि नहीं कहा जा सकता। इस बात का निश्चय करने के लिए उसकी रचनाओं की प्रवृत्ति आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। कुछ विद्वान सेनापति को

भक्तिकालीन न मानकर रीतिकालीन ही मानते हैं इसके कई कारण हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

१—इन्होंने शृङ्गार के आधार पर ऋतु-वर्णन किया जो रीतिकालीन कवियों की एक विशेषता थी।

२—इनकी कविता में विरामों पर अनुप्रास का निर्वाह और यमक का चमत्कार मिलता है। यह अलंकारों की ओर प्रवृत्ति भी सेनापति की रीतिकालीनता की द्योतक है।

३—इन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति अपना वंश-परिचय भी दिया है जब कि भक्तिकालीन कवि इन लौकिक और तुच्छ बातों की परवाह न किया करते थे।

देखिये अपने पुरखों की कवि ने कितने गर्व से प्रशंसा की है—

दीक्षित परशुराम, दादा है विदित नाम,
जिन कीन्हें जश, जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता, गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है॥
महा जानमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि, दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दें सुनत कविताई है॥

४—ये रीतिकालीन कवियों की भाँति राजदरबार में रहते थे।

यदि हम जरा गहराई से विचार करें तो हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि सेनापति भक्तिकालीन कवि हैं ये तथा उपर्युक्त तत्व सारहीन है। जहाँ तक सेनापति के ऋतु-वर्णन का प्रश्न है वह रीतिकालीन कवियों की शैली पर अवश्य हुआ है किन्तु उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो सेनापति को रीतिकालीन कवियों से अलग करती है। जहाँ रीतिकालीन कवियों का ऋतु-वर्णन केवल परम्परा युक्त है तथा उसमें हृदय-तत्त्व का अभाव मिलता है वहां सेनापति अपने प्रकृति-वर्णन में एक सहृदय कवि के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

आचार्य शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है—"वे बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतु वर्णन तो इनका जैसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतु वर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है।

जहाँ तक अलंकारों की ओर प्रवृति का सम्बन्ध है, सेनापति रीतिकालीन कवियों की भाँति कोरे अलंकारवादी न थे। शुक्ल जी के शब्दों में "इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और प्रौढ़ तथा प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूर्ण भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता थी।" कहने का तात्पर्य यह है कि सेनापति रीतिकालीन कवियों की तरह कोरे चमत्कारवादी न थे वरन् उनमें भावुकता और चमत्कार दोनों का अपूर्व सामंजस्य मिलता है।

यह कहना भी भ्रमपूर्ण है कि रीतिकालीन कवियों की भांति सेनापति दरबारी कवि थे अतः उन्हें रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में रख लेना चाहिए। सेनापति ने राज-आश्रय को छोड़कर सन्यास ग्रहण किया और तभी से उनके काव्य-व्यक्तित्व का अधिक विकास हुआ।

यद्यपि भक्तिकालीन कवियों ने अपना वंश-परिचय नहीं दिया है तथापि उन्होंने भी अपनी तुच्छता प्रकट करने के लिए अपने विषय में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने 'साहित्य लहरी' में अपना वंश-वृक्ष दिया है। केशवदास ने भी अपने विषय में लिखा है। इस प्रकार सेनापति ने भी यदि अपना वंश-परिचय दे दिया तो इसका यह मतलब नहीं कि हम उन्हें भक्तिकालीन न मानकर रीतिकालीन कवियों में परिगणित करलें।

इनके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह है कि सेनापति के इष्ट देव राम थे, रीतिकालीन कवियों की भांति उन्होंने कृष्ण के मधुर रूप की उपासना न की। ऊपर दिए हुए उनके 'वंश-परिचय' में उन्होंने सीतापति को ही याद किया है राधावल्लभ कृष्ण को नहीं। इन सब बातों के आधार पर हम सेनापति को भक्तिकालीन कवि ही मान सकते हैं रीतिकालीन नहीं।

आधुनिक काल

आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियां

आधुनिक काल की कविता का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु के साथ हिन्दी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रांति हो गई।

रीतिकाल में काव्य-सरिता का जो अबाध प्रवाह केशवदास, चिन्तामणि तथा मतिराम प्रभृत्ति कवियों ने प्रवाहित किया था वह पद्माकर के समय तक क्षीण तथा मन्द पड़ चुका था। आचार्यत्व के फेर में पड़ कर रीतिकाल के प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने जो कुछ लिखा वह पिष्टपेषण मात्र था। उनकी रचना से साहित्य की मात्रा की अभिवृद्धि चाहे हुई हो परन्तु साहित्य में कुछ नवीनता के दर्शन नहीं हुए। लौकिक तथा विलासशील वस्तुओं द्वारा आकर्षित होकर कवि-समुदाय कविता का महान् तथा अलौकिक गुण भूल गया। उनकी रचनाओं में जीवन से सम्बन्धित उच्च भावनाएँ प्रायः तिरोभूत हो गईं। परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। देश की राजनैतिक स्थिति में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अंग्रेजों के शासन के साथ-साथ उनकी संस्कृति भी भारतवर्ष पर छा गई। टिक्कस, अकाल, तथा शासन के कीय अन्याचारों से जनता में जागृति हुई। मानव सुलभ प्रतिकार की भावनाओं ने जनता को व्यग्र कर दिया। शृंगार स्वप्नों के वर्णन करने का इस अवस्था में समय नहीं था। इस काल में परिस्थितियों के अनुरूप ही जागृति के गीतों का सृजन हुआ।

यही कारण है कि भारतेन्दु के समय से वर्तमान हिन्दी-काव्य की जो धारा रही है उसमें प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ, जैसे वैष्णव भक्ति आदि, के साथ ही कुछ ही कुछ नई भावनाओं का भी प्रवेश हुआ। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना है। राष्ट्रीय वीरों का गान, राष्ट्र-पतन के लिए-दुःख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के

परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू-हितैषिता (जातीयता)—ये भारतेन्दु काल के काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं।

भारतेन्दु काल से चलकर ये प्रवृत्तियाँ निरंतर विकसित, परिमार्जित एवं अनेक अन्य प्रवृत्तियों से प्रभावित होती हुई अब तक चली आ रही हैं। प्रारंभ के लगभग १०, १५ वर्षों तक तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पं० रामचरित उपाध्याय, हरिऔध, रामचंद शुक्ल, पं० रूपनारायण पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृत्ति कवियों ने भारतीयता, हिन्दू जातीयता, राष्ट्रीयता जैसे विषयों पर उसी प्रकार लिखा है जिस तरह भारतेन्दु काल के कवियों ने लिखा। बीसवीं शताब्दी में आकर इन प्राचीन प्रवृतियों के साथ कुछ नितान्त नवीन प्रवृत्तियाँ भी इसमें मिल गईं। ये प्रवृत्तियाँ संक्षेप में दो शब्दों में व्यक्त की जा सकती हैं—छायावाद, और रहस्यवाद। इन प्रवृत्तियों के मूल में कई प्रकार की प्रेरणाएँ हैं। राजनैतिक परिस्थितियों, विशेषकर राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को हताश कर दिया था। साथ ही महायुद्ध की समाप्ति के फलस्वरूप हमारे देश में जो पहले राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याएँ थीं उनमें आर्थिक समस्याओं का भी योग हो गया। इसका प्रभाव हमारे कवियों पर भी खूब पड़ा। पहले तो कुछ कवियों ने चारों तरफ के वातावरण को भुलाने की चेष्टा की और अपनी कल्पनानुभूति द्वारा बनाए हुए सौन्दर्य-प्रेम और करुणा के लोक में जैसे खो गये। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई क्योंकि कवियों को अनुभव हुआ कि बाह्य परिस्थितियों से वे अधिक समय के लिए ध्यान नहीं हटा सकते। उन्हें सामाजिक और आर्थिक बन्धनों का सामना करना पड़ता था। परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में अपना क्षोभ एवं विद्रोह न प्रकट करके आध्यात्मिकता का आवरण डालकर अपने विचारों को प्रकट किया। प्रसाद के 'आँसू', पंत के 'उच्छ्वास', रामकुमार और महादेवी के करुण गीतों के पीछे कुछ सीमा तक यही मनःस्थिति काम कर रही है।

मानव-गौरव और आंतरिकता यद्यपि सभी कविताओं में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है तथापि छायावाद में ये विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है छायावाद की शैली स्वतन्त्रता लिये हुए है। निराला जैसे कवियों के हाथ में छन्द ने पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त करली है। इस शैली में

विशेषकर रहस्यवाद की कविता हुई है और अन्य विषयों की भी जो कविता हुई है उसमें एक प्रकार की आन्तरिकता, स्वच्छन्दता और अनन्तता है जो आध्यात्मिकता से प्रभावित दिखाई पड़ती है। छायावादियों के जो प्राकृतिक वर्णन होते हैं, उनमें प्रकृति सुन्दरी में मानवीय भावों का आरोप किया गया है।

इस नवीन धारा के अन्तर्गत एक और उपधारा है जिसे 'हालावाद' कहते हैं। फारसी कविताओं से विशेषकर, उमर खैयाम के अनुवादों से, प्रभावित हो इस युग का सन्तप्त नवयुवक कवि अपने को कुछ कर सकने में अक्षम पाकर अपने भावों की हाला बना कर उसी में मस्त रहना चाहता था। इस विषय की सबसे पहली कविता 'साकी' श्री मोहनलाल महतो वियोगी ने प्रस्तुत की थी। बच्चन ने इस प्रकार की काव्य परम्परा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

खड़ी बोली का रोचक विकास इस युग की बड़ी विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में चलती हुई खड़ी बोली का परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। उनकी रचनाओं को देखकर खड़ी बोली के मँजजाने की पूरी आशा होती है। नए-नए छन्दों का व्यवहार और तुक के बंधन के त्याग की सलाह द्विवेदी जी ने बहुत पहले दी थी। आधुनिक युग की कविता में छन्दों के नियम पूर्णरूप से हट गए और अतुकांत रचना का सूत्रपात्र हुआ। पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढंग के गीत-काव्य के अनुकरण का परिणाम है। अंगरेजी साहित्य से बँगला में होता हुआ यह गीत-काव्य हिन्दी में आ धमका। इस युग में गीत का इतना विकास और स्वाधीनता का इतना बोलबाला रहा कि गद्य में भी काव्य होने लगा, जो 'गद्य-काव्य' या 'गद्य-गीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

छायावाद के प्रभाव से अभिव्यंजना प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार रुकसा गया। जगत और जीवन में नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी रुचि नहीं गयी। लक्षणाशक्ति के सहारे काव्य-शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पदावली आदि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।

उपर्युक्त परिवर्तन और छायावाद को लेकर चलने वाली कविताओं के साथ-साथ और दूसरी धाराओं की कविताएँ भी विकसित होती रहीं। इधर छायावाद की कविता जीवन से दूर हटी, उधर उद्योगीकरण ने वर्ग चेतना प्रदान कर यथार्थ का पुट देते हुए काव्य को फिर जीवन की अभिव्यक्ति में नियोजित किया। हिन्दी काव्य में यही धारा प्रगतिवादी धारा कहलाई।

अब तक की कविता की प्रवृत्तियों का ऊपर जो विवेचन किया गया है, उससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि कविता की अनेक मुखी प्रगति इस युग में हो रही है। पश्चिमी शैलियों का ग्रहण करना इस युग की प्रधान विशेषता है। वर्तमान कविता में छन्द की स्वतन्त्रता के साथ कविता के विषयों का भी विस्तार हुआ और वर्णनों में भी नवीनता आ गई।

भारतेन्दुकालीन कविता की प्रवृत्तियां

गद्य के आविर्भाव के बाद आधुनिक युग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य काव्य की नई गतिविधि है। इस समय काव्य की भाषा, भाव, व्यंजना, छन्द और दृष्टिकोण सभी में परिवर्तन हुआ। अब तक पिछली परम्परा भक्ति काव्य और रीति-काव्य के रूप में चली आ रही थी। राधा-कृष्ण के शृङ्गारपूर्ण काव्य में अतिशयोक्ति और धार्मिकता का प्राधान्य था और कविता को जीवन से दूर खींच कर कल्पना के लोक में ले जाने की प्रवृत्ति चल रही थी। हरिश्चन्द्र ने इस क्षेत्र में परिवर्तन किया। उन्होंने रीतिकालीन परिपाटी की कविता का अन्त करके इस क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। हरिश्चन्द्र से पूर्व प्राचीन परिपाटी को स्थित रखने वाले कवियों में सेवक कवि, जिन्होंने वाग्विलास में नायिका भेद का वर्णन किया सरदार जिनके बनाए 'षट्ऋतु', 'हनुमत भूषण' 'साहित्य सुधाकर' आदि प्रसिद्ध हैं; बाबा रघुनाथदास जिन्होंने 'विश्राम सागर' का निर्माण किया, ललित-किशोरी तथा ललित माधुरी, जिन्होंने श्रीकृष्ण लीला के बड़े सुन्दर पद गाए हैं, शुद्ध हिन्दी, गद्य के लेखक राजा लक्ष्मणसिंह ने अभिज्ञान शाकुन्तल, रघुवंश, और मेघदूत में बड़ी मधुर और सरस ब्रजभाषा में कविताओं का अनुवाद किया है; लछीराम भट्ट, जिनका 'रावणेश्वर कल्पतरु' नामक रीति-ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है; विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यहाँ तक प्राचीन परिपाटी के अनुकरण पर कविता करने वालों का उल्लेख हुआ, इसके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय आता है। कविता में नवीनता का समावेश गद्य के आविर्भाव, पश्चिमी साहित्य, विशेषतया अंग्रेजी साहित्य और उससे प्रभावित प्रान्तीय साहित्यों के अध्ययन, नई राजनैतिक जाग्रति और उन सुधारों ने जिनके प्रवर्तक राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द थे, के प्रभाव से हुआ। सरकार द्वारा किए गये सामाजिक सुधारों का भी प्रभाव पड़ा। इस समय का अधिकांश काव्य सुधार-मूलक है। यह आवश्यक था क्योंकि यही युग स्वयम् राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रचार का युग है अतः कवियों ने अपने युग की प्रवृत्तियों को पकड़ा और उन्हें काव्य का रूप दिया। भारतेन्दु की कविता हिन्दी में नवीन प्रगति की पताका लेकर आई थी। रीतिकाव्य को शताब्दियों से चली आती हुई गंदी नाली से निकालकर शुद्ध वायु में विचरण कराने का श्रेय हरिश्चन्द्र को ही है। उन्होंने कवि-समाज स्थापित किए जिनमें समस्या पूर्तियाँ बराबर हुआ करती थीं। हरिश्चन्द्र की अधिकांश रचना चली आती हुई शृंगारिक श्रेणी की ही है, किन्तु उन्होंने ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। उनमें देश की अवस्था आदि का वर्णन है। साहित्य में उनकी ऐसी रचनाओं का बहुत महत्व है। उनका वास्तविक महत्व हिन्दी कविता क्षेत्र में परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग पर ले चलने में है, उच्चकोटि की काव्य रचना करने में उतना नहीं है। उनका यह महत्व स्पष्ट करने के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि भारतेन्दु ने साहित्य क्षेत्र में क्या प्रगति की? भारतेन्दु जी ने काव्य-क्षेत्र में प्रवर्त्तन कर नई धारा का सूत्र-पात किया जिसकी अमिट छाप उनके समकालीन कवियों पर देखी जा सकती है। भारतेन्दु के बाद उनके युग के दूसरे प्रसिद्ध कवि पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' हैं। आपकी कविता में तत्कालीन समाज में प्रचलित जातीय भावनाएँ स्पष्ट झलकती हैं। आपने देश-प्रेम, हिन्दी-प्रचार, सनातन धर्म आदि के सम्बन्ध में कविता की है। उन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित कजली, होली, आदि गाने की बहुत सी चीजें बनाईं।

प्रतापनारायण मिश्र समस्यापूर्ति और पुराने ढंग की शृंगारी कविता किया

करते थे। आपने बुढ़ापा, तृष्यन्ताम्, हरगंगा, गोरक्षा आदि अनेक विषयों पर छोटे-छोटे काव्य लिखे हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह यद्यपि सब प्रकार से भारतेन्दु का ही स्वभाव रखते थे पर वे इस नवीन उत्थान में उनके साथ नहीं चले। इन्होंने प्रेम सम्बन्धी कविता ही की थीं तथा इनका मन देश प्रेम की कविता की ओर न जाकर प्रकृति को आलम्बन रूप से देखने में रमा। इन्होंने नए ढंग के प्रकृति-चित्रण की नींव डाली। ला० सीताराम बी० ए० 'भूप' ने मेघदूत, रघुवंश, कुमारसम्भव, ऋतुसंहार आदि काव्यों का संस्कृत से अनुवाद किया। पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा ने भी समस्यापूर्ति कर काव्य रचना की। व्यास जी ने बिहारी के दोहों पर कुण्डलियों का एक संग्रह 'बिहारी बिहार' नाम से निकाला।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और पं० श्रीधर पाठक का नाम विशेषतः खड़ी बोली हिन्दी के साथ लिया जाता है किन्तु इन लोगों की ब्रज-भाषा की कविता भी अत्यन्त मधुर और सरस होती थी। हरिऔध 'उपनाम' ब्रजभाषा ही की कविता के लिए रखा गया था और यह पहले इसी भाषा में समस्या पूर्तियाँ करते थे। इनका 'रसकलस' नामक रस विषयक ग्रन्थ इसी भाषा में प्रकाशित हुआ है। पाठक जी ने ऋतु-संहार का पद्यानुवाद ब्रजभाषा में अत्यन्त मर्मस्पर्शी पदों में किया। इनकी कुल कविता पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि इनकी ब्रजभाषा ही का अंश अधिक स्थायी साहित्य हुआ है। उनके सवैयों में हम ब्रजभाषा को जीता जागता देखते हैं।

ब्रजभाषा की पुरानी परपाटी के कवियों में बाबू जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' का स्थान बहुत ऊँचा माना है। इनकी कविता बड़े-बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। कवियों में भी इनकी सी सूझ और उक्तिवैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। ये साहित्य और ब्रजभाषा काव्य के बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे। इन्होंने 'हिंडोला', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य रत्नाकर', 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' 'हरिश्चन्द्र' 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' नाम के ग्रन्थों की रचना की जिसमें से अन्तिम तीन अधिक महत्वपूर्ण हैं।

राय देवीप्रसाद पूर्ण व्रजभाषा के सुकवि थे। इन्होंने मेघदूत का पद्यानुवाद 'धाराधर धावन' नाम से किया है। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। गद्य लेखकों और समालोचकों में अग्रगण्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का नाम व्रजभाषा काव्य क्षेत्र में बड़े आदर से लिया जाता है। आपने 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर 'बुद्ध-चरित्र' नाम का एक प्रबन्ध काव्य लिखा है। प्रकृति को मानव जीवन की चिर सहचरी मानकर उन्होंने उसका संश्लिष्ट चित्रण किया है। आपने खड़ी बोली में भी कविता की है।

श्री सत्यनारायण कविरत्न ने व्रजभाषा में बड़ी ही सरस कविता की है। आपके काव्य में व्रजभाषा का सहज माधुर्य देखने को मिलता है इसी से लोग आपको व्रज-कोकिला भी कहते हैं। आपने प्रेम और शृंगार को बड़े मर्यादित रूप से कविता की है। आपका प्रकृति वर्णन निजी निरीक्षण से उत्पन्न हृदयोल्लास का फल था। आपने व्रजभाषा में भी राष्ट्रीय भावनाओं का चित्रण करके बड़ा चमत्कार किया है। श्री वियोगीहरि व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रजपति के अनन्य उपासक हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्ण-भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत रसीले तथा भक्ति भावपूर्ण पदों की रचना की है।

आधुनिक विषयों को लेकर कविता करने वाले कई कवि जैसे श्री दुलारेलाल भार्गव, किशोरीदास वाजपेयी एवं नाथूराम शंकर, लाला भगवानदीन, पुरानी परिपाटी की बड़ी सुन्दर कविता करते थे। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के प्रभाव से कानपुर में व्रजभाषा के मधुर गीत अभी बराबर चल रहे हैं। मथुरा में भी व्रजभाषा की प्राचीन परम्परा के अनुभवी कवियों का अच्छा समूह है। स्वर्गीय कविरत्न चतुर्वेदी के सुपुत्र गोविन्ददत्त और रामलाल अच्छी कविता करते हैं। व्रजभाषा काव्य परम्परा किस प्रकार जीती जागती चली चल रही है, यह हमारे वर्तमान कवि-सम्मेलनों में देखा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने रीतिकाल की प्रथा के विरुद्ध देशकाल की माँग के अनुसार कविता को भी अनेक नए-नए विषयों की ओर झुकाया। देश-प्रेम, मातृभाषा-भक्ति, समाज-सुधार आदि लोकहितकर विषयों को लेकर कविता करने की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उपदेशमय मनोरंजक छोटी कविता भी लिखी जाने लगी। हास्यरस को नए फैशन के तथा

वीररस के लिए पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों से आलम्बन प्रस्तुत किया। मुक्तक या प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त दान-लीला, मृगया आदि विषयों को लिखने के लिए रीति-काव्य-पद्धति अपनाई गई। हृदय में देश-प्रेम के अंकुरित होते ही पूर्व गौरव, वर्तमान हीन दशा का चित्र सामने आने लगता है। किन्तु भारत की शोचनीय दशा और जाग्रति के चित्रों का पूर्ण अभाव देखकर भारतेन्दु ने आशामयी मूर्ति का बड़े विषाद से आह्वान किया। सारांश यह है कि भारतेन्दु युग में पिछली भक्ति काव्य और रीतिकाव्य के रूप में चली आती हुई परम्परा का विनाश करके नवीन भाव, व्यंजना, छन्द और दृष्टिकोण को लेकर कविता चली।

द्विवेदी युग की कविता की प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी में व्रजभाषा काव्य की परम्परा चलती रही और उसने अनेक उत्कृष्ट कवियों को जन्म दिया, परन्तु व्रजभाषा काव्य में कोई विशेष विकास उन्नीसवीं शताब्दी के बाद नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी में कविता के लिए नई भाषा का प्रयोग किया गया। यह भाषा खड़ी बोली थी जो शताब्दियों पहले स कुरु-पांचाल प्रदेश में जन-भाषा के रूप में चली आ रही थी। किन्तु १८ वीं शताब्दी में गद्य क्षेत्र में इसका आरम्भ हुआ तो साहित्य क्षेत्र में इसका अस्तित्व दिखलाई पड़ने लगा।

द्विवेदी-युग में पहले-पहले निश्चित रूप से खड़ी बोली काव्य-भाषा के लिए प्रयुक्त हुई यद्यपि उसका प्रयोग थोड़ी बहुत मात्रा में भारतेन्दु-युग में भी हो चुका था। भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में खड़ी बोली पद्य का प्रयोग किया है। पं० श्रीधर पाठक ऐसे पहले कवि थे जिन्होंने खड़ी-बोली का गम्भीरता पूर्वक काव्य-भाषा के लिये प्रयोग किया। उन्होंने अंग्रेजी से अनुवाद किए और प्रकृति एवं देशभक्ति सम्बन्धी रचनाएँ इस बोली में कीं। यद्यपि खड़ी बोली कविता के उन्नायक निश्चित रूप में पं० श्रीधर पाठक हैं, परन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी की शक्ति ने इन्हें इस क्षेत्र में पीछे छोड़ दिया। पाठक जी का नवीन दृष्टिकोण खड़ी बोली के जन-गीतों और जन-साधारण की सामान्य भावनाओं एवं अंग्रेजी साहित्य पर आश्रित था। द्विवेदी जी संस्कृत और मराठी काव्य को

आधार मानकर चले। उन्होंने संस्कृत वृत्तों का चलन किया और खड़ी बोली के काव्य में संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य और संस्कृत पदावली के समावेश को स्थान दिया। उनके काव्य में नीरसता शुष्कता और कर्णकटु शब्दों का प्रयोग मराठी से आया। भाषा उत्तरोत्तर सीधी होती गई और बाद में रससिक्त भी हुई परन्तु शैली की इतिवृत्तात्मकता नहीं गई। वास्तव में द्विवेदी-काव्य रीति-काव्य के शृंगार-रस और रीति प्रधानता के प्रति प्रतिक्रिया रूप में उपस्थित हुआ था।

द्विवेदी युग में जो काव्य-रचना हुई उसकी अपनी एक बँधी प्रणाली थी। जिसके प्रवर्त्तक आचार्य द्विवेदी जी थे इन्होंने भाषा की शुद्धता और सरलता की ओर आग्रह किया। ब्रजभाषा और अवधी का जो मिश्रण हिन्दी की खड़ी बोली कविता में रहता था, उसे दूर कर दिया। भाषा के साथ द्विवेदी जी ने कविता शैली में भी सुधार किया। द्विवेदी जी कविता में संस्कृत के प्रयोग के बड़े हिमायती थे। द्विवेदी जी का यह भी आग्रह था कि कविता की भाषा गद्य की व्यावहारिक भाषा होनी चाहिये। द्विवेदी जी मर्यादावादी थे। अतः शृंगार-भावना को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते थे। अतः द्विवेदी युग के काव्य में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है और सारा काव्य अभिधा मात्र है न लक्षणा का प्रयोग है न चित्रमयता का, न अलंकारों आदि का।

इसके साथ ही भाव क्षेत्र में शृंगार का बहिष्कार और समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया गया। मातृ-भूमि, प्रेम और स्वदेश-गौरव तो इस युग की कविता का प्राण है। कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन न रहा और उसमें मानव-जीवन की भावना का समावेश भी होने लगा। साथ ही गंभीरता का तत्व विशेष रूप से आया।

सरस्वती के सम्पादन काल में द्विवेदी जी ने अपने मत का प्रचार किया और बहुत से पद्यकारों को जन्म दिया। द्विवेदी जी ने जो काव्य का आदर्श रक्खा उसके बहुत से अनुयायी हुए। इनमें से प्रसिद्ध-मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रूपनारायण पाण्डेय हैं। इनमें से कुछ लेखक पहले भी खड़ी-बोली में काव्य-रचना करते आये थे किन्तु वह इस क्षेत्र में अकेले होने के कारण संकोची बने हुए थे। वे अब एक नए स्कूल का बल पाकर मुखर हो गए।

श्रीधर पाठक मूलतः व्रजभाषा के कवि थे, किन्तु बाद में वे खड़ी बोली में कविता करने लगे। लेकिन इनकी भाषा पर खड़ी बोली का प्रभाव बना रहा। इन्होंने गोल्डस्मिथ के तीनों काव्यों का अनुवाद किया। जिनमें एकान्तवासी योगी, और श्रान्त पथिक खड़ी बोली में तथा ऊजड़ ग्राम व्रजभाषा में निकाला। इन्होंने खड़ी बोली के लिए लावनी, रोल, सवैये आदि के सिवा कुछ नए छन्द भी निकाले तथा अतुकांत छन्द भी प्रयुक्त किए हैं। इनकी कविता में सरसता तथा प्रसाद गुण प्रचुर मात्रा में है। इनके प्रकृति प्रेम के दर्शन 'काश्मीर सुषमा' में और राष्ट्रीय भावना के 'भारतगीत' में होते हैं। इंगलैंड के स्वच्छन्दतावाद का हिन्दी में वर्तमान युग में बहुत नाम लिया जाता है। प्रारम्भिक उत्थान के भीतर इसका मूल आधार प्रकृति थी। हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नए नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर व्रजभाषा ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजनों की प्रणाली तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले पहल पाठक जी ने दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही रहकर अपनी आँखों से उसके रूप का निरीक्षण किया। इसी प्रकार अभिव्यंजना की प्रणाली, छन्द, लय आदि के क्षेत्र में उन्होंने परिवर्तन किया। 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातों का विचार करने पर पाठक जी ही हिन्दी साहित्य में सच्चे स्वच्छन्दता के प्रवर्त्तक ठहरते हैं। अंग्रेजी और संस्कृत दोनों के काव्य-साहित्य का अच्छा ज्ञान होने के कारण पाठक जी की रुचि बहुत परिष्कृत थी। शब्द-शोधन में तो पाठक जी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी व्रजभाषा होती थी वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचि सम्पन्न कवि थे। छंद, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास आदि के सम्बन्ध में नई-नई बंदिशें इन्हें खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार कई नए ढाँचे के छंद इन्होंने निकाले जो पढ़ने में बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। अंत्यानुप्रास रहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लंबे वाक्यों के छन्द भी इन्होंने लिखे हैं। समाज-सुधार के वे बड़े हिमायती थे।

द्वितीय उत्थान के लब्धप्रतिष्ठ कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने व्रजभाषा-युग में जन्म लेकर जाति देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ अपने जीवन का विकास किया तथा अपनी साहित्यिक धाराएँ निश्चित कीं। आपने खंड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य दोनों रूप में कविताएँ कीं। द्विवेदी जी के द्वारा संस्कृत वृत्तों के प्रयोग का आरम्भ हो चुका था, उपाध्याय जी ने भी इसे ग्रहण किया। आपका प्रथम खड़ी बोली का महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' संस्कृत वर्ण-वृत्तों में ही प्रकाशित हुआ। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण व्रज के रक्षक नेता के रूप में अंकित किए गए हैं। कृष्ण भक्तों की परम्परा वाले भगवान और लक्ष्मी स्वरूप 'राधाकृष्ण' शृंगारी कवियों के हाथों में सामन्य विलासी मानव हो गए थे। उपाध्याय जी ने इनको इस रूप में चित्रित करके बड़ा भारी काम किया है। यह काव्य अधिकतर भाव व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। उपाध्याय जी की काव्यधारा पर राजनैतिक और धार्मिक क्रान्तियों का प्रभाव पड़ा है। सुधारवाद की झलक इनके काव्यों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस काव्य के उपरांत उपाध्याय जी का ध्यान फिर बोलचाल की ओर गया। इस बार उनकी काव्य धारा में मुहावरों की धारा बही। ऐसी कविताओं का संग्रह 'चोखे चौपदे' में निकला। यही द्विकलात्मकता उपाध्याय जी की एक बड़ी विशेषता है। वैदेही-वनवास उनका दूसरा विशाल ग्रन्थ है जिसमें भवभूति के उत्तर रामचरित की कथा है। इसमें सीता को आधुनिक नारी-रूप में चित्रित किया है। उन्हें लक्ष्मण द्वारा वाल्मीकि के आश्रम में न भिजवा कर स्वयं पति की इच्छा के अनुकूल वहाँ भिजवाया है। किन्तु इस ग्रन्थ में छन्दोभगंता, प्रकृति-वर्णन का अभाव और बड़ी शिथिलता मिलती है, इसलिए इसका साहित्यिक महत्व अधिक नहीं है। आपके काव्य में शैली के चार रूप में मिलते हैं:—
(१) उर्दू की मुहावरेदार शैली—इसका प्रयोग 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' आदि में है। २—हिन्दी की रीति कालीन शैली के दर्शन 'रसकलश' में हैं। ३—संस्कृत काव्य की शैली के दर्शन उनके 'प्रिय-प्रवास' नामक महाकाव्य में मिलते हैं। ४—वर्तमान सरल हिन्दी के दर्शन उनके 'वैदेही वनवास' में मिलते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा के आप आचार्य थे। इस प्रकार सरल तथा संस्कृतगर्भित दोनों प्रकार की भाषा का आपने सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान काल के प्रसिद्ध कवि हैं। आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ द्विवेदी जी की देखरेख में निकलती रही थीं और इस कारण इनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित रही। विशेष संस्कृत-गर्भित न करते हुए तथा उर्दू का भी पुट प्रायः नहीं देते हुए इन्होंने सरल शुद्ध हिन्दी ही का प्रयोग किया है। इनका पहिला काव्य-ग्रन्थ 'भारत भारती' है जिसमें इनकी राष्ट्रीय भावना का पूर्ण समावेश है। वे युग के प्रतिनिधि कवि हैं। युग की कोई प्रवृत्ति उनसे नहीं छूटी है। उन्होंने राष्ट्रीयता की दृष्टि से सभी संस्कृतियों के प्रतीक काव्य लिखे हैं। पौराणिक संस्कृत के प्रतीक 'चन्द्रहास', 'तिलोत्तमा', 'शकुन्तला', नहुष आदि हैं, महाभारत कालीन संस्कृति के प्रतीक 'जयद्रथवध', 'बकसंहार'- 'वन-वैभव', 'सैरन्ध्री', और 'द्वापर' हैं। राम-संस्कृति 'पंचवटी' और 'साकेत' में दिखलाई देती है। मध्यकालीन संस्कृति की प्रतीक रचनाएँ 'यशोधरा', 'अनघ' और 'कुणालगीत' हैं मध्यकालीन सिक्ख तथा राज संस्कृति की झलक 'रंग में भंग', 'गुरुकुल' 'तेगबहादुर' और 'सिद्धराज' में है। राष्ट्रीय और सामाजिक तत्व 'भारत-भारती', 'किसान' और 'विश्ववेदना' में हैं और मुस्लिम संस्कृति 'अर्जन और विसर्जन' तथा 'काबा और कर्बला' में व्यक्त हुई हैं। इस प्रकार उन्होंने कोई क्षेत्र नहीं छोड़ा है। वैतालिक की रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीत-काव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई। यद्यपि गुप्त जी जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही सौन्दर्य और सौन्दर्य का दर्शन करने वाले तथा अपने राम को लोक के बीच में अधिष्ठित देखने वाले कवि हैं, पर वर्तमान युग में 'छायावाद' नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाये हैं जो 'झंकार' में संगृहीत हैं। साकेत और यशोधरा इनके दो प्रबन्ध काव्य हैं। दोनों में काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबन्धत्व की कमी है। इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों की ओर हो चुकी थी 'साकेत' की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य' की उपेक्षिता न रह जाय। यशोधरा की रचना नाटकीय ढंग पर है। गुप्तजी की रचनाओं के भीतर तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था तो भाषा के परिमार्जन की है जिसका उदाहरण 'भारत-भारती'

है। दूसरी अवस्था वह है जो गुप्त जी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदनदत्त रचित 'ब्रजांगना', 'मेघनाथ वध' का अनुवाद किया। इससे इनकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई। इसके उपरान्त 'छायावाद' कही जाने वाली कविताओं का चलन होता है और गुप्त जी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस अवस्था का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी पाया जाता है। गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं। वे पक्के वैष्णव होते हुए भी राष्ट्रीयता के विशाल दृष्टिकोण को अपनाते हैं। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं।

गुप्त जी के साथ ही स्व० रामचरित उपाध्याय इस क्षेत्र में आए। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे और द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से इस क्षेत्र में कूदे। 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत-शक्ति', 'विचित्र विवाद', आदि अनेक कविताएँ इन्होंने खड़ी बोली में लिखीं 'रामचरित-चिंतामणि' नामक एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी उन्होंने लिखा। दूसरे संस्कृत के विद्वान जिनकी कविताएँ सरस्वती में छपती रहीं पं० गिरधर शर्मा 'नवरत्न' हैं। रवीन्द्र बाबू की गीतांजली का हिन्दी पद्यों में इनका अनुवाद निकला। माघ के शिशुपाल-वध के दो सर्गों का अनुवाद इन्होंने 'हिन्दीमाघ' नाम से किया। इनकी रचनाएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक या गद्यवत हैं। पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय की छोटी-छोटी कविताएँ बड़ी सरस होती हैं। इनका 'मृगी-दुःख मोचन' अच्छा बन पड़ा है। ये सब ऐसे कवि हैं जिन्होंने द्विवेदी जी की काव्य मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था। और जो स्पष्टतः उनके प्रभाव में पड़ रहे थे। इन प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और न जाने कितने कवियों ने खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ लिखीं जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट झलकता था। द्विवेदी जी ने ऐसे लोगों के लिए भी कविता का मार्ग प्रशस्त किया। जिनमें कवि-हृदय नाम मात्र को न था, परन्तु जो इतिवृत्तात्मक गद्य-निबंध को तुकबन्दी के रूप में उपस्थित कर सकते थे। उनके कारण काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई अन्तर नहीं रह गया था। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति कवि बन बैठता था। काव्य-तत्त्वहीन कविताओं से उस समय का साहित्य भरपूर है।

द्वितीय उत्थान में ऐसे भी अनेक कवि थे जिन पर द्विवेदी जी का स्पष्ट प्रभाव नहीं था, परन्तु जो भारतेन्दु-युग से चली आती हुई काव्य-परम्परा का पालन कर रहे थे। ये कवि या तो केवल ब्रज-भाषा में ही रचनाएँ करते थे (जैसे वियोगी हरि और सत्यनारायण कविरत्न) या ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में लिखते थे। पिछली श्रेणी के महत्वपूर्ण कवि हैं—राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा पं० रूपनारायण पाण्डेय। इन कवियों ने 'सरस्वती' के पृष्ठों से काव्य लिखना नहीं सीखा था। भाषा के कारण उनमें हृदय, कल्पना और कला का समुचित समावेश नहीं हो पाया। सत्यनारायण कविरत्न को छोड़कर ऐसा कोई भी कवि नहीं है जिसने ब्रजभाषा में विविध विषयों को अपनाया हो। खड़ी बोली में भी कवित्त सवैयों को लिखने की प्रथा चल पड़ी थी। शंकर, सनेही, गोपालशरणसिंह के खड़ी बोली के कवित्त और सवैये भाषा सौष्ठव और रस-परिपाक की दृष्टि से ऊँची श्रेणी के हैं। इन कवियों में सत्यनारायण कविरत्न ब्रज-भाषा काव्य में तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी खड़ी बोली काव्य में सर्वोच्च हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न जैसा कवि-हृदय भारतेन्दु के बाद किसी कवि को नहीं मिला था। उनका काव्य-जीवन से प्रसूत होने के कारण अभिनन्दनीय है।

—:-*-:—

"छायावाद"

द्विवेदी युग का काव्य इतिवृत्तात्मक था। कवि उससे ऊब चुके थे, विशेषकर जिन्होंने अंग्रेजी काव्य का अध्ययन किया था या जो अंग्रेजी और बंगला साहित्य के वातावरण से प्रभावित हो चुके थे। अतः काव्यकला क्षेत्र में द्विवेदी-युग की काव्यधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। उसके अभिधा प्रयोग के विरुद्ध लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग हुआ। प्रतीकात्मक शैली का प्रचलन हुआ। विशेषण का प्रयोग विशेष्य के लिए, भाववाचक शब्दों का अधिक प्रयोग, विशेषण विपर्यय, अन्योक्ति पद्धति का आश्रय लाक्षणिकता का बाहुल्य, वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति, शब्द-सौन्दर्य पर भाव सौन्दर्य से अधिक दृष्टि ये नए काव्य (छायावाद) की कुछ विशेषताएँ थीं। किन्तु इन शैलीगत विशेषताओं के अतिरिक्त छायावाद की कुछ वस्तुगत विशेषताएँ भी हैं जिनके कारण छायावाद हिन्दी साहित्य में अपना

एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार 'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है', जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक शुष्कता के विरुद्ध सूक्ष्म भाव सम्पन्न सरसता का समावेश है। छायावाद में सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों का प्रतीकात्मक शैली में चित्रण होता है। दुःखवाद, मानवगौरव और व्यक्तिवाद, स्वदेश प्रेम, प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप आदि छायावाद की अन्य वस्तुगत विशेषताएँ हैं।

छायावाद शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो चुकी हैं। छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। श्री महादेवी वर्मा के सारगर्भित शब्दों में "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों मे प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है।" छायावाद में रोमान्टिसिज्म की भाँति कलाकार का कला से अधिक गहरा सम्बन्ध माना गया है क्योंकि कला में कलाकार के भावात्मक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। महादेवी ने आगे कहा है कि "मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य की ओर से हटाकर उस प्रकृति के साथ अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है। स्मृति दिलाई इसलिए कहती हूँ कि यह सम्बन्ध शाश्वत है, केवल हम लोग उसे भूल-से गये थे। हममें से प्रायः सभी बचपन में तितलियों के साथ दौड़े हैं, चिड़ियों के साथ गाते रहे हैं, कोई फूल खिला देखकर ऐसे प्रसन्न होते रहे हैं मानो वह हमारे हृदय में ही फूला हो; परन्तु बड़े होने पर हमारा जीवन ऐसे कृत्रिम बन्धनों मे जकड़ जाता है कि उस ओर ध्यान देने को न तो इच्छा होती है न अवकाश मिलता है। वास्तव में प्रकृति में सान्त्वना और आनन्द देने की अपूर्व शक्ति होती है। तारों से जड़ी चाँदनी रात रोगी को नर्स से अधिक सुख दे सकती है, यदि वह उसकी भाषा समझने में समर्थ हो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद की कविता हमारा प्रकृति के साथ

रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावानुभूतिमें समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव सत्ता से समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—उस समय की परिपूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो प्रतिभा-निर्मित होगी, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव-व्यंजना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी—वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित, उसकी ही गति से गतिशील तथा उसके ही रंग में रंगी होगी।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने छायावाद का विश्लेषण करते हुये कहा है कि "छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करता है। यह कोई नई बात नहीं है, प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है। छायावाद की प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो-सा जाता है। तीसरी अवस्था उसकी सफलता की सोपान है, क्योंकि यहाँ उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह संतोष के साथ अपने व्यापक रूप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणति है।" इन उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस समय प्रथम मानव ने कल-कल करती हुई निर्झरणी में अपने ही भावों जैसी कोई प्राणछाया देखी उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद वर्तमान युग की भावनाओं का एक प्रतिबिम्बित और प्रतिमूर्ति रूप है, सहस्त्रमुखी काव्यगत भावनाओं का एक समन्वयात्मक नाम है। इसमें हमारी मन्दमुस्कान है, करुण आंसू की धारा है, चंचलता है, आशा की इन्द्र धनुषी रंगमयता है, निराशा की आकुल घटाएँ हैं। भावनाएँ कहीं मध्यान्ह की रविकिरण की भाँति स्पष्ट, कहीं दूर क्षितिज की भाँति धुँधली तथा कहीं महाकाल की कल्पना के समान काली और अन्धकार मय हैं।"

पाण्डेय जी आगे कहते हैं "कि मेरा विश्वास है कि जिस मानवेतर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की संकुचित सीमा में सम्भव नहीं है, उसकी सर्वव्याप्ति छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण कर, उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर, यदि उस पूर्ण तत्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाय तो वही छायावाद होगा। परमात्मा की सत्ता संसार की वस्तुमात्र में प्रतिबिम्बत है, इसी आधार पर हम उसके अचिंतनीय तथा अव्यक्त स्वरूप का चिंतन, आराधन कर सकते हैं। आँखों के सामने विस्तृत-सा आकाश शून्य के सिवा क्या है, पर हम उसके नीले रंग तथा उसकी छाया का आभास जल में पाते हैं। यही उसकी सरूप सत्ता है। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज मानव प्रकृति का एक अनिवार्य स्वरूप है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है। उदाहरण के लिए प्रकृति में प्रेयसी का आरोप अनादिकाल से होता आया है, मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना की कल्पना भी बहुत पुरानी है। वही आज भी हम काव्य में पाते हैं, किन्तु यह आरोप भी दो प्रकार का होता है। प्रकृति के किसी अंश को एक पार्थिव व्यक्तित्व देना तथा प्रकृति के किसी अंश में एक व्यापक व्यक्तित्व का आरोप। प्रथम श्रेणी की कविता वस्तुवाद की सीमा में सीमित होगी उसमें पार्थिव स्थूलता मात्र की उपमा मिलेगी। सूर का बाल वर्णन, तुलसी का ऋतु वर्णन, विद्यापति का मालती और भँवर को लेकर उनमें प्रियतम-प्रेयसी का व्यक्तित्व निरूपण ये सभी वस्तुवाद की रचनाएँ हैं। इनका आधार स्थूल एवं सीमित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में छायावादी काव्य का अभाव है। वेदों के द्वारा दिया गया उषा तथा सन्ध्या का व्यक्तित्व सूक्ष्म एवं व्यापक है, उसे हम छायावाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। वस्तुवाद की स्थूलता छायावाद में सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता में परिणत हो जाती है, व्यापक व्यंजना और सूक्ष्म कल्पना तथा आध्यात्मिक ध्वनि के प्राधान्य के बल से छायावाद वस्तु-विशेष की सीमा पार कर जाता है। विशुद्ध छायावाद को एक उदाहरण में देखा जा सकता है:—

तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,

रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावानुभूतिमें समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव सत्ता से समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—उस समय की परिपूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो प्रतिमा-निर्मित होगी, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव-व्यंजना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी—वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित, उसकी ही गति से गतिशील तथा उसके ही रंग में रंगी होगी।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने छायावाद का विश्लेषण करते हुये कहा है कि "छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करता है। यह कोई नई बात नहीं है, प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विपनता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है। छायावाद की प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो-सा जाता है। तीसरी अवस्था उसकी सफलता की सोपान है, क्योंकि यहाँ उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह संतोष के साथ अपने व्यापक रूप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणित है।" इन उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस समय प्रथम मानव ने कल-कल करती हुई निर्झरणी में अपने ही भावों जैसी कोई प्राणछाया देखी उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद वर्तमान युग की भावनाओं का एक प्रतिबिम्बित और प्रतिमूर्ति रूप है, सहस्त्रमुखी काव्यगत भावनाओं का एक समन्वयात्मक नाम है। इसमें हमारी मन्दमुस्कान है, करुण आंसू की धारा है, चंचलता है, आशा की इन्द्र धनुषी रंगमयता है, निराशा की आकुल घटाएँ हैं। भावनाएँ कहीं मध्यान्ह की रविकिरण की भाँति स्पष्ट, कहीं दूर क्षितिज की भाँति धुँधली तथा कहीं महाकाल की कल्पना के समान काली और अन्धकार मय हैं।"

पाण्डेय जी आगे कहते हैं "कि मेरा विश्वास है कि जिस मानवेतर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों को संकुचित सीमा में सम्भव नहीं है, उसकी सर्वव्याप्ति छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण कर, उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर, यदि उस पूर्ण तत्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाय तो वही छायावाद होगा। परमात्मा की सत्ता संसार की वस्तुमात्र में प्रतिविम्बित है, इसी आधार पर हम उसके अचिंतनीय तथा अव्यक्त स्वरूप का चिंतन, आराधन कर सकते हैं। आँखों के सामने विस्तृत-सा आकाश शून्य के सिवा क्या है, पर हम उसके नीले रंग तथा उसकी छाया का आभास जल में पाते हैं। यही उसकी सरूप सत्ता है। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज मानव प्रकृति का एक अनिवार्य स्वरूप है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है। उदाहरण के लिए प्रकृति में प्रेयसी का आरोप अनादिकाल से होता आया है, मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना की कल्पना भी बहुत पुरानी है। वही आज भी हम काव्य में पाते हैं, किन्तु यह आरोप भी दो प्रकार का होता है। प्रकृति के किसी अंश को एक पार्थिव व्यक्तित्व देना तथा प्रकृति के किसी अंश में एक व्यापक व्यक्तित्व का आरोप। प्रथम श्रेणी की कविता वस्तुवाद की सीमा से सीमित होगी उससे पार्थिव स्थूलता मात्र की उपमा मिलेगी। सूर का बाल वर्णन, तुलसी का ऋतु वर्णन, विद्यापति का मालती और भँवर को लेकर उनमें प्रियतम-प्रेयसी का व्यक्तित्व निरूपण ये सभी वस्तुवाद की रचनाएँ हैं। इनका आधार स्थूल एवं सीमित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में छायावादी काव्य का अभाव है। वेदों के द्वारा दिया गया उषा तथा सन्ध्या का व्यक्तित्व सूक्ष्म एवं व्यापक है, उसे हम छायावाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। वस्तुवाद की स्थूलता छायावाद में सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता में परिणित हो जाती है, व्यापक व्यंजना और सूक्ष्म कल्पना तथा आध्यात्मिक ध्वनि के प्राधान्य के बल से छायावाद वस्तु-विशेष की सीमा पार कर जाता है। विशुद्ध छायावाद को एक उदाहरण में देखा जा सकता है:—

तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,

रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसन्त रजनी।

यद्यपि इन पंक्तियों में उन्हें आभरणों का आभास मिलता है जो एक पार्थिव रमणी धारण करती है परन्तु रजनी का यह चेतन व्यक्तित्व व्यापक है उसमें किसी पार्थिव नारी की सीमा नहीं है, ऐसा चित्रण तो लौकिक रूपकों द्वारा ही संभव है पर उसमें वह सूक्ष्म चेतनता पुलकित होना चाहिये।

छायावाद की परिभाषा तथा उदाहरणों से उसकी काव्य-स्थिति स्पष्ट हो चुकी है अब हम उसकी भावना के मूल तत्वों का विश्लेषण वर्तमान काव्य के आधार पर कर सकते हैं। अंग्रेजी के रोमान्टिसिज्म की भांति प्रायः छायावाद का भी उद्भव हुआ है। इसी कारण वह हमारे साहित्य की नव जागृति का सन्देश अपने भीतर निहित किए हुए है, जिसका आधार सौन्दर्य-भावना, प्रेम भावना, करुण तथा प्रकृति प्रेम है। नीचे हम इन पर विचार करेंगे:—

१—**सौन्दर्य भावना**—छायावाद में शृंगार की धारा ने एक प्रच्छन्न रूप ग्रहण किया। उसने अशरीरी सौन्दर्य-प्रियता को जन्म दिया जो छायावाद की विशेषता थी। वह युग एक प्रकार की सौन्दर्य प्रियता के पुनरुत्थान का युग था जिसने रोमांस का सहारा लिया था। वैष्णव साहित्य में सौन्दर्यानुभूति की भावना मिली हुई थी जो कवि की सौन्दर्य प्रेमी प्रकृति को तृप्त करती रहती थी। द्विवेदी-युग के वैष्णव काव्य में सौन्दर्य का विशेष पुट नहीं था, वह युग स्वयम् रसिकता के प्रति विद्रोह का युग था। अब छायावादी कवियों में यह सौन्दर्यानुभूति फिर जागी और उसने देव गाथाओं और देव पुरुषों के आलम्बन को छोड़कर प्रकृति और अव्यक्त अथवा अशरीरी कल्पना चित्रों में सौन्दर्य स्थापित की चेष्टा थी। यह रीतिकाल की स्थूल ऐन्द्रियता और द्विवेदी-युग की बौद्धिक शुष्कता के बीच का मार्ग था। आज का कवि विज्ञान की बाह्य सौन्दर्य साधना से युक्त मानव समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य-साधना के दर्शन कराना चाहता है। वह अपनी अन्तरात्मा को प्रकृति के नाना रूप-रंगों में खोजकर निकाल लेता है। छायावाद के पहले खेवे के कवियों ने नारी सौन्दर्य की जो सृष्टि की है वह काल्पनिक है अतः अभौतिक है, साथ ही उसने प्रकृति को भी

स्त्री रूप में देखा। यह कवि की प्रेयसी उसकी आत्मा को प्रकाशित करने वाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं, वरन् प्रकृति की दुलारी, अपने-अपने नैसर्गिक रूप की रानी है, यथाः—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास;
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात बाल विद्युत का पावस-लास,
हृदय में खिल आता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान।
प्रिये प्राणों की प्राण।

यहाँ पर कवि ने अपनी प्रियतमा को प्रकृत्ति-प्रदत्त आभूषण से सुशोभित किया है। यह एक काल्पनिक-सौन्दर्य का चित्र है। इसी प्रकार अन्य छायावादी कवियों ने भी सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' को नाना वर्णों के आवरण पहना कर उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखा है। प्रकृति की रमणीयता पर विमुग्ध होकर पंतजी ने लिखा—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।
भूल अभी से इस जग को।

नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु सौन्दर्य का चित्रण भी छायावादी कवियों का प्रिय विषय रहा है। छायावाद में पन्त जी ने इसकी ओर कुछ ध्यान दिया है। वे कहते हैं—"शायद इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण यही होगा कि सौन्दर्योपासक का व्यक्तित्व साधारणतः एक नीचे तल पर विकसित होता है (अविकसित नहीं रहता) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह प्रौढ़ावस्था में भी बच्चा ही रह जाता है, जिस व्यक्ति के भाव घनीभूत होकर भी स्नेह से आगे नहीं बढ़ते वह शैशव को ही आदर्श अवस्था मानता है।" यथा

जरा है आदरणीय।
सुखद यौवन विलास उपवन रमणीय;
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय।

शैशव का यह आकर्षण पन्तजी की देन है।

२—**प्रेम भावना**—सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास और संकोच होगा वैसे ही प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियां होंगी। छायावाद में सोन्दर्योपासना की भाँति ही प्रेम के भी सूक्ष्म चित्र उपस्थित किए गए हैं। उद्दाम शारीरिक वासना के चित्रों का परिगणन छायावाद में करना भ्रम है। सौन्दर्य की व्यापक भावना अर्थात् प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में सौन्दर्यानुभूति ही छायावाद की प्रेम भावना का आधार है। यह प्रेम की साधना पवित्र बड़ी होनी चाहिये। व्यापकता, विश्वास तथा श्रद्धा इसके लिए आवश्यक हैं—

जब मेरा चिर संचित प्यार, मुझे डुबाता है गँभीर,
द्रोह-मदन मद का मल मेरा धो देता है जब दृग-नीर,
तब मेरे सुख का अनुमान क्या तू कर सकती है प्राण!

छायावादी कवि तो प्रेम की खंड सत्तात्मक प्रवृत्तियों को भी अपनाता है क्योंकि उसमें अपने जीवन के साथ दूसरे जीवन को अपनाने की आकांक्षा है। यथा—

तरुवर से मृदु-मंगल गान।
मैं छाया में वैठ तुम्हारे,
कोमल स्वर में करलूँ स्नान,

३—**करुणा की भावना अथवा दुःखवाद**—सौन्दर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई। इसका एक कारण तो नवीन समाज में बहुरंगी आकांक्षाएँ और अभिलाषाएं हैं और साथ ही उनकी असफलता है। हमारी राजनैतिक परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि वह पग-पग पर हमारे स्वातन्त्र्य में बाधक होती हैं। पग-पग पर उसे आर्थिक और सामाजिक विडम्बनाओं से मोरचा लेना पड़ता है और उसकी उस आदर्शवादी धारणा को धक्का लगता जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर सौन्दर्य के एक संसार की सृष्टि करना चाहता था। उसने यह अनुभव किया है कि सौन्दर्य क्षण-भंगुर और नाशवान है और इस धारणा के आधार पर उसके काव्य में दुःख की भावना की उत्पत्ति हुई।

यह उसकी वेदना करुणा का कारण है। छायावाद में वेदना का प्रभाव स्वाभाविक मनोभावों को लेकर है। अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामंजस्यता, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की असम्पूर्णता, मानवी दुर्बलताओं के प्रति समवेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता ही इसका आधार है। यथा—

मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू लड़ियाँ देखो,
मेरे गीले पलक छुओ मत मुर्झाई कलियाँ देखो।

—महादेवी वर्मा

प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि-हृदय उष्ण उसाँसें निकालता है—यद्यपि काव्य में व्यक्तिगत, सीमित तथा पार्थिव अतृप्ति की वेदना का कोई महत्व नहीं है, किन्तु यदि वह व्यापक हो और उसका प्रभाव कल्याणकर हो तो ऐसी करुण वेदना जीवन के लिए आवश्यक है, किन्तु वह इस रूप में सामने आता है—

"एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।"

महादेवी वर्मा कहती हैं कि "व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलाकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलाकर जीवन को अमरत्व देता है।" प्रसाद जी की करुणा तो उनकी काव्य-धारा की प्राण है।

४—हालावाद—इसी दुःखवाद को भुलाने के लिए हालावाद अथवा हलाहलवाद चला है। दुःख से छुटकारा पाने के लिए दुःख को भुलाने वाली हाला की मस्ती चाही जाती है और कभी-कभी इससे बढ़कर संसार का नाश चाहा जाता है। और उसके लिए भयंकर प्रलयंकर का आह्वान किया जाता है। अथवा 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' की पुकार लगाई जाती है। संसार ही न रहेगा तो संसार में दुःख कहाँ रहेगा।

५—पुरातन के प्रति प्रेम—कुछ लोग जैसे प्रसाद, पन्त आदि अपनी कल्पना के सौन्दर्य में वर्तमान की निराशा को भुला देते हैं। वे अतीत और भविष्य के गान गाने में शान्ति का अनुभव करते हैं। पुरातन काल की अद्भुत एवं रहस्यपूर्ण विचित्रताएँ इन कवियों के अद्भुत-प्रेम की परितृप्ति करने

में बहुत सफल रही हैं। छायावादी युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकार प्रसाद जी की कल्पना का तो यह चिरपरिचित क्रीड़ा-क्षेत्र सा हो गया है। पन्तजी उसी पूर्ण पुरातन के लिए व्याकुल होकर कह उठते हैं---

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण काल
भूतियों का दिगन्त छवि-जाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?

६—पलायनवाद—दुःखवाद के साथ छायावादी कविता में पलायनवाद आ गया था। किन्तु वह अब प्रायः दूर हो गया है। प्रसाद जी को प्रारंभिक कविताओं में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं:—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्चल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

७—प्रकृति भावना—इन कवियों ने प्रकृति की सुषमामयी गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही सुन्दर और कलापूर्ण चित्रण किया है। प्रकृति के साथ खेलते-खेलते कवि प्रकृति का इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि उसे ऐसा मालुम होने लगता है जैसे पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो:—

'विजन वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान,
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि! सजल मेरा सोने सा गान।

निराला जी की 'जुही की कली', 'शेफालिका' आदि में प्रकृति पर्यवेक्षण की जिस अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं वह सराहनीय है। छायावादी कवियों का प्रकृति चित्रण आलम्बन रूप में होता है। कभी-कभी उसका मानवीकरण भी कर देते हैं और चर-अचर में एक साम्यमय सहानुभूति देखने का उद्योग करते हैं।

८—देश-प्रेम—प्रकृति-प्रेम के साथ देश प्रेम भी मिला हुआ है, अथवा यों कहिये कि देश के प्राकृतिक स्थलों के प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाता है। भारत की गौरव-गरिमा गाने में 'अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल' का भी वर्णन आ जाता है। इस स्वदेश प्रेम में द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता की अपेक्षा देश की अपनी वस्तुओं के गौरव की झलक दिखलाई पड़ती है। भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के उल्लास से प्रेरित प्रसाद जी का यह गीत चिरस्मरणीय रहेगा:—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ—विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।

९—व्यक्तिवाद अथवा आत्माभिव्यंजनः—छायावादी कवि देवी पात्रों से उतर कर मनुष्य तक पहुँच गए हैं। आज के युग में मनुष्य का मूल्य बढ़ गया है। आजकल की कविता केवल राजा महाराजाओं के ऊपर नहीं होती वरन् निम्नवर्ग के लोग भी कविता के विषय होने लगे हैं। अब तो प्रगतिवाद में शोषितों और पीड़ितों को ही पूजा का विषय माना जाता है। इस युग में व्यक्तिवाद को प्रश्रय मिला। व्यक्ति समाज से दब कर नहीं, वरन् अपना अस्तित्व बनाये रखकर सहयोग देना चाहता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में रीतिकाल के कवियों में एक बड़ा दोष यह था कि रूढ़ियों के गोरखधन्धे में जकड़कर उनका व्यक्तित्व पूर्णतया लुप्त हो गया है। छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था, अतः सबसे पूर्व इन कवियों ने उन्मुक्त आत्माभिव्यंजना को प्रधानता दी। परम्परा की रूढ़ि में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटा कर अभिव्यक्ति होने लगी और हृदय में समस्त आवेगों का आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। कवियों के हृदय की आशा-निराशा आदि उन्मुक्त होकर गीतों में फूट पड़ी। महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, एवं बच्चन में यह आत्माभिव्यंजन बहुत पाया जाता है।

विद्रोह की भावना—छायावादी काव्य का अर्थ अधिकांश सृजन उन नवशिक्षित युवकों द्वारा हुआ है जो किसी न किसी प्रकार विशेष कर शिक्षा

संस्थाओं के द्वारा पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क में आ चुके थे। पाश्चात्य विचारों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्राचीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना को प्रोत्साहन दिया था। यह विद्रोह सर्वतोव्याप्त था। क्या राजनीति या सामाजिक मान्यताएँ क्या नैतिक मर्यादाएँ सभी क्षेत्रों में युवक कवि अपने दृष्टिकोण और विचार स्वातंत्र्य को प्रधानता देता था। प्रेम के विषय में यह वर्ग स्वच्छन्दतावादी, और धार्मिक बन्धनों के प्रति अवज्ञावादी था। इसलिए छायावादी काव्य में हम विद्रोह की एक स्पष्ट अथवा कहीं-कहीं प्रच्छन्न भावना पाते हैं।

११—रहस्यवाद—छायावाद में रहस्य की प्रवृत्ति का प्राधान्य है। सर्वातीय परोक्ष सत्ता की आध्यात्मिक अनुभूति को रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है। यह अनुभूति जब बुद्धि के माध्यम से प्राप्त होती है दर्शन का विषय बनती है और जब हृदय को स्पर्श करती है काव्य के क्षेत्र में आती है। छायावाद की आधुनिक कविताएँ इससे अनुप्रमाणित हैं। रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महा अस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। परमात्मा आत्मा के सम्बन्ध में छायावाद काव्य अद्वैतावस्था मानकर चलता है। प्रेम, विरह, करुणा की भावना की प्रधानता इसीलिए है कि इनके द्वारा उस अवस्था पर पहुँचा जा सकता है। महादेवी, रामकुमार वर्मा, और निराला की बहुत सी कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं। व्यक्ति का मान जैसा वर्तमान युग में हुआ वैसा अन्य युग में नहीं। इसी कारण आजकल के काव्य में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में रहस्यवाद की झंकार सुनाई पड़ती है। महादेवी वर्मा के रहस्यवाद की यह विशेषता है कि आप मनुष्य की सीमाबद्धता से संकुचित नहीं होती, उसकी लघुता को ही उसको गौरव समझती हैं। आप ससीम में भी असीम को देखती हैं और एक कण में ही असीमता के दर्शन कर लेती हैं—

सच है कण का पार न पाया, बन बिगड़े असंख्य संसार।
पर न समझना देव हमारी लघुता है जीवन की हार।

भाव-प्रवणता के पश्चात् जो सबसे महत्वपूर्ण बात नवीन युग की कविता में दृष्टिगोचर होती है वह कलात्मकता है। इसकी अभिव्यक्ति छंदों, शब्द योजना और शैली सभी में हुई है।

खड़ी बोली को हिन्दी कविता में प्रयुक्त करने के साथ ही उसमें नवीन छन्दों का भी प्रयोग हुआ। परन्तु छायावाद काव्य में छन्दों के विषय में भी क्रांति हुई। नवीन संस्कृत छन्दों का प्रयोग हुआ। मात्रिक छन्दों में ऐसे प्रकार की सृष्टि हुई जिनमें प्रत्येक चरण में विभिन्न छन्दों के चरण का प्रयोग हुआ। साथ ही अभिव्यंजना को सफल करने के लिये किसी भी चरण की मात्राओं को घटाने-बढ़ाने की स्वतन्त्रता बरती गई। बँगला से प्रभावित छन्दों का प्रयोग हुआ। तुकान्त छन्दों के कई नए भेदों का प्रयोग हुआ। मुक्तछन्द या रबड़छन्द या केचुआ-छंद में रचनाओं की प्रवृत्ति स्थापित हुई। लगभग सारा छायावाद-काव्य गीतों या गेय कविताओं के रूप में ही हमारे सामने आया। व्यक्ति की प्रधानता और गीतात्मकता के महत्व के कारण प्रबन्ध कविता का सृजन हो ही नहीं सकता था। निराला जी ने लय और ताल के आधार पर स्वच्छन्द छन्द की, श्रीमती वर्मा ने ग्राम्य-गीत की ओर पन्त जी ने हिन्दी के मूल छन्दों को चुनकर संगीत और गीत का पूर्ण ध्यान रखते हुए भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया।

अब तक के कवि पुरानी रीति-ग्रस्त भाषा से ही सन्तुष्ट थे। यदि कोई नवीनता प्रिय कवि हुआ तो वह दो चार उर्दू के शब्दों का समावेश कर लेता था। हमारे इन कवियों ने अंग्रेजी और बंगला की काव्य-शालाओं में काफ़ी शिक्षा प्राप्त की थी अतः उसका इनकी शैली पर प्रभाव पड़ा। उसकी लाक्षणिकता का प्रयोग इन्होंने अपने काव्य में प्रचुर मात्रा में किया। द्विवेदी युग के अभिधा प्रयोग के विरोध में ही इसका विकास हुआ। प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग तो बहुत अधिक मात्रा में हुआ। प्रतीक से तात्पर्य प्रतिनिधि से है, अर्थात् अज्ञान का अन्धकार, ज्ञान का प्रकाश, आदि प्रतीक हैं। लक्षणाशक्ति के साथ ही शब्द की व्यंजना शक्ति का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ।

अंग्रेजी के बहुत से अलंकार जैसे विशेषण विपर्यय, ध्वनि चित्रण, मानवी-करण आदि ज्यों के त्यों अपना लिए गए जिससे भाषा की चित्रमयता बहुत

बढ़ गई। प्राचीन भारतीय अलंकार शास्त्र की भी अवहेलना नहीं की गई। किन्तु अलंकारों का वाच्य रूप न लेकर लक्षण की सहायता से ग्रहण किया गया। कल्पना और वक्रता के मोह के कारण दृष्टान्त आदि के स्थान पर अन्योक्ति एवं वक्रोक्ति ही अधिक प्रिय हुई। अमूर्त भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए मानवीकरण अलंकार का प्रयोग होने लगा। कुछ स्वच्छन्द कवियों ने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़नी चाहीं जिसमें उनको अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी।

छायावाद-काव्य जैसा हम कह चुके हैं मुक्तक शैली में लिखा गया था। उसमें खण्ड काव्य और महाकाव्य जैसी चीजें नाम मात्र को ही थीं। 'पथिक', 'स्वप्न', 'ग्रन्थि', 'निशीथ', राम की शक्ति 'पूजा' 'कामायनी' आदि छायावाद-काव्य केवल इन्हीं कथा-काव्यों को हमारे सामने उपस्थित कर सका है। उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता के कारण कथाओं से कोई मतलब नहीं रहा, उनकी दृष्टि बहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी अधिक थी। जिसके लिये एकमात्र गीति-काव्य-शैली ही उपयुक्त थी। अन्त में गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों में हम कह सकते हैं 'कि भारतीय-साहित्य समाज के अन्तःपट पर छायावाद ने जो मार्के की कसक भरी मीठी मनुहार दी है, जो व्यापक रागिनी छेड़ी है, जो बासंती तान गुंजित की है, उल्लास की वीणा पर भव्य भावनाओं की जो कोमल उँगलियाँ फेरी हैं, कल्पना के कमनीय पंखों पर उड़कर संसार को जो सुनहरी झाँकी ली है, वह सब अपनी सरसता, स्निग्धता तथा संगीतमयता के कारण अमिट और अमर है।'

—(:)-:-(:)—

छायावादी युग की कविता

भारतेन्दु-युग ने प्राचीनता से नवीनता की ओर आने का देश-काल के अनुसार जो प्रयत्न किया, द्विवेदी युग में उस प्रयत्न का विस्तार हुआ। द्विवेदी युग के कवियों ने खड़ी बोली में कविता करने का जो मार्ग प्रस्तुत किया उससे उत्तरोत्तर आने वाले कवियों को अपनी प्रतिभा का नूतन ढंग से प्रकाशन करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

द्विवेदी युग ने द्विवेदी जी द्वारा परिचालित कवियों के साथ ही वर्तमान युग के कवियों को भी तैयार किया। इनमें जयशंकरप्रसाद और माखनलाल चतुर्वेदी उसी युग की देन हैं। यद्यपि इन लोगों ने द्विवेदी जी द्वारा निर्धारित काव्य-पद्धति से बाहर ही अपना काव्य क्षेत्र निर्मित किया किन्तु उनको प्रेरणा द्विवेदी युग के अनुष्ठान से ही मिली। प्रसादजी खड़ी बोली में रचना करने से पूर्व व्रजभाषा में कविता करते थे।

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद के प्रवर्त्तक हैं। वर्तमान युग का आरम्भ उन्हीं से होता है। 'चित्राधार' आपकी व्रजभाषा की कविताओं का संग्रह है। 'कानन कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व', 'प्रेम-पथिक', 'झरना', 'लहर', 'आँसू', और 'कामायनी' आपकी खड़ी बोली की कविताओं के संग्रह हैं। 'कानन-कुसुम' में तो प्रायः वैसी ही कविताएँ हैं जैसी द्विवेदी-काल में निकला करतीं थी। 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम-पथिक' अतुकान्त रचनाओं के संग्रह हैं, जिनका सूत्रपात्र पं० श्रीधर पाठक पहले ही कह चुके थे। 'झरना' में प्रसाद जी की रहस्यवादी प्रवृत्ति की प्रारंभिक धारणाओं का चित्रण है। 'लहर' में भी प्रसादजी की रहस्यवादी प्रवृत्ति प्रस्फुटित हुई है, किन्तु 'आँसू' में जाकर प्रसाद के शुद्ध रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। 'आँसू', में चलकर प्रसादजी का रहस्यवादी दृष्टिकोण बहुत उच्च हो गया है। 'आँसू' में जिस पार्थिव प्रेम का वर्णन किया गया है वह अलौकिकता की ओर संकेत करता है। 'आँसू' के रहस्यवाद के मूल में प्रसादजी का सुख-दुख की समरसता का सिद्धान्त आंशिक रूप से प्रतिष्ठित हुआ है। कामायनी प्रसाद की प्रौढ़तम रचना है और उसे छायावाद के अन्यतम उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। छायावाद की सारी दुर्बलता और शक्ति के दर्शन हमें इस महाकाव्य में मिलते हैं। कामायिनी का साहित्यिक पक्ष यह है कि वह अपने पूर्ववर्ती युग (छायावाद का शैशवकाल) की कृतियों से अनेक विशेषता रखती है। इसमें छायावाद की या स्वच्छन्दतावाद की पूर्ण कला का विकास दिखाई देता है। इसी कारण यह इस वाद की अन्यतम कृति है। प्रसाद के काव्य की सबसे सुन्दर चीज उनकी उदात्त और सम्पन्न कल्पना है जो कामायनी में उपमा और उत्प्रेक्षाओं के रूप में बिखरी पड़ी है। प्रसाद जी के दार्शनिक विचारों की

जितनी सुन्दर और पूर्ण अभिव्यक्ति कामायनी में हुई है उतनी उनकी अन्य रचनाओं में नहीं। कामायनी का साध्य विषय प्रसाद जी का प्रिय श्रद्धामूलक आनन्दवाद ही है।

प्रसाद जी की कविता में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं:—

१—वैयक्तिक तथा ईश्वरोन्मुख प्रेम :—प्रसाद जी मूलतः प्रेम, विलास, तथा सौन्दर्य के कवि हैं। आपकी कविता में प्रेम की पीड़ा अधिक दिखाई देती है। आपका प्रेम पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाने वाला है। आपके प्रेम-वर्णन यद्यपि लौकिक होते हैं। तथापि वे अलौकिकता की ओर संकेत करने वाले होते हैं। आँसू में इसके पूर्णतः दर्शन होते हैं। प्रेम में आप वेदना को बड़ा महत्व देते हैं। यह करुणा की झलक बौद्ध धर्म के दुःखवाद के प्रभाव से आई है। आँसू विरह-वेदना का प्रतीक है। इनके अनुसार सच्चा प्रेम प्रथम परिचय में हो जाता है।

२—प्रकृति प्रेम—छायावादी कवियों को प्रकृति से स्वाभाविक प्रेम है। उनकी सभी रचनाओं में प्रकृति के बड़े सुन्दर और संश्लिष्ट चित्रण मिलते हैं जो प्रसाद जी की उदात्त और सुन्दर कल्पना के परिचायक हैं। साथ ही प्रसाद जी के प्रकृति-वर्णन की विशेषता प्रकृति के भयंकर स्वरूप का स्वाभाविक चित्रण है। कामायिनी में प्रसाद की प्रकृति के इस रूप के दर्शन मिलते हैं। आपका प्रकृति-चित्रण बहुत उत्कृष्ट और कलापूर्ण है। सारांश यह है कि आपका मन प्रकृति के रम्य और भयंकर दोनों प्रकार के रूपों में पूर्णरूपेण रमा है। 'प्रकृति सुन्दरी में चेतना का आरोप', यह छायावाद का प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण है जिसके दर्शन प्रसाद जी की कविता में सर्वत्र होते हैं।

३—प्राचीन गौरव :—प्रसाद जी की एक और विशेषता भारत की प्राचीन संस्कृति से प्रेम है। आपने भारत के अतीत गौरव का गान किया है। देश के प्रति इनके अनुराग के दर्शन अनेक स्थलों पर होते हैं। यथा :—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस ताम-रसगर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।"

प्रसाद जी की भाषा संस्कृत-गर्भित है और इस कारण उनकी भाषा का माधुर्य बड़ा ही है। उसमें अधिक दुरूहता भी नहीं आने पाई है। आपके काव्य में पुरानी और नयी, विशेषण विपर्यय और मानवीकरण आदि दोनों ही ढंग की अलंकार योजना हुई है और आपकी उपमाओं में सुन्दर नवीनता रहती है।

प्रसाद के बाद दूसरे छायावादी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हैं। आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'मतवाला' में प्रकाशित होकर 'अनामिका' नाम से संग्रहीत हुई हैं। दूसरा कविता संग्रह 'परिमल' है जिसमें तुकान्त, भिन्न, तुकांत, और मुक्त छन्द सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। अन्य रचनाओं में 'गीतका', 'तुलसीदास', 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता', 'बेला' और 'नये पत्ते' हैं, कुकुरमुता में आपके मुक्त-छन्द की बहार दर्शनीय है, यह एक व्यंग्य है। 'गीतिका' आपके प्रगीतों का संग्रह है। 'तुलसीदास' में भारतीय संस्कृति का चित्र खींचा गया है। 'बेला' और 'नए-पत्ते' आपकी नूतन स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। निराला जी की कविताओं पर वेदान्त की गहरी छाप परिलक्षित होती है। आपमें बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। 'जागरण', 'मैं और तुम', 'कण' आदि रचनाएँ दार्शनिक चिन्तन से प्रेरित हैं। भक्तों की भाँति आप ईश्वर के साथ चन्द्र-चकोर का सा सम्बन्ध रखते हैं। आपकी भक्ति का आधार है :—

आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

निराला शब्द-चित्र अङ्कित करने में बड़े सिद्धहस्त हैं। 'भिखारी', 'वह तोड़ती पत्थर', 'इलाहाबाद के पथ पर' आदि रचनाओं में उनकी इस कला की सफलता बिल्कुल स्पष्ट है। हमारे नेत्रों के सम्मुख चित्र सा खिंच जाता है। निराला जी ने प्रकृति-चित्रण भी बड़े सुन्दर और संश्लिष्ट किए हैं। यद्यपि कहीं-कहीं भाषा काठिन्य के कारण वे अस्पष्ट हो गये हैं, परन्तु प्रधानतः वे बड़े सुन्दर हैं। 'जुही की कली' में प्रकृति का सौन्दर्य वर्णन मानवीकरण के रूप में किया है। इसी प्रकार 'सन्ध्या-सुन्दरी' में संध्या की निस्तब्धता का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन हुआ है। 'गीतिका' में निराला जी ने साहित्य और संगीत दोनों के मिलाने का उद्योग किया है।

निराला जी आर्य-संस्कृति के बड़े भक्त हैं। निराला जी ने 'तोड़ती पत्थर' आदि कुछ प्रगतिशील कहलाने योग्य कविताएँ भी की हैं। आपकी 'कुकुरमुत्ता' नाम की कविता में वर्ग-संघर्ष की ध्वनि है। 'कुकुरमुत्ता' दलितों का प्रतीक है।

निराला की भाषा संस्कृति-गर्भित है किन्तु उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इनके काव्य में ओज की मात्रा अधिक है और कुछ लोगों का ख्याल है कि इनकी भाषा इनके गीतों के लिए भारी पड़ जाती है, अर्थात् उनका संगीत उनके संस्कृत-गर्भित ओजपूर्ण शब्दों को गहन करने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात कहीं-कहीं है। आपका अलंकार विधान बड़ा स्वाभाविक है। प्रचीन उपमानों का प्रयोग भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है। नवीन उपमानों की योजना भी सुन्दर हुई है।

पन्त जी ने हिन्दी कविता में मुक्तकों को एक विशेष उत्कर्ष दिया है। पन्त सुषमामयी प्रकृति की गोद में खेले-कूदे और बड़े हुए हैं, और मूलतः अपने सुन्दर प्रकृति चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। निराला के शब्दों में 'पन्त जी हिन्दी के सुकुमार कवि हैं' आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' में संग्रहीत हैं। 'वीणा' के उपरांत असफल प्रेम को लेकर उनकी 'ग्रन्थि' चलती है। पन्त जी की पहली रचना 'पल्लव' है जिसमें पन्त जी की प्रतिभा का और छायावादी विशेषताओं का पूर्णरूप से निर्देश है। इसमें चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत विधान इत्यादि प्रचुर मात्रा में भरी पड़ी है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'गुंजन,' 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि' और 'युगपथ' हैं।

प्रकृति के चित्र उपस्थित करने में पन्त जी ने विशेष सफलता प्राप्त की है। कहीं-कहीं वे प्रकृति के सौन्दर्य वर्णन में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनका प्रकृति के साथ तादात्म्य हो जाता है। हिन्दी साहित्य में प्रकृति के वर्णन में रंगों का मेल आपने कुशल चित्रकार की भाँति किया है। प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप में चित्रण किया है। प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

'ग्रन्थि' में इनका दुःखवाद रति भाव के अन्तर्गत आता है, 'पल्लव' की निराशा ने 'गुंजन' में आकर एक परिवर्तित रूप धारण कर लिया है। 'गुंजन'

में कवि दार्शनिक हो गया है। उसे सर्वत्र ही एक सत्य के दर्शन होते हैं। इसमें उनकी इच्छा सुख-दुख का मिलन करने की होती है। 'युगान्त' में कवि पुरातन के प्रति घृणा और नवीन के प्रति मोह दिखाकर मानव पूजा का उपक्रम करता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्त जी का रूप प्रगतिवादी कवि का है। इसी प्रकार वर्तमान कृतियों में उनके चिन्तन की झलक मिलती है।

'वीणा' और 'पल्लव' में हम प्राकृतिक सौन्दर्य के शब्द-चित्र देखते हैं; कुछ आँसू और गुंजन का अनुभव करते हैं। कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद की भी स्पष्ट झलक मिलती है जैसा कि 'परिवर्तन' नामक कविता में है।

पन्त की भाषा में माधुर्य की प्रधानता है। इन्होंने अपनी कविता में साहित्य और संगीत का सुन्दर समन्वय किया है। निराला जी के काव्य में पौरुष और ओज है तो पन्त जी के काव्य में माधुर्य और सौन्दर्य। प्रकृति-चित्रण में रंगों के मेल में दोनों ने सफलता प्राप्त की है। निराला श्याम रंग की ओर झुके हैं तो पन्त श्वेत उज्ज्वल रंग की ओर। पन्त और निराला दोनों ही छायावादी काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी—आप छायावादी कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, परन्तु राष्ट्रीय कविता के आप महारथी माने जाते हैं। 'प्रेम' और 'राष्ट्रीयता' इन दोनों विषयों पर रचना करने में आपको अपूर्व सफलता मिली है। आपकी वाणी हिन्दी के अन्य वर्तमान कवियों की अपेक्षा अधिक तीव्र, मर्मस्पर्शी, तथा अनुभूतिपूर्ण है। आप बड़े भावुक भक्त कवि भी हैं, वे कृष्ण के उस रूप के उपासक हैं जो उनके भारत को हाथों हाथ लिए फिरता है। आपकी कविताओं में करुण अनुभूति की तीव्रता है जो उन्हें सरसता तथा रसार्द्रता प्रदान करती है। आपकी रचनाएँ 'हिम-किरीटनी' और 'हिम-तरंगिणी' में संगृहीत हैं। आपका गद्य-काव्य 'साहित्य-देवता' में संकलित है।

महादेवी वर्मा—छायावादी कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आपकी कविताओं की दो मान्य विशेषताएँ हैं। एक अनन्त विश्व व्यापी दुःख का वर्णन तथा रहस्योन्मुख भावना का चित्रण। आपकी पीड़ा तथा कसक को

करुण रस के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। आपका दुःख वैराग्य के अन्तर्गत आता है। आपके रहस्यवाद की यह विशेषता है कि आप मनुष्य की सीमाबद्धता से संकुचित न होकर उसकी लघुता को ही उसका गौरव समझती हैं। आप ससीम में भी असीम के दर्शन करती हैं। दुःख मनुष्य को मनुष्यता की सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित करता है और फिर वह सब को अपने अनुराग बन्धन में बाँध लेता है। और फिर समस्त संसार अपना सा लगता है, इसीलिये महादेवी जी दुःख की कामना करती रहती हैं।

वर्तमान युग के रहस्यवादी कवियों में आपका प्रमुख स्थान है। आपकी रचनाएँ 'यामा' और 'दीपशिखा' में संग्रहीत हैं। आपकी भाषा संस्कृत गर्भित है तथापि उसमें एक विशेष सरलता और प्रभाव है। भाव, भाषा में स्वयं ही प्रस्फुटित होते हुए ज्ञात होते हैं। आपके भावों में छायावादी कविता की सुकुमारता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

महादेवी वर्मा के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार वर्मा का भी छायावादी कवियों में ऊँचा स्थान है भगवतीचरण वर्मा की कविता में नैराश्य और अतृप्ति की झलक रहती है। किन्तु आप थकना और छक जाना नहीं जानते :—

लेकर अतृप्त तृष्णा को,
आया हूँ मैं दीवाना।
सीखा ही नहीं यहाँ है,
थक जाना या छकजाना।

आपकी कविता में वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना मिलती है, आप इसके अन्त करने के लिए प्रलय का आह्वान करते हैं। आपकी कविताओं के सग्रह 'मधुकण', 'प्रेम संगीत', 'मानव' आदि हैं आपकी रचनाओं पर अँग्रेजी तथा उर्दू का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

वर्मा देश की परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहे हैं जिसका परिचय 'मानव' की कविताओं में मिलता है।

रामकुमार वर्मा की कविता में वैराग्य तथा अस्पष्ट निराशावाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं आप क्षणिक सुख में भी दुःख छिपा हुआ देखते हैं और प्रातः में संध्या की कालिमा और जीवन में मृत्यु छिपी हुई पाते हैं। यथा :—

धूल हाय! बनने ही को खिलता है फूल अनूप।
यह विकास है मुरझा जाने ही का पहिला रूप॥

आपकी कविता में रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं आपने असीम और ससीम के सम्बन्धों की बड़ी ही स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। कहीं-कहीं अव्यक्त सत्ता के प्रति विरह क्रन्दन को इनका वियोगी हृदय कोकिल के स्वर में पाकर उस प्रियतम के पास आने की बात सोचता है। आपकी कविताओं के संग्रह 'अंजलि' 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' और 'हिम-हास' हैं। आप प्रकृति में जीवन का रस ग्रहण करने में छायावादी और जीवन की नश्वरता से आत्मशान्ति का भाव ढूंढने में रहस्यवादी हैं। आपकी भाषा में प्रवाह है; कहीं कहीं अलंकारों की तरह शब्द की परम्परा की मूर्ति भी की है जैसे खुसमीर आदि। उनकी कविताओं में अभिनयात्मक व्यंजना बहुत है, यह उनके कवित्व की एक विशेषता है।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'—आधुनिक युग के अनुकूल सुन्दर रचनाएँ कर लेते हैं। आपकी कविताएँ 'निर्माल्य', 'एकतारा', 'कल्पना' और 'जीवन-पुस्तक' में संगृहीत हैं। रचनाओं के विषय प्रेम, करुणा तथा भक्ति हैं। इनके अनुसार आदर्श प्रेम में प्रेमी की दृष्टि प्रिय के दोषों पर नहीं जाती। आपकी भाषा सरल तथा प्रसाद गुण युक्त होती है। भावों को व्यक्त करने में क्लिष्ट कल्पना या दूर की सूझ से काम नहीं लिया गया है। सरल, परिचित कल्पनाएँ सीधी-सादी भाषा में व्यक्त करते हैं।

बालकृष्ण शर्मा नवीन—उद्दाम पौरुष के कवि हैं जिनमें कोमलता और प्रचंडता का अद्भुत समन्वय है। उनकी कोमल भावनाओं में सौन्दर्य की झलक है, प्रणय की कसक है। और प्रचन्ड भावनाओं में 'हेम-शिखा' की लहक-दहक है। दोनों प्रकार की भावनाओं में ओज है।

नरेन्द्र शर्मा—का स्थान नवयुवक कवियों में बहुत ऊँचा है। आपने शृंगार और वीर दोनों रसों को अपनी कविता का विषय बनाया है। आपकी कविता में छायावादी युग की विशेषता, दुःखवाद के दर्शन होते हैं किन्तु प्रगतिवादी होने के कारण आप उसे चिरस्थायी नहीं मानते हैं। आपकी कविताओं के संग्रह 'कर्णफूल' 'शूल-फूल' 'प्रभात-फेरी' 'प्रवासी के गीत' 'पलाशवन' 'रक्तचंदन' के नाम से निकले हैं।

बच्चन की—कविताएँ मूलतः स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत आती हैं परन्तु उनमें क्षणिक आनन्द की एक नई धारा बही है। आनन्द और मादकता का उनकी कविता में धीरे-धीरे लोप हो रहा है और अब उनकी कविता में घोर निरशा-वाद के दर्शन होते हैं। 'निशानिमन्त्रण' और 'एकांत-संगीत' में दुःख, करुणा, निराशा और सूनेपन का चरम उत्कर्ष परिलक्षित होता है। परन्तु बच्चन की कविता में भाषा की नई पकड़, भावों की नई सूझ, नई मूर्तिमत्ता, और गीत-कला की उत्कृष्टता के दर्शन होते हैं। कवि का जीवन जिन संघर्षों में से होकर गुजरा है, उन्होंने जो गीत उठाये उन्हीं को कवि ने अपने काव्य में बाँध दिया है। अब वे प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहे हैं। उनकी रचनाओं के संग्रह 'मधुशाला' 'हलाहल', 'सतरंगिनी', ' आकुलअन्तर' 'एकान्तसंगीत' 'निशानिमन्त्रण', 'मधुबाला' 'मधुकलश' और 'मिलन यामिनी' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'बंगाल का काल' में प्रगतिवाद का बच्चन जो पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

गुरुभक्त सिंह—का छायावादी कवियों में ऊंचा स्थान है। आपने 'सरस सुमन' 'कुसुमकुञ्ज' 'वन्शीध्वनि' और 'वनश्री' में प्रकृति चित्रण करके छाया-वादी प्रकृति-काव्य में नए प्राण डाल दिए। उनकी शैली में छायावादी अलंकृत भाषा का अभाव है जो एक नई प्रवृत्ति थी। किन्तु उसका कुछ कारणों से विकास नहीं हुआ।

गोपालसिंह नैपाली—ने भी भक्त की भाँति प्रकृति–चित्रण बड़ा सुन्दर किया है। आपका काव्य-संग्रह 'नवीन' नाम से प्रकाशित हुआ।

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल—ने भी छायावादी कविता-की परम्परा को विकसित किया है। आपकी कविता में प्रकृति प्रेम की अपेक्षा मनुष्य के प्रति

अधिक प्रेम है। उनकी भाषा में उर्दू का पुट अधिक हो जाता है। आपने अपने वासनामय प्रेम के ऊपर आध्यात्मिक आवरण डालने का प्रयत्न नहीं किया है बल्कि तृष्णा को जीवन का एक सत्य माना है आपकी कविताओं के संग्रह 'मधूलिका'. 'अपराजिता।' 'किरण बेला' आदि प्रकाशित हुए हैं। अब आप प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहे हैं।

छायावाद काव्याधार के प्रमुख कवियों का विवेचन करने के बाद हम अन्य कुछ कवियों का जिन्होंने इस काव्य धारा में महत्वपूर्ण योग दिया है, वर्णन करेंगे। इन अन्य कवियों में महत्वपूर्ण 'प्रवासी' के लेखक लोचनप्रसाद शर्मा, 'पूजा फूल' के लेखक मुकुटधर पाण्डेय, 'विपंची' के लेखक रामनाथ 'सुमन', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न मानसी' आदि के लेखक रामनरेश त्रिपाठी; 'आर्द्रा', 'विषाद', 'पाथेय' आदि के लेखक सियारामशरण 'गुप्त', 'झंकार' के लेखक मैथलीशरण, 'अनन्त के पथ पर' के लेखक हरिकृष्ण प्रेमी; 'रेणुका', और 'रसवन्ती' के लेखक राम धारीसिंह 'दिनकर', 'विजनवती' के लेखक इलाचन्द्र जोशी, 'कलापी' के लेखक आरसीप्रसाद, 'मानसी' के लेखक उदयशंकर भट्ट, 'ताण्डव' के लेखक रामरतन भटनागर आदि हैं। इन कवियों ने अपनी उपर्युक्त वर्णित कृतियाँ लिखकर छायावाद-काव्य धारा को विकसित किया है। परन्तु इन सब कवियों के काव्य का अभी वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है इसलिए हम यह नहीं जानते कि छायावाद को इनसे कितना योग प्राप्त हुआ है। वैसे छायावाद काव्य-साहित्य इतना प्रचुर है कि एक साथ इतने बड़े आन्दोलन का अध्ययन करना कठिन है।

"रहस्यवाद"

शुक्ल जी के शब्दों में जो "चिंतन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।"

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती

है और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता।" रहस्यवाद की सत्ता काव्य और दर्शन दोनों में है। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम स्रोत हृदय है। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों में 'ईश्वर' तथा इस विश्व का सम्बन्ध, इस विश्व की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और उसका विनाश, आदिकाल से मनुष्य को मुग्ध तथा लुब्ध किये हुए है। इस लुब्धता में अशांति का आवेश है, अतः शांतिप्रिय मानव-समाज इस चिर रहस्यमय गुत्थी के सुलझाने का प्रयास कर रहा है, हमारी ससीम चेतना असीम चेतना की निरंतर खोज करती रहती है। इसी खोज का मधुर अभिव्यक्ति काव्य में रहस्यवाद का रूप धारण करती है।"

जिस प्रकार छायावाद कोरे वस्तुवाद से आगे जाता है और प्रकृति में मानवी भावों की छाया देखता है उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की वस्तु है। वह प्रकृति और मनुष्य के भीतर की व्यापक सत्ता के साथ एक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। वर्तमान युग के रहस्यवाद की धारा से अपना तादात्म्य रखने वाली कवयित्री श्री महादेवी वर्मा अपने सांध्य-गीत की भूमिका में उसकी व्याख्या करती हुई लिखती हैं:—

"उसने (रहस्यवाद ने) परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में डाल दिया है परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहार-लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।"

परन्तु यह पहिले बताया जा चुका है कि काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है, यद्यपि आधार तथा अन्त दोनों का एक है। दार्शनिक, आत्मा-परमात्मा तथा माया के चिन्तन में लीन होकर उस परोक्ष सत्ता का प्रकाश देखने के लिए लालायित रहता है, भावुकता से दूर शुष्क

मस्तिष्क की उलझन में पड़ा रहता है। कवि अपनी भावुकता के सहारे अपने प्रिय से मिलने के लिये व्याकुल हो उठता है, क्योंकि उसके पास तर्क-वितर्कमयी बुद्धि की उलझन नहीं रहती। अस्तु वह अपनी उन परिस्थितियों का जिनसे उस महा मिलन तक जाने में गुजरना पड़ता है, वर्णन करने लगता है। अपनी इस सूक्ष्म भावना को वह केवल मूर्त आधारों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है, अस्तु उसे रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। वास्तव में रहस्यवाद की अनुभूति का तत्व इतना व्यक्तिगत है कि वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। हमारे अलौकिक अनुभव तो अलौकिक भाषा में ही सफलता से व्यक्त हो सकते हैं।

आत्मा की नित्यता तो रहस्यवाद का आधार स्तम्भ है। इस प्रकार की जन्मान्तर की प्रवृति संसार के सभी रहस्यवादियों में पाई जाती है। रहस्यवाद के साधकों की अनुभूति-भिन्नता में भी समता का एक स्थायी समन्वय भाषा के भावों की अनुगामिनी रहने के कारण रहता है। गूढ़ आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन रहस्यवादी कवि प्रतीकात्मक शैली द्वारा करने में ही समर्थ रहता है। प्रतीकों से अभिव्यक्ति में एक ऐसी सुबोध शक्ति आ जाती है कि उसका स्वरूप सबके सामने प्रत्यक्ष सा हो जाता है। किन्तु आत्मा को परमात्मा के संयोग तक पहुंचने में विभिन्न दशाओं और परिस्थितियों में गुजरना पड़ता है और इन्हीं अवस्थाओं में रहस्यवादी अपनी उपासना की शक्ति के अनुसार ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त करते हैं जो विभिन्न होती हैं। रहस्यवाद में जीव इन्द्रीय जगत से बहुत ऊपर उठ जाता है। वह अपनी भावुकतामयी भावना से अनन्त और अन्तिम प्रेम अर्थात् ईश्वर से एक हो जाना चाहता है। प्रत्येक रहस्यवादी को अपने ध्येय तक पहुँचने में तीन परिस्थितियाँ विशेष पार करनी पड़ती हैं।

पहली परिस्थिति तो वह है जब साधक या कवि अपनी आत्मा के साथ उस अनन्त शक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्मुख होता है। वह संसार से उदासीन तथा आश्चर्य तथा विस्मय से परलोक से प्रीति करने लगता है।

दूसरी परिस्थिति वह है जब आत्मा परमात्मा के सहवास अनुभव के सुफल स्वरूप उसे प्यार करने लगती है। उसका प्रेम अगाध और अबाध होता है। जो

लौकिक और अलौकिक जीवन में सहज ही एक ऐसा सामंजस्य हो जाता है कि उसके अन्तःजगत तथा वाह्य, जगत एक दूसरे से मिल जाते हैं।
तीसरी अवस्था रहस्यवाद की चरम साधना की वह स्थिति है जब आत्मा परमात्मा का एकाकार हो जाता है।

रहस्य की परिभाषा तथा उदाहरणों से उसकी काव्य-स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। वह छायावाद का एक विशिष्ट अङ्ग मात्र है। ईश्वर की रहस्यमयी सत्ता, उसके प्रति विरह, मिलन और आत्मसमर्पण इसके मुख्य विषय हैं। यह रहस्यवाद रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि और कबीर एवं बुद्ध के दुःखवाद से प्रभावित है। आगे हम उसकी भावना के मूलतत्वों का विश्लेषण वर्तमान काव्य के आधार पर करेंगे। आधुनिक रहस्यवादी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनेक रूप हैं:—

(१)—प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी।
(२)—कबीर की भाँति यथार्थवादी अद्वैतवाद जिसमें सूफी रहस्यवाद की झलक मिलती है।
(३)—धार्मिक तथा उपासक या वेदान्तिक रहस्यवादी।
(४)—प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी।
(५)—अज्ञात के प्रति रहस्यात्मक आकर्षण और उसकी अप्राप्ति के कारण वेदना का अनुभव।

सर्वभूत-आत्मा उस महान् आत्मा का ही एक परिछिन्न अंश है। इसको उससे बिछुड़े हुए कल्प बीत गए—कई चन्द्र उदय होकर डूब गए, किन्तु 'महा-मिलन' का क्षण अभी नहीं आया। आत्मा इसी 'महाविरह' में क्रन्दन कर उठती है:—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस आशामयी जलन के।
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के।

इसी आध्यात्मिक विरह की विदग्धा में जीवन भार स्वरूप हो जाता है। कोमल करुण भावना अधरों से निर्झर की भाँति निसृत हो पड़ती है:—

नहीं अब गाया जाता देव,
थकी उँगली, ढीले हैं तार।

विश्व वीणा में अपनी आज,
मिला लो मेरी भी झनकार।

इन कोटियों के अनुसार प्रथम कोटि में प्राचीन कवियों में कबीर तथा जायसी का नाम उल्लेखनीय है।

दार्शनिक रहस्यवाद में तुलसी तथा सूर के कुछ पद आते हैं। आधुनिक कवियों में निराला, प्रसाद, श्री माखनलाल की भी कुछ अभिव्यक्तियाँ इसी कोटि की हैं। प्रसाद की कामायनी में इस दार्शनिक रहस्यवाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। तीसरी कोटि के धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी कवियों में मीरा तथा निर्गुणवादी कवि आते हैं। प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद के दर्शन प्रायः सभी छायावादी कवियों में होते हैं किन्तु पन्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पन्तजी प्रकृति की गोद में उत्पन्न हुए, खेले व फूले-फले हैं, और वे प्रकृति के 'द्रुमों का छाया' को छोड़कर सांसारिकता की ओर आकृष्ट होने में भी प्रायः असमर्थ से हैं। एक पुष्प को देखकर जब हम उस भी अपने ही जीवन सा तप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है, किन्तु उसी पुष्प में जब हम विश्व-व्याप्त परमचेतन सत्ता का विकास पाते हैं तब यह हमारी रहस्यानुभूत हो जाती है, इसी का दूसरा नाम प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद है। यथाः—

स्पृहा के विश्व! हृदय के हास!
कल्पना के सुख! स्नेह-विकास।
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?
अनिल में? बनकर उर्मिल गान,
स्वर्ण-किरणों में कर मुसकान,
झूलते हो झोंको की झूल?
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?
गगन में? बन शशि-कला सकल,
देख नलिनी-सी मुझे विकल,
बहाते ओस अश्रु का स्थूल?
फूल? तुम कहाँ रहे अब फूल।

इसमें किसी छिन्न कुसुम (अथवा माँ के लुटे लाल) के प्रति काव्योद्गार हैं। जब तक वह माँ की गोद में था, तब तक माँ की सम्पूर्ण दृष्टि उसी तक केन्द्रित थी; केवल एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा जुड़ी हुई थी। किन्तु गोद के शून्य हो जाने पर माँ देखती है, उसका फूल-सा लाल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो गया है—कहीं 'शशिकला' बनकर, कहीं गान बनकर, कहीं मुसकान बनकर, अर्थात् सम्पूर्ण रूप रंगों और आकृतियों में अब वही वह है। माँ की दृष्टि पहले उसमें जितनी ही सीमित थी, अब वह उतनी ही अपरिमित होकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो गई है। उस एक परमात्मारूपी कुसुम ने मानों हृदय के नेत्रों को दिखला दिया, सर्वत्र मैं ही तो हूँ। यह है रहस्यवाद की अनुभूति। इसी प्रकार और भी:—

मिले तुम राकापति में आज,
पहन मेरे दृग-जल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जल धार
नहीं फिर भी तो आती लाज....
निठुर यह भी कैसा है अभिमान।

इन कवियों के अतिरिक्त पाँचवीं कोटि के रहस्यवादी कवि जिनका ऊपर विवेचन हो चुका है, अपना इस क्षेत्र में विशेष महत्व रखते हैं। ऐसे साधकों में श्री महादेवी वर्मा का नाम स्मरणीय है। अन्य कवियों की भाँति रहस्य भावना का छुट-पुट प्रादुर्भाव उनके काव्य में नहीं हुआ। वरन् उनकी इस काव्य-भावना का सुन्दर क्रमिक विकास उनकी कृतियों में सन्निहित है। यह उनके जीवन की साधना है। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्राण ही रहस्यवाद है। इसी लिए वे आज भी मुक्त कंठ से कह पाती हैं:—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी?
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,
है एक मुझे मधुमय विषमय;

मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय।
पाऊँ जग का अभिशाप कहां,
प्रति रोमों में पुलकें लहरीं।

जिसको पथ-शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूँगी भुजभर;

मेरी लघु पलकों से छलकी,
इस कण-कण में ममता बिखरी।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हुए 'प्रसाद जी' कहते हैं—

(१) काव्य में, आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा, रहस्यवाद है।

(२) वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और वह साहित्य-रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।

(३) रहस्यवाद सच्चा भी हो सकता है और मिथ्या भी।

(४) प्रसाद के अनुसार रहस्यवाद की अपनी दार्शनिक एवं काव्य परम्परा है, परन्तु मध्ययुग में मिथ्या रहस्यवाद का इतना प्रचार हुआ कि सच्चे रहस्य-वादी पुरानी चाल की छोटी मंडलियों में लावनी गाने और चंग खड़काने लगे। प्रसाद के अनुसार अद्वैत धर्म-भावना है।

आधुनिक रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसाद का मत है—"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास हुआ है। इसमें अपरोक्ष सहानु-भूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् में पर्यवसान का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित होता है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है। इसमें सन्देह नहीं।"

———

आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी कविता

आधुनिक साहित्य की रहस्यवाद की धारा प्राचीन साहित्य की रहस्यवाद की धारा से नितान्त भिन्न है। प्रसाद जी की पहली समन्वपूर्ण रहस्यवाद की रचना 'आँसू' के प्रकाशित होने के पूर्व मैथलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बद्रीनाथ भट्ट आदि कवियों की कुछ रहस्यवादी कविता दिखलाई पड़ने लगी थीं। इन कवियों की कविता के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—"ये कवि जगत और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार कर रहे थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेमदृष्टि डालकर, उसके रहस्यभरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम स्वच्छन्द मार्ग निकाल रहे थे। भक्ति-क्षेत्र में उपास्य की एकदेशीय या धर्म विशेष में प्रतिष्ठित भावना को ओर बढ़ रहे थे जिसमें सुन्दर रहस्यात्मक संकेत भी रहते हैं। अतः हिन्दी कविता की नई धारा के प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः गुप्तजी और मुकुटधर पांडेय को-समझना चाहिये।" गुप्त जी में जो थोड़ी बहुत रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ हैं उनके लिये वे रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि के ऋणी हैं। मुकुटधर पांडेय की कविताएँ अवश्य आधुनिक रहस्यवाद-काव्य की कोटि में रखी जा सकती हैं और उसमें भाषा और कला के नये विकास के साथ रहस्य भावना की भी स्पष्ट झलक मिलती है।

प्रसाद जी आधुनिक युग के सर्वप्रथम और श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। प्रसाद जी के मतानुसार वर्तमान रहस्यवाद के मूल में अद्वैत भावना है परन्तु उसमें साधनात्मक अनुभूति की प्रधानता नहीं है वरन् इसके स्थान में संकल्पात्मक अनुभूति की प्रधानता है। प्रसाद जी के रहस्यवाद के मुख्य अग यह हैं :—

(१) अपरोक्ष अनुभूति
(२) समरसता
(३) प्राकृतिक सौन्दर्य
(४) विरह
(५) आनन्दवाद

प्रसाद जी की रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की पहली झलक 'झरना' में मिलती है। इन पर रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रसाद जी मूलतः प्रेम, विलास और सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने आनन्द के आधार पर मानव जीवन के दुःख-सुख की व्याख्या की है। 'झरना' की कई कविताओं में कवि पार्थिव प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे देता है :—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह अलस जीवन सफल सब हो गया। आदि

'झरना' के बाद 'लहर' के प्रगीतों में रहस्यवाद की झलक देख सकते हैं। इन गीतों में प्रसाद का शुद्ध रहस्यवादी रूप मुखरित हो रहा है। जीव और ब्रह्म की लुका-छिपी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त की गई परन्तु प्रियतम की निष्ठुर आँख मिचौनी और उसकी आतुर अपलक प्रतीक्षा विह्वल करके मानस अंतस से हाहाकार करती हुई निकलने लगती है :—

धीरे से वह उठता पुकार,
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

आँसू में चलकर प्रसाद जी का रहस्यवादी दृष्टिकोण बहुत उच्च हो गया है। आँसू में यद्यपि पार्थिव प्रेम का वर्णन किया गया है। परन्तु वह अलौकिकता की ओर संकेत करता है। आँसू के रहस्यवाद के मूल में सुख-दुख की समरसता की व्याख्या तथा उससे प्राप्त आनन्दवाद की ओर संकेत है।

यथा :—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुःख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इसके अतिरिक्त आँसू में अव्यक्त सत्ता के प्रति विरह की प्रधानता दी गई है जो रहस्यवादी कवियों की सार्व-भौमिक प्रवृत्ति है। आँसू इसी विरह वेदना का प्रतीक है। आँसू के बिना कोरा सुख का जीवन शुष्क है। देखिये :—

१६

सबका निचोड़ लेकर तुम।
सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन-सा।
आँसू ! इस विश्व-सदन में।

परन्तु प्रसाद का रहस्यवादी रूप कामायिनी में बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। कामायनी का साध्य विषय श्रद्धामूलक आनन्दवाद है। प्रसाद जी ने दिखलाया है कि आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि श्रद्धा से हो सकती है, विकल्पात्मक बुद्धि से नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि आनन्द की प्राप्ति श्रद्धा रहित बुद्धि द्वारा कभी नहीं हो सकती। प्रसाद जी आनन्दवाद की प्राप्ति में बुद्धिवाद का घोर विरोध देखते हैं, पर बुद्धि का नहीं, क्योंकि आनन्द प्राप्ति के मूल उपादान श्रद्धा में उतनी बुद्धि आ ही जाती है जिससे विशृंखलता न उत्पन्न हो। कामायिनी के मूल में चिर आनन्द भाव की साधना का यही तत्व ज्ञान है। कामायिनी का आनन्दवाद आत्मवाद की भित्ति पर खड़ा है। प्रसाद जी शक्ति अद्वैतवाद के सन्देश वाहक थे, इसी कारण उन्होंने इदम को अहम में पर्यवसित न करके अहम् को इदम् में लीन किया है। उनका अद्वैत दो का (ब्रह्म और जगत का) नित्य सामरस्य मानता है। इस प्रकार प्रसादजी के लिए आनन्द ही योग है, आनन्द ही मोक्ष तथा आनन्द ही ब्रह्म है। प्रत्येक जीव इस महानन्द का प्रतीक है—स्फुलिंग है। जिस प्रकार अरण्य से ज्वाला प्रकट होती है, उसी प्रकार श्रद्धा-बुद्धि के समन्वय से युक्त जीवन में आनन्द की अग्नि स्वतः फूट पड़ेगी। श्रद्धा के शब्दों में :—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह-मिलन-मय नृत्य-निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत
तल्लीन पूर्ण है एक राग
झंकृत है केवल जाग—जाग।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रसाद का आनन्दवाद शैवमत पर स्थित है। कामायिनी के रहस्य सर्ग में आधुनिक रहस्यवाद की बड़ी ही स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

प्रसाद के बाद निराला का रहस्यवादी काव्य आता है। निराला दार्शनिक कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। निराला का दार्शनिक चिन्तन उनकी सभी रचनाओं में द्रष्टव्य है। निराला का सबसे बड़ा विश्वास यह है कि दृष्ट सत्ता के पीछे एक अदृष्ट महान् सत्ता है जिसके प्रति उन्होंने बहुत से प्रार्थनात्मक गीत लिखे हैं। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध 'तुम और मैं' नामक कविता में स्पष्ट व्यक्त हुआ है। यथा :—

तुम आशा के मधुमास
और मैं पिक-कल कूजन तान
तुम मदन पंच शर-हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अंबर में दिग्वसना
तुम चित्रकार घनपटल श्याम
मैं तडित तूलिका रचना।

निराला ने दार्शनिक साधना को आत्मसात् कर उसे विशुद्ध काव्य में अन्तर्लीन किया है। इस प्रकार इनका दार्शनिक तथ्य और काव्य-तत्व प्रायः एक में घुल मिल गया है। जहाँ तक उनके दर्शन का अन्तरंग पक्ष है उन्होंने योग का सहारा लिया है। योगियों ने समस्त सृष्टि को घट के भीतर देखा है, बाहर उसकी खोज करना व्यर्थ है। निराला जी ने इसी सिद्धान्त की व्यंजना इस प्रकार की है —

पास ही रे, हीरे की खान
खोजत कहाँ और नादान।

अव्यक्त में अपने कार्यों का आरोप का चित्रण 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ में पाता सम्मान' में बड़ी रमणीयता से खींचा गया है। कुछ ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जहाँ कवि ने कोरी सैद्धान्तिक शब्दावली अपनाई है।

ऐसे स्थानों पर इन्होंने कविता न लिखकर दर्शन लिखा है। 'पंचवटी-प्रसंग' में राम-लक्ष्मण से सृष्टि के प्रलय और उत्पत्ति का लम्बा आख्यान कोरी दार्शनिकता ही है। फिर भी सर्वत्र ही निराला जी दार्शनिक तत्व और काव्य तत्व का योग करने में सफल रहे हैं। निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी कवि के दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ाविलास का सुन्दर चित्रण किया है—उदाहरण के लिए 'जुही की कली' में इस दृष्टि-कोण का हम पूर्ण विकसित रूप पाते हैं। प्रकृति के प्रति उनका एक दृष्टिकोण और भी है। जब वे प्रकृति में परमात्मतत्व का अनुभव करने लगते हैं तब प्रकृति का अपरोक्ष रूप अधिक निखरने लगता है और एक सुन्दर स्त्री रूप में उसकी कल्पना मूर्ति सामने आती है। यही वास्तव में शुद्ध वेदान्ती दृष्टि कोण है जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष में कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निराला की अद्वैत-दार्शनिकता संसार के जड़बन्धनों के विरोध से प्रेरित हैं। उसी का आधार लेकर ये निरन्तर संघर्ष में हार मानने को बाध्य नहीं होते और न छायावादी नीहार लोक से सहसा प्रगतिवादी अंगार लोक में जाते हैं। इनके रहस्यवादी काव्य में जो थोड़ा अस्पष्टता और भाव क्लिष्टता है वह कवि के दार्शनिक चिन्तन के कारण है।

निराला के बाद पन्त का रहस्यवादी काव्य आता है। पन्त प्रधानतः प्रकृति सौन्दर्य और संगीत के कवि हैं। पन्त जी का दर्शन-शास्त्र का अध्ययन गम्भीर है किन्तु वे जीव और ब्रह्म के पचड़े में बहुत नहीं पड़े हैं। 'वीणा और पल्लव' में हमें उनकी कुछ ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें रहस्यवाद की झलक मिलती है। वे विश्व में एक महान शक्तिशाली मातृत्व की कल्पना करते हैं जो अद्वैतवादियों को ब्रह्म की कल्पना से भिन्न नहीं है। पन्त जी के रहस्यवाद का एक अंग प्राकृत रहस्यवाद भी है। वे प्रकृति के वैभव से बालक की भाँति आश्चर्यचकित हैं और उनके पीछे एक जीवित, जाग्रत, स्पंदित, अतीन्द्रिय सत्ता की कल्पना करते हैं। यथा :—

छवि की चपल अंगुलियों से छू
मेरे हृत्तन्त्री के तार।

कौन आज मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार।

इस विश्व के सायं, प्रात: कवि को अजीब रहस्यमय दिखलाई पड़ते हैं। उसे लगता है जैसे सारा प्राकृतिक वैभव, यह सारा आकर्षण उसी के लिए है। वह कभी प्रकृति को प्रियतम की प्रतीक्षा में मग्न पाता है जैसे :—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से।

गुंजन में पन्त जी की रहस्य भावना गहरी हुई है किन्तु उसमें दार्शनिकता ही अधिक है। यह संसार उसे एक रहस्यमय इच्छा के सूत्र से परिचालित प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काव्य में रहस्यवाद की धारा ने एक नया ही रूप ग्रहण किया। उसमें जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र की जिज्ञासा और अनुभूति ही नहीं है, वरन् उसमें आश्चर्य, आनन्द, रहस्यमयता के अनेक सूत्र फैले हुए हैं जो जीवन, प्रकृति और चेतनता को अनेक प्रकार से जोड़े हुए हैं। पन्त के काव्य में "रहस्यवाद" की भित्ति एक व्यापक आश्चर्य और रहस्य की भावना है जो उनके काव्य में ओत प्रोत है। प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य बालक और छोटे-बड़े जीवों के प्रति एक विशेष आश्चर्य और रहस्य की दृष्टि से कवि ने देखा है। इसी विराट आश्चर्य-रहस्य भावना ने पन्त के काव्य के वर्ण्य विषयों को महत्ता प्रदान की है।

आधुनिक कवियों में रहस्यवाद की सब से अधिक और सबसे पूर्ण व्यंजना महादेवी के काव्य में हुई है। महादेवी के रहस्यवाद का विषय अज्ञात के प्रति रहस्यात्मक आकर्षण और उसकी अप्राप्ति के कारण वेदना का अनुभव है। अपनी स्वकल्पनात्मक अनुभूति के सहारे उन्होंने विरह-मिलन के इस भाव को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने रक्खा है। महादेवी निर्गुण की उपासिका हैं। 'नीरजा' की भूमिका में श्री रायकृष्णदास ने लिखा है "उनकी काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा-परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। कवि की आत्मा मानो इस विश्व से बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति

अपने प्रियतम का अनुसरण करती है। उसकी दृष्टि से, विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त, अलौकिक, चिरसुन्दर की छाया-मात्र है।"

ब्रह्म की सत्ता में आस्था रहस्यवादी होने का प्रथम सोपान है। इस आस्था के उपरांत उसे उस महाशक्ति का आभास व्यापक प्रकृति में कहीं और भी मिल जाता है। कभी-कभी कवि उनकी झलक पाकर अपने जीवन का आत्मसमर्पण उनके चरणों में चढ़ा देता है। यह आस्था बड़ी दृढ़ होती है। महादेवी जी की आस्था इसी दृढ़ मार्ग की है :—

कैसे कहती हो सपना है,
अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में,
मेरे आँसू उनके हास।

महादेवी ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा है। जैसे लौकिक प्रेम में प्रेमी प्रेमिका का रूप चिन्तन करता है वैसे ही महादेवी भी अपने प्रियतम के रूप की कल्पना करती हैं। एकाध स्थल को छोड़कर 'यामा' से लेकर 'दीपशिखा' के अन्त तक महादेवी जी का समस्त गीति-काव्य विरह वर्णन से भरा हुआ है। यथा :—

१—जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग।

२—तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले, उठे स्नेह-घन,
कसक-विद्यु पलकों के हिमकण।

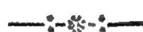
ऐसे समय में जीवन के दुःख-सुख उसे शूल-फूल की तरह एक समान प्रिय हो जाते हैं। अपना दुःख-सुख उसे नया नहीं मालूम पड़ता। यह दुःख सुख, असीम ससीम यह मिलन-वियोग है, यह तो शाश्वत कहानी है। अपने उदात्त क्षणों में विरह के मार्ग में चलती हुई आत्मा को यह दुःख-पथ परिचित जान पड़ता है। यह संकल्पात्मक विरह-मिलन आत्मा का रुदन-हास रहस्यवादी

काव्य की मधुरतम सम्पत्ति है और महादेवी के काव्य में इस सम्पत्ति का महत्व-पूर्ण स्थान है।

डा० रामकुमार वर्मा—को रहस्यवादी कविता का आभास 'चन्द्रकिरण', और चित्ररेखा में मिलता है। असीम और ससीम के सम्बन्ध की कहीं-कहीं बड़ी स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। कहीं कहीं अव्यक्त सत्ता के प्रति विरह के क्रन्दन को इनका वियोगी हृदय कोकिल के स्वर में पाकर उस प्रियतम के पास आने की बात सोचता है। कभी-कभी उसके न आने की वेदना का वर्णन करता है और उसे उपालम्भ देता है। यथा :—

भूलकर भी तुम न आये
आँख के आँसू उमड़ कर,
आँख ही में हैं समाये।

इसी प्रकार कुछ अन्य छायावादी कवियों की कविता में कहीं-कहीं रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।



"प्रगतिवाद"

हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का प्रादुर्भाव एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। जिस प्रकार छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुआ, उसी प्रकार प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकट हुआ। जिस प्रकार छायावादियों ने यह निश्चित विश्वास प्रकट किया कि समस्त बाह्य जगत अंतर्लोक की प्रति-छाया मात्र है उसी प्रकार कट्टर प्रगति वादियों ने भी यह ध्रुवविश्वास प्रकट करना शुरू कर दिया कि मानव का अंतर्जगत् बाह्य जगत की छायामात्र है। प्रगतिवादियों का मूल मंत्र गतिशीलता है। छायावाद की भाँति प्रगतिवाद की वेदना जीवन से दूर भागने और उस पर झाँकने अथवा अज्ञात से अस्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विकलता के रूप में नहीं, वरन् वह दुःखमय जीवन पर आँसू डालने के रूप में है। यह हमें दुःख और अत्याचार का सामना करने के लिए एक शक्ति और स्फूर्ति

देने के लिए है। सड़े हुए सामाजिक विषयों में और अवांछनीय रूढ़ियों में एक उथल-पुथल करने के लिए है। वह हमें शिष्टता के समीप ले जाकर मानव-जीवन के विश्वास को प्रेरणा देता है।

प्रगतिवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। वह एक प्रकार के मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। सौन्दर्य और कला से उसका विरोध नहीं है, किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को और जनता के दैन्य और दारिद्र्य को दूर करना चाहता है, जिसके कारण उनकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उसका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला'। वह कला को जन-साधारण के उपभोग का विषय बनाना चाहता है। वह शोषित पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाना चाहता है, सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है।

किन्तु इधर प्रगतिवाद के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम फैला हुआ है। बहुत से लोगों का मत है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है। जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं है। इसी प्रकार की अन्य भ्रामक शंकाओं का विकास प्रगतिवाद के सम्बन्ध में हुआ है। डा० रामविलास शर्मा ने एक स्थान पर प्रगतिशील साहित्य का मतलब समझाते हुए लिखा है कि—'प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।' आगे शर्माजी कहते हैं कि 'जब यह प्रश्न किया जाता है'—"क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है", तो इसका मतलब शायद यह होता है कि 'साहित्यिक न होने पर भी कभी-कभी कोई कृति विषय-वस्तु के कारण ही प्रगतिशील और इसलिए श्रेष्ठ मानली जाती है।' उदाहरण के लिए बंगाल के अकाल पर लिखी गयीं बहुत सी कविताएँ हैं। किसी विशेष कविता में मार्मिकता नहीं है, फिर भी वह तर्क संगत समाज-हितैषी बात कहती है तो क्या उसे श्रेष्ठ कविता मान लिया जाय? इस प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार आगे 'प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है?' इस समस्या पर विचार करते हुए शर्माजी अपना मत प्रकट करते हैं कि 'हमें ऐसा साहित्य चाहिये जो एक तरफ तो कला की अपेक्षा न करे; रस-सिद्धान्त के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य से मिलना चाहिये, भले ही उसकी परिणित आत्मा की चिन्मयता और अखण्डता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिये। तभी वह अभिनन्दनीय हो सकता है। उसे हम चाहे जिस नाम से उसे पुकारें।'

प्रगतिवाद की परिभाषा तथा परिस्थिति से उसकी काव्य-स्थिति स्पष्ट हो चुकी, अब हम उसके मूल तत्वों का विशलेषण उसके काव्य के आधार पर करेंगे। वर्तमान प्रगतिवादी काव्य की सामान्यतः लक्षित होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

१—**स्वदेश प्रेम और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना:**—यह केवल भारत जैसे पराधीन देश में—अथवा बाह्य आक्रमण होने पर अन्य देशों में भी अधिक सुव्यक्त होती है। समाजवाद की तरह प्रगतिवाद का भी यह अनिवार्य तत्व नहीं है। नए कवि इस ओर पूरा-पूरा ध्यान दे रहे हैं, पर पिछले कांग्रेस आन्दोलनों के समय लिखी गई राष्ट्रीय कविताओं की कोटि की कम रचनाएँ इधर देखने को मिलती हैं। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीयता को पार कर नवीन कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर ध्यान दिया है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य विश्व के दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति ही है। निम्नवर्ग या शोषितवर्ग के जीवन में जो हाहाकार है, व्यथा है, वह सभी देशों में एकसी है। इतनी व्यापक पीड़ा का सृजन करने वाली व्यवस्था भी सभी स्थानों में प्रायः एक प्रकार की ही है।

इस प्रकार प्रगतिवादी कवि के अनुसार सारे विश्व में पूँजीवादी अर्थ नीति से पीड़ित निम्नवर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मजदूरों और दीनजनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। जीवन की वर्तमान असंगतियों का उच्चार रूप के

आदर्शों पर ही लोग श्रेयस्कर समझते हैं, अतः रूस के प्रति अनेक रचनाएं हुई हैं।

२—परिवर्त्तन की पुकार:—समाज और धर्म की बहुत सी बातों में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता युग-चेतना ने स्पष्ट ही प्रकट कर दी है। परन्तु सदा सभी स्थानों में, परिवर्तन की आकांक्षा प्रदर्शित करना केवल फैशन ही है। अतीत की सभी कृतियों और व्यवस्थाओं को ध्वस्त करके आमूल परिवर्तन करने की भावना अस्वाभाविक और साहित्य क्षेत्र में व्यर्थ का प्रलाप ही समझी जायगी। प्राचीन के प्रति विद्रोह करने और 'नवीन' के प्रति लालायित रहने वालों के लिए लेनिन के ये वाक्य द्रष्टव्य हैं:—

"जो कुछ सुन्दर है उसे सुरक्षित रखकर आदर्श रूप में ग्रहण करना चाहिये, चाहे वह पुराना ही क्यों न हो। केवल इसीलिए कि कोई वस्तु पुरानी है, हम क्यों उससे अलग हट जायं और आगे के विकास के लिए उससे सहायता न लें; ऐसे देवता के समान, जिसके सामने आत्म-समर्पण करना ही होगा, हम नवीनता के सम्मुख क्यों घुटने टेकें; केवल इसलिए कि वह नवीन है; यह निरर्थक है बिलकुल निरर्थक। कला के क्षेत्र में वस्तुतः यह पाखंड ही है और पश्चिम में फैले हुए कलागत फैशन को अनजान में माथा टेकना है।"

अतः यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवाद प्राचीन का आमूल परिवर्तन नहीं चाहता वरन् समाज के गलित अंग को अलग करके उसके शरीर को दृढ़ और सुरक्षित बनाना चाहता है।

३—यथार्थवादिता:—प्रगतिवादी कवि जीवन और जगत का निरीक्षण यथार्थवादी दृष्टि से करना आवश्यक समझते हैं। वस्तुस्थिति का यथातथ्य वर्णन करना नवीन कविता की विशेष प्रवृत्ति है। साहित्य का उद्देश्य तो सार्थक तथ्यों का प्रतिपादन और उपयुक्त दृश्यों का चित्रण है। इसलिए वही रचना अपेक्षित साहित्य की वस्तु है जिसका समाज पर स्वस्थ प्रभाव पड़े। वर्तमान जीवन में दुःख, कष्ट, कठोरता और कुरूपता ही अधिक है अतः यथार्थवादी रचना में इनकी अभिव्यक्ति अधिक होगी, यह स्वाभाविक ही है। प्रगतिवादी कवियों के यथार्थवाद की सबसे बड़ी विशेषता उसका पर्य्यवसान सदा आशा में

होता है। चाहे सामाजिक रचनाओं में देखिए चाहे प्राकृतिक, यह आशामयता सर्वत्र दिखाई देगी।

४—सामयिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता :—प्रगतिवादी कवि सामयिक जीवन की विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण करने में विशेष प्रवृत्त हैं। काव्य में सामयिक जीवन की ओर यह झुकाव भी भारतेन्दु और द्विवेदीयुग की ही प्रवृत्ति हो चली थी पर समकालीनता के प्रति इतनी व्यापक जागरूकता पहले नहीं थी। जीवन और काव्य को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने की जो चेष्टा हुई है वह सराहनीय है, पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सामयिक जीवन की व्यंजना, मनुष्य होने के नाते हमारे लिए जितनी उचित और आवश्यक है उतनी ही जीवन के नित्य स्वरूप की अभिव्यक्ति भी। साहित्य में जीवन के सभी अंगों के प्रति समान ममता होती है अतः मनुष्य की सभी कार्य-प्रणालियाँ और व्यवस्थाएँ उसके अन्तर्गत प्रश्रय पाती हैं। अतएव साहित्य में सामयिक परिस्थितियों और व्यवस्थाओं का नवीनकरण अनुभूति के आधार पर होना आवश्यक है।

५—बौद्धिकता और व्यंग का प्रसार :—हिन्दी नाट्य-साहित्य में बुद्धिवाद का समावेश लक्ष्मीनरायन मिश्र ने किया है, परन्तु उनकी और वर्तमान कवियों की विचार प्रणालियाँ भिन्न हैं। कुछ रचनाओं में किसी मत के कतिपय विचारमात्र, किसी में अन्य मतों और मतावलम्बियों का खण्डन और निषेध भी होता है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह बौद्धिकता फालतू है। बौद्धिक दृष्टि के फलस्वरूप जो व्यंग का आविर्भाव हमारे काव्य में हुआ है वह अवश्य ही नवीन रूप को लेकर हुआ है। नवीन काव्य में सामाजिक सुधार की भावना से ही व्यंग-व्यंजित होता है। इस ढंग की रचनाएँ मस्तिष्क से उद्भूत होकर मस्तिष्क पर ही प्रभाव डालती हैं। पंतजी की 'ग्राम्या' में व्यंगवृत्ति के नवीन उत्थान का पूरा परिचय मिलता है। अन्य कवियों ने भी व्यंगात्मक कविताएँ की हैं किन्तु निराला जी के कुकुरमुत्ता में तो इस कला का विषद विस्तार दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनाओं में कथात्मक प्रसगों के रहने से अधिक रोचकता और मार्मिकता आ जाती है।

६—नारी-स्वातंत्र्य की पुकारः—अब तक स्त्री केवल भोग की वस्तु समझी जाती थी परन्तु प्रगतिवाद में उसे सहचरी, माँ, भगिनी आदि सभी रूपों में श्रद्धा और सम्मान की वस्तु माना गया है।

७—संस्कृति और परम्परा का सम्बन्ध—प्रत्येक प्रगतिशील लेखक यह चाहता है कि वर्ग शोषण और मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न का अन्त करके एक नयी संस्कृति का निर्माण किया जाय। मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का निर्माण नहीं होता तो इसका मतलब यह था कि पुरानी संस्कृति के तत्व और रूपों को साहित्यकार अपने में समेटकर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें। अतः यह कहना व्यर्थ है कि मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सामाजिक पृष्ठभूमि में कला के रूप और विषय वस्तु को पहचानना चाहिये।

उपर्युक्त विशेषताएँ तो प्रगतिवाद की विषयगत या भावपक्ष की विशेषताएँ हैं अब हम उसकी कलापक्ष की विशेषताओं का विवेचन करेंगे।

प्रगतिवाद की रचनाएँ जन साधारण के उपभोग की वस्तु हैं अतः वह अत्यन्त सरल हैं। छायावाद की दूरारूढ़ कल्पना और 'दुरूह कलात्मकता' को छोड़कर वर्तमान कलाकार सरलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। किन्तु सरलता साधन ही है साध्य नहीं कि इतिवृत्तात्मकता साहित्य क्षेत्र में स्पृहणीय नहीं है। सरलता लाने का तात्पर्य यह है कि कविता बिल्कुल नीरस और गद्यात्मक हो जाय।

शैली की दृष्टि से विचार करने पर वर्तमान काव्य धारा में तीन प्रणालियाँ मुख्य हैं—**वर्णनात्मक, उद्बोधनात्मक और विचारात्मक**। वर्णनात्मक शैली का प्रगतिवाद के अन्दर विकास हो रहा है। ऐसी रचनाओं में कहीं करुणा, कहीं क्षोभ, कहीं उत्साह और कहीं मार्मिक व्यंग सामूहिक रूप से व्यंजित होता है। उच्चवर्ग की सुख संपदा और दलित वर्ग की विपदा में वैषम्य निरूपित करके विचार की तीव्रता उत्पन्न करना ही नवीन कवियों की वर्णनात्मक रचनाओं का एक ढंग है। उद्बोधनात्मक शैली के अन्तर्गत भावावेश की आकुल व्यंजना और देश के तरुणों एवं श्रमजीवियों को सम्बोधित कर लिखी गई कविताएँ

आती हैं। प्रगतिवादी काव्य के भीतर जनगीतों की परिपाटी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये गीत सहज में समझे और गाए जा सकते हैं, हाँ इनमें यत्रतत्र काव्योचित भावात्मकता अवश्य झलक जाती है। इन गीतों में जोशीली प्रचारात्मक वाक्यावलियाँ सर्वत्र गुम्फित रहती हैं।

डा० रामविलास शर्मा ने प्रगतिवादी रचनाओं की भाषा के लिए कहा है कि "प्रगतिशील कवि के लिए भाषा को सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है। परन्तु भाषा के किसी आदर्श को अमर नहीं कहा जा सकता भावों और विचारों के अनुकूल ही भाषा का रूप होना चाहिए।"

अलंकार कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्र है। उसका काव्योपयुक्त विधान वही होता है जहाँ वह किसी भाव को तीव्र करने में सहायक हो अथवा किसी वस्तु के स्वरूप या उसकी विशेषता का मार्मिक अनुभव कराने में योग दे। परन्तु जब चमत्कार-प्रदर्शन अथवा व्यंजना की कलात्मकता पर कोई ध्यान ही नहीं है तो प्रगतिवादी काव्यधारा में अलंकारों का उल्लेखनीय समावेश ही क्या होता। परन्तु प्रगतिवादी कविता में व्यंगोक्तियों के विधान का अच्छा अवसर है। प्रगतिवादी कवि सामाजिक व्यवस्था का जर्जर रूढ़ियों के व्यंग करने में प्रवृत्त हैं। दूसरी प्रवृत्ति कुछ प्रगतिवादी कवियों में अन्योक्ति की दिखाई देती है। इस प्रकार की रचना में प्रस्तुत वर्णन के स्थान पर उससे मिलता जुलता अप्रस्तुत विधान किया जाता है। परन्तु कल्पना जिन अप्रस्तुत रूपों का विधान करती है उनमें प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु में प्रायः धर्म की समानता रहती है।

प्रगतिवादी कवियों ने छन्द भी चलते हुए अधिक लिए हैं। परन्तु प्रगतिवादी कवियों को यदि सचमुच जन मन का स्पर्श करना हो तो उन्हें 'बँधी हुई लय के भिन्न भिन्न ढाँचों से युक्त निर्दिष्ट छंदों का व्यवहार करना होगा।' पर आजकल हिंदी काव्य-क्षेत्र में मुक्त छन्दों की बाढ़ आ रही है और नए प्रगतिवादी उनका बहुत प्रयोग कर रहे हैं।

सिद्धान्त रूप में कला के क्षेत्र में प्रगतिवादी कवियों का आदर्श यही है कि सरल अभिव्यक्ति प्रणाली के द्वारा जनता के समीप पहुँचा जाय और कला को

दैनिक जीवन के लिए उपयोगी बनाया जाय। बुद्धि और हृदय को साथ लेकर चलने वाले कुछ प्रतिभासम्पन्न नवीन कवि इसका प्रयोग कर रहे हैं, उनका यह प्रयत्न सराहनीय है। पर यह कहना कि सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ अभिव्यक्ति-प्रणाली में आमूल परिवर्तन हो और भाव की जगह बुद्धि तत्व को प्रतिष्ठा हो, पूर्णतः उचित नहीं है। इसीलिए प्रगतिवादियों ने अपने अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरम्भ किया है।

इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य में रस भाव कला, छन्द सभी स्वस्थ जीवन की ओर अग्रसर करने वाले, स्वाभाविक और हृदय पर गहरा प्रभाव डालने वाले होते हैं।

प्रगतिवादी काव्य-धारा का साहित्य

रहस्यवादी ऊहापोहात्मक कविताओं की प्रचुरता के कारण छायावादी काव्य लांछित हुआ। इसके विरोध में प्रगतिवाद की काव्य-धारा का विकास हुआ। छायावाद द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के विरोध में आया और इस प्रकार वह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था। प्रगतिवाद भी छायावाद की सूक्ष्म प्रवृत्ति के विद्रोह में प्रस्फुटित हुआ। छायावाद अधिकतः आध्यात्मिक और साहित्यिक विषयों को लेकर चला था और चारों ओर की यथार्थवादिता से उसने आँखें मोड़ ली थीं। वह अन्तर्मुखी अधिक था और जीवन के बाह्य पथ की अवहेलना करता था। प्रगतिवाद के लिए मनुष्य का बाहरी जीवन ही सब कुछ हो गया और अन्तर्पक्ष (कला, सौन्दर्य, अध्यात्म, आदि) कुछ भी नहीं रह गया। परन्तु प्रगतिवाद के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है, पिछले पृष्ठों में किए हुए विवेचन से इसका पूरा पता चल जाता है। मार्क्सवादी दृष्टि इसके लिए आवश्यक है। संक्षेप में, इस स्थूल भेद के अनुसार प्रगतिवादी कवि अन्य कवियों से अलग हो जाते हैं इसी प्रसंग में इस धारा के कतिपय प्रमुख कवियों की स्थूल विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण आगे देंगे।

सुमित्रानन्दन पंत :—आप हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी-धारा के सूत्रपात करने वालों में हैं। मार्क्सवाद की ओर पंत जी का झुकाव सामूहिक लाभ की दृष्टि से है। आप छायावाद की धारा से इस ओर उन्मुख हुए हैं। संकीर्ण भौतिकता से आप असन्तुष्ट हैं और पदार्थ को ही सब कुछ स्वीकार नहीं करते। पन्त जी के मतानुसार भौतिकता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वास्तविक जगत के कठोर सत्यों से मनुष्य भाग नहीं सकता। अतएव क्षणिक भावुकता दुःखदायी है। परन्तु इसके साथ साथ ही पन्तजी ने साम्यवाद की स्थापना के लिए कोई निश्चित योजना प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया और न वर्ग-संघर्ष आदि का ही उपदेश दिया। यद्यपि युगवाणी की अधिक रचनाएँ सिद्धांत की प्रतिपादक हैं पर आप की अन्य रचनाओं में कवि ने जन-जीवन के हर्ष-विषाद और सुख-दुःख का मार्मिक रूप उपस्थित किया है। 'युगवाणी' एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है। भारतीय साम्यवाद से तात्पर्य यह है कि जिस रूप में साम्यवाद को भारत का मस्तिष्क और हृदय समझ सका है। इसी कारण कवि भारतीय साम्यवादियों की भाँति अहिंसा में विश्वास रखता हुआ भी उन्हीं की तरह यह स्वीकार करता है कि सन्धि-युग में हिंसा अनिवार्य है। श्रम-वर्ग ही लोक-क्रान्ति का अग्रदूत है और उसी पर नवीन सभ्यता आश्रित है। किन्तु युगवाणी की रचनाओं में जो गद्यात्मक शुष्कता आ गई है उसका कारण विचार-प्रतिपादन की प्रधानता है। इसी कारण से इन रचनाओं को गीत-गद्य, कहा गया है। लेकिन पन्त कवि हैं और कविता उनका जन्म-जात अधिकार है। 'युगवाणी' के गद्य में भी कविता की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती है। देखिए :—

हे कुरूप, हे कुत्सित प्राकृत,
हे सुन्दर, हे संस्कृत, सस्मित,
आओ जग जीवन परिणय में,
परिचित से मिल बाँह भरो।

नगेन्द्र के शब्दों में :—"युगवाणी" प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था—ग्राम्य उसका प्रयोग।" प्रगतिवाद का आलम्बन जन-जीवन और भारत के जन-जीवन का केन्द्र ग्राम है। पन्त जी की ग्राम्या में ग्राम को सम्पूर्ण रूप में

देखा गया है। कवि ग्रामों की दैन्य जर्जरित अवस्था देखकर दुःखी होता है। इस प्रकार ग्राम्या में पन्त की कविता एक बार फिर जीवन से जगमग हो उठी है।

युगवाणी और ग्राम्या के आधार पर पन्तजी के प्रगतिवादी दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने कहा था "कविता में सबसे पहले पन्त ने छायावाद से नाता तोड़ा, परन्तु नाता पुराना था, एक बारगी इतनी आसानी से टूट कैसे जाता? पन्तजी से लोगों को शिकायत है कि वह पहले की ही तरह स्वप्न सौन्दर्य पर कविता क्यों नहीं लिखते। मुझे ऐसा लगता है कि वह स्वप्न सौंदर्य से काफी दूर चले जाना चाहते हैं परन्तु वह उन्हें अपनी ओर घसीट लाता है। फिर भी 'ग्राम्या' में उन्होंने एक प्रयत्न किया है। यह प्रयास उस व्यक्ति का है जो स्वभाव से दुनिया की भीड़-भाड़ से दूर रहने वाला था। हिंदी के अन्य कवि तो गाँवों की धूल में ही पले हैं, उनके लिए नए ढंग की कविता एक स्वाभाविक वस्तु हो जाती है। पन्त जी के भीतर अब भी एक संघर्ष है जो समाप्त नहीं हुआ।"

डा० नगेन्द्र के अनुसार उनका यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। उनका कहना है कि 'शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण तो शायद पन्त और नए कवियों में नरेन्द्र ही ने ग्रहण किया है शेष कवि-लेखक तो अंशतः ही प्रगतिशील हैं।' अपनी वर्तमान कृतियों में पन्तजी का दृष्टिकोण फिर बदला। पन्तजी जैसा कि निराला ने कहा है, एक सुकुमार कवि हैं। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पन्त जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। अतएव 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' में पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में निराला "छायावादी कवियों में सब से अधिक प्रगतिशील रहे हैं और अपनी उस प्रगतिशीलता को याद करके ही मानों छायावाद से नाता नहीं तोड़ना चाहते। छायावाद को उन्होंने ही भारतीय अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार दिया था। इसलिए छायावाद उनके लिए रोमांटिक विद्रोह मात्र रहा। यह उनका जीवन-दर्शन था। वह कर्ममय जीवन की ओर ढकेलता है, संघर्ष से बचकर किसी कोने में छिप रहने का बहाना नहीं है।"

नई भाषा शैली का सबसे सुन्दर रूप प्रगतिवादी कवियों में निराला में मिलता है। इन्होंने मुक्त छंद में निम्न वर्ग के दैनिक जीवन के कार्य-कलापों के बड़े ही व्यंजक छोटे-छोटे रेखा चित्रों का सृजन किया है। 'वह तोड़ती पत्थर' 'इलाहाबाद के पथ पर' 'भिक्षुक' आदि इसके उदाहरण हैं।

देखिए भिक्षुक का चित्रः—

वह आता,

दो टूक कलेजे के करता, पछताता, पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुहँ फटी-पुरानी झोली को फैलाता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता, पथ पर आता।

'कुकुरमुत्ता' और 'खजोहरा' हमारे समाज और हमारी अपनी सामाजिक धाराओं पर तीव्र व्यंग हैं। खजोहरा का एक चित्र देखिए :—

कच्चे घर ऊबड़-खाबड़, गन्दे,
गलियारे, बन्द पड़े कुल धंधे,
लोग बैठ लेते हैं जमहाई,
ठंडी-ठंडी चलती है पुरवाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला जी प्रगतिशील कवियों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनमें रूढियों के प्रति क्रान्ति की एक सहज भावना सदा ही रहती है। प्रगतिवादी कविता में छन्दों की स्वतन्त्रता और गद्यात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र मिलती है, निराला की रचनाओं में इसके दर्शन उनकी प्रायः सभी कृतियों में किए जा सकते हैं। शोषित वर्ग का चित्रण करना, समाज की पुरानी और जर्जर रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलता है। साम्राज्यवाद की विभीषिका वर्ग-संघर्ष, दरिद्रता, यांत्रिक जीवन के दुःख, मानववाद इत्यादि प्रगतिवादी सभी विषयों को इन्होंने अपनाया है। और छायावाद से प्रगतिवाद की

ओर आए हैं अतः कुछ छायावादी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं किन्तु इधर आपका दृष्टिकोण प्रगतिशील हो गया है। नयी रचनाओं में 'बेला' और 'नए पत्ते' हैं।

नरेन्द्र शर्मा पहले रोमांटिक कविता करते थे किन्तु अब आप हिन्दी की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों एवं धारणाओं के प्रतीक हैं। 'प्रवासी के गीत' में नरेन्द्र का रोमांटिक रूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसके पश्चात् कई संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें 'मिट्टी और फूल' तथा 'पलाशवन' में कवि की विचार धारा पर प्रगतिवाद की छाप स्पष्ट झलकती है। वह इनमें मानव-जीवन की दैनिक समस्याओं पर विचार करता प्रतीत होता है। मजदूरों के लिए इन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कई 'जनगीत' लिखे हैं जिनमें शैली की दृष्टि से गेयता, प्रवाह और सरलता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इनके विकास की गति पन्त के समान ही है। इनकी प्रगतिवादी रचनाओं में सामयिक परिस्थितियों के प्रति इनकी जागरूकता का पूरा परिचय मिलता है। उनका एक कथा-काव्य 'कामिनी' नाम से प्रकाशित हुआ है जो एक प्रणय गाथा है। सिनेमा जगत में प्रवेश करने के साथ ही शर्मा जी पुनः मधुर पक्ष की ओर उन्मुख हुए हैं।

शिवमंगलसिंह सुमन की कविताओं में शैली की सरलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। भावों के क्षेत्र में सरलता है, दूसरे शब्दों में इनके भाव दुरूह या अन्तर्मन सम्बन्धी न होकर बाह्य जगत के हैं। शोषित, वर्ग का चित्रण बड़ा ही सरल ढंग से किया गया है। अभिव्यक्ति-प्रणाली सरल और सुलझी हुई है। मुहावरों का भी इन्होंने अच्छा प्रयोग किया है। युद्धकाल में लिखे गए इनके सामयिक गीत और इधर की कुछ उत्साहवर्द्धक लम्बी रचनाएँ विशेष प्रशंसित हुई हैं। सुमन जी की सबसे बड़ी विशेषता शक्ति, उत्साह और आशा का बराबर संदेश देने की है। आपकी 'हिल्लोल', 'जीवन के गान' में मानव गौरव को कुछ बड़े-चढ़े रूप में चित्रण किया गया है। देखिए :—

यह हार एक विराम है,
जीवन महा संग्राम है,
तिल तिल मिटूँगा पर,
दया की भीख माँगूगा नहीं।

सुमनजी की 'मास्को अब भी दूर है' आदि रूस सम्बन्धी कविताएँ बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने छायावाद की सूक्ष्मता के विरोध में शरीरी प्रेम और यौवन का संदेश लेकर काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया था। अंचल की 'करील' आदि कृतियों में उनके दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। युग की विचार परम्परा तथा देश समाज की समस्याओं की छाप इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है। दलित-पीड़ित वर्ग का दुःखदर्द, रोष और उत्साह इनके द्वारा बड़ी ओजपूर्ण शब्दावली में व्यक्त हुआ है। इनकी रचनाओं में दीन जनों की दैन्य अवस्था और वर्तमान असंगतियों के नाश के लिए व्याकुलता व्यक्त होती रहती है।

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का संग्रह 'युग की गंगा' के नाम से छपा है। आप अपने ढंग के अकेले ही कवि हैं। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में 'केदारनाथ नयी पीढ़ी के उन लेखकों में से हैं जो शहर की नकली संस्कृति से ऊब गये हैं, दिखावा और बनावट से जिन्हें चिढ़ है और जिनके हृदय में अपने देश की धरती के लिए सच्चा प्यार है। निम्न वर्ग के दैनिक जीवन के जितने भाव व्यंजक रेखाचित्र इन्होंने खींचे हैं उतने अन्य कवि ने नहीं। अधिकतर इनकी रचना के विषय किसान और मजदूरों का ही जीवन होता है। ग्राम निवासियों के निवास स्थान का बड़ा जीता जागता चित्र प्रस्तुत करने में आप बड़े सिद्धहस्त हैं।' देखिए :—

सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर,
महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है।

कभी-कभी उच्च या शासक वर्ग के मनोभावों और कार्यकलापों को भी थोड़े में, व्यंगात्मक ढंग से सामने लाने का आपने प्रयत्न किया है। आपकी कविता में गद्यात्मक प्रवृत्ति बहुत प्रचुर मात्रा में है। साथ ही आपका हृदय सरस भी है, आप प्रकृति के सुन्दर रूप से भी प्रभावित होते हैं। आपकी कविता संघर्ष से पलायन करने वाली निराशापूर्ण नहीं है, वरन् जीवन में आशा, सौन्दर्य और नए जीवन की लालसा पैदा करती है। अन्त में हम डा० रामविलासजी

के शब्दों में कह सकते हैं कि "नयी हिन्दी कविता (प्रगतिवादी कविता) के निर्माण में जो अनेक प्रतिभाशाली कवि लगे हैं, उनमें केदारनाथ अग्रवाल का महत्वपूर्ण स्थान है। वे जनता की भावनाओं और उसकी भाव व्यंजना के प्रकारों को बहुत निकट से पहचानते हैं।"

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की भी इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है। आपकी कविता में देशव्यापी जागरण का स्वर है। आपकी कविता में भारत के प्राचीन गौरव की ममतामयी करुणास्मृति और वर्तमान समय में संस्कृति की पतित अवस्था के प्रति अपार असन्तोष है। आपकी कविताओं के संग्रह, 'हुंकार', 'रसवन्ती', 'रेणुका', 'कुरुक्षेत्र' आदि नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आपने अपनी 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता में वर्तमान सभ्यता का बड़ा भीषण चित्र खींचा है। आपके अनुसार कृषक ही काव्य का विषय होना चाहिये। आपकी कविता में छवि दर्शन तथा उसका यथार्थ अंकन अधिक होने के कारण गीतात्मकता के स्थान पर कथात्मकता अधिक उत्पन्न करता है। आपकी कविता में गद्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं। नोआखाली और बिहार के हत्याकाण्ड के बाद आपने लिखा था :—

नारी नर जलते साथ हाय,
जलते हैं मांस रुधिर अपने।
जलती हैं वर्षों की उमंग,
जलते हैं सदियों के सपने।

किसी समय, बँगाल के अकाल से दिनकर का हृदय आन्दोलित हो उठा था और उस समय की बेबसी और छटपटाहट का चित्रण उन्होंने 'आग की भीख' में बड़ा ही सुन्दर किया है।

इन सबके अतिरिक्त और भी अनेक नवयुवक कवि हैं जिनका अच्छा विकास हो रहा है। इन तरुण कवियों में सबसे महत्वपूर्ण सर्व श्री डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुरसिंह, प्रभाकर माचवे, स्वर्गीय शील, रांगेय राघव और गिरजाकुमार माथुर हैं। इन कवियों के काव्य में कविता के नेतृत्व की जो परम्परा सरहपा के समय से चली आती है;

वह सुरक्षित है। हाल में मुक्ति बोध नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, डा० रामविलास शर्मा और अज्ञेय जी का सम्मिलित संग्रह 'तार सप्तक' नाम से निकलता है। इसमें विविध प्रकार की कविताओं का प्रयोग है। इसके कुछ उदाहरणों में प्रगतिवाद में छायावाद की कला का मिश्रण दिखलाई पड़ता है। अजेय खण्डहर और मेधावी नामक काव्य-कृतियों में श्री रांगेयराघव ने सभ्यता के विलास की कथा वैज्ञानिक और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वर्णित की है। आप प्रगतिशील लेखकों से कुछ बातों में मतभेद भी रखते हैं।

अन्त में हम 'विजय शंकर' मल्ल के शब्दों में कहते हैं:—

"प्रगतिवाद की कतिपय प्रवृत्तियाँ प्रशंसनीय हैं। छायावाद काल के अन्तिम दिनों में हमारे काव्य क्षेत्र में एक ओर व्यक्तिगत निराशा और संकुचित प्रेम का जो वातावरण तैयार हो रहा था उससे निकलकर और हिन्दी की चली आती हुई सामाजिक काव्य धारा के अनुकूल विशेष वातावरण बनाकर प्रगतिवाद ने काव्य में नई आशा का संचार किया है और सामाजिक जीवन की विशृङ्खलताओं की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है।"

कुछ अन्य वाद

दुःखवाद :—पाश्चात्य साहित्य का दुःखवाद बंगला साहित्य में होता हुआ हमारे हिन्दी साहित्य में आ गया। रवीन्द्र की कविताओं पर दुःखवाद की छाप सर्वत्र अङ्कित है। छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक शैली के विद्रोह में प्रतीकात्मक शैली को स्थान दिया गया। द्विवेदी युग की स्थूल भावनाओं के विरुद्ध अन्तर्मन की सूक्ष्म भावनाओं को स्थान मिला। छायावाद में शृंगार की धारा ने एक प्रच्छन्न रूप ग्रहण किया। उसने अशरीरी सौन्दर्य-प्रियता को जन्म दिया जो छायावाद की एक विशेषता थी। सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। सौन्दर्य दर्शन में जिस प्रकार विकास और संकोच होगा वैसे ही प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियां होंगी। छायावाद में सौन्दर्योपासना के साथ-साथ

प्रेम के सूक्ष्म चित्र अंकित किये हैं। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई। इसका एक कारण तो नवीन समाज में बहुरंगी आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ हैं दूसरा कारण उनकी असफलता है छायावाद में वेदना का प्रवाह स्वाभाविक मनोभावों को लेकर है। अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामंजस्यता, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवी दुर्बलताओं के प्रति सम्वेदनशीलता प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता ही दुःखवाद का आधार है।

दुःखवाद के ये अनेक रूप निम्नलिखित हैं:—

१—बीते अतीत के प्रति मोहासक्ति और तज्जन्य दुःख का उदय। उदाहरण के लिए 'आँसू' और 'यमुना के प्रति' में यह भावना देखी जा सकती है।

२—संसार की नश्वरता के कारण मन बड़ा दुखित होता है। पन्तजी की 'परिवर्तन' नामक कविता में यह भावना पूर्ण रूप से मुखरित हुई है।

३—प्रकृति के स्वर्गीय आनन्द के विरुद्ध जग-जीवन की जटिलता का आभास पाकर मन बड़ा दुःखी होता है। पन्त की कविताओं में यत्र-तत्र इस प्रकार की दुःख भावना स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

४—यांत्रिक सभ्यता के विरुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति में दुःख की छाया स्पष्ट परिफलित होती है। प्रसाद की कविताओं में इस भावना का चित्रण मिलता है।

५—सौन्दर्य की खोज और उसकी अस्पष्टता के फलस्वरूप निराशाजन्य अवसाद की भावना का उदय। यह दुःखवाद की भावना पन्तजी की कविताओं में पाई जाती है।

६—अज्ञात और चिरन्तन के प्रति रहस्यात्मक आकर्षण और उसकी अप्राप्ति के कारण वेदना का अनुभव। इस प्रकार की भावना महादेवी की रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

छायावाद के पूर्वार्द्ध के कवियों (प्रसाद, निराला, पन्त) में यह दुख की भावना अस्पष्ट और आध्यात्मिक थी, उत्तरार्द्ध के कवियों की रचनाओं में भी

इसका रूप आध्यात्मिक ही रहा, परन्तु यह भावना स्पष्ट हो गई। इसने एक विशिष्ट 'वाद' का रूप ग्रहण कर लिया। प्रायः सभी छायावादी कवियों में दुःखवाद के दर्शन होते हैं। महादेवी की रचनाएँ तो पूर्णरूपेण दुःखवाद की भावना से भरी हुई हैं।

दुःखवाद के परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य के काव्य क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ चलीं, पलायनवाद की और हालावाद की। इसी दुःखवाद के साथ छायावादी कविता में पलायनवाद आ गया था। यह भी पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है। दुःखवाद को भुलाने के लिए हालावाद भी चला था। दुःख से छुटकारा पाने के लिए दुःख को भुलाने वाली हाला की मस्ती चाही जाती है और कभी-कभी इससे बढ़कर संसार का नाश चाहा जाता है और उसके लिए भयंकर-प्रलयंकर का आह्वान किया जाता है। अथवा 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' की पुकार लगायी जाती है। इस प्रकार संसार ही न रहेगा तो संसार में दुःख कहां से रहेगा।

निराशा से उत्पन्न दुःखवाद की इन मूल प्रवृत्तियों का फल यह हुआ कि कवि में व्यक्तिवाद की प्रधानता होने लगी। इस व्यक्तिवाद के कारण साहित्य में धीरे-धीरे कला का ह्रास हुआ। वर्तमान युग की श्रेष्ठ कवयित्री महादेवी वर्मा की रचनाएँ इसी दुःखवाद से ओत-प्रोत रहती हैं, किन्तु इन रचनाओं का यद्यपि कोई उपयोग नहीं है, साथ ही कला के ह्रास के कारण ये कविताएँ बहुत निम्नकोटि की होती हैं। यहाँ हमारा मन्तव्य दुःखवादी कवियों की आलोचना करना न होकर दुःखवादी धारा के विकास का विवेचन करना है। यद्यपि महादेवी वर्मा इस वाद को जीवित किए हुए हैं तथापि इस वाद के आन्दोलन का मरण हो रहा है और इनका केवल ऐतिहासिक मूल्य है। कला की दृष्टि से ये रचनाएँ जीवन की उपादेयता बढ़ाने वाली न होने के कारण और व्यक्तिवाद की प्रधानता रखने के कारण उच्चकोटि की नहीं हैं। शुक्लजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'काव्य क्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं।' आगे शुक्लजी कहते हैं कि कला या काव्य के क्षेत्र में व्यक्तिवाद की धारणा असंगत है। किन्तु योरुप में साहित्य-सम्बन्धी

आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है, उसी का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है। इस प्रगतिवादी युग में दुःखवाद भी एक मरे हुए आन्दोलन के रूप में रह गया है। हालावाद और पलायनवाद भी काव्य क्षेत्र से दूर हो गये हैं।

हालावाद :—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, हालावाद का जन्म दुःखवाद को भुलाने के लिए हुआ। दुःख से छुटकारा पाने के लिए दुःख को भुलाने वाली हाला की मस्ती चाही जाती है। फारसी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप ही 'हालावाद' का हिन्दी-साहित्य में जन्म हुआ है। फारसी कविताओं से, विशेषकर उमरखैयाम के अनुवादों से, प्रभावित होकर इस युग का सन्तप्त नव-युवक कवि अपने को कुछ कर सकने में अक्षम पाकर अपने भावों की हाला बना उसी में मस्त बना रहना चाहता था। इस विषय की हिन्दी-साहित्य में सबसे पहली कविता 'साकी', श्री मोहनलाल महतो वियोगी ने प्रस्तुत की। उनके कई वर्षों पश्चात् 'नवीन' जी ने इस विषय को उठाया, फिर श्री बच्चन जी तो साक्षात् रिंद रूप में दीख पड़े।

बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में "हालावाद हिन्दी साहित्य में फारसी साहित्य का प्रभाव है। सूफी लोग अपने को शरीयत वालों से भिन्न समझा करते हैं, क्योंकि उनके मत से शरीयत वालों के विचार कुछ संकुचित होते हैं। शरीयत वालों के ढोंग और आडम्बर की अपेक्षा वे रिन्दों (मजहब को न मानने वाले फक्कड़ लोगों) की सहृदयता को अधिक महत्व देते हैं और अपने को भी रिन्द कहना पसन्द करते हैं। वे शराब को आध्यात्मिक मस्ती का संकेत मानते हैं।"

हालावादी साहित्य में फ़ारसी की 'उमरखय्याम की रूबाइयाँ' बहुत प्रसिद्ध हैं। फिटज्जेराल्ड ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया जो बहुत लोकप्रिय हुआ। हिंदी में रूबाइयों को उपस्थित करने वाले पं० सूर्यनाथ तकरू हैं। उनके बाद श्री मैथिलीशरण ने और बच्चन जी ने खय्याम की मधुशाला लिखी। बच्चन जी इस धारा के हिन्दी-साहित्य में प्रमुख कवि हैं। आपके ग्रन्थों में 'मधुशाला' 'उमरखय्याम की मधुशाला', 'मधुकलश', 'मधुबाला', 'निशा-निमन्त्रण', 'एकांत-संगीत', आदि हालावाद की कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। बच्चनजी ने भी

हाला का गुणगान अलंकारिक रुप में ही किया किन्तु 'मधुकलश' और 'मधुशाला' में वास्तविक हाला का स्तुतिपाठ सुनायी पड़ता है। आपने हाला की मस्ती की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। जिसमें तन्मयता के दर्शन होते हैं। इसी कारण आपका काव्य बहुत लोकप्रिय हुआ। काव्य की भावाभिव्यक्ति की मौलिकता तथा प्रभावोत्पादकता ने बच्चन जी को हिन्दी के उत्कृष्ट कवियों की कोटि में ला खड़ा किया है। उनके काव्य में जो भाषा और वेश का सुथरापन, जीवन के प्रत्येक संघात् पर व्यंग, यौवन की उमंग और आवेग, तथा सरल समर्पण है वह हिन्दी में अन्यत्र नहीं देखा गया। प्रारम्भ में वे उमरखय्याम के मार्ग पर चले, पर खय्याम की भाँति उनमें ऐन्द्रीयता नहीं थी। वे अपनी अल्पायु ही में जीवन की मधुशाला में जब अतीन्द्रिय होकर बैठे, और प्राणों के सरल कुतुहल को 'मधुशाला' को समर्पित किया तो वे बिना 'रिन्द' बने किसी आन्तरिक सत्ता के सहारे भाव-मूर्ति में से गुजर कर जैसे गये थे वैसे ही बाहर आ गए। बच्चन ने स्वतन्त्र प्रेम की भी कविताएँ की हैं किंतु वे प्रेम और हाला की मादकता में संसार की वास्तविकता को नहीं भुलाते हैं। आजकल बच्चन का दृष्टिकोण बहुत बदल गया है। और वे निराशावादी दृष्टिकोण को छोड़कर आशावादी हो गए हैं। 'संतरंगिनि' आदि उनके नवीन कविता संग्रह हैं जिनमें उनके परिवर्तित दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

अन्य वादों की भाँति हालावाद का हिन्दी साहित्य में अधिक विकास नहीं हुआ। उसका केवल ऐतिहासिक महत्व है, साहित्यिकता की दृष्टि से वह बहुत कम महत्व रखता है। हालावाद भी अब साहित्य के क्षेत्र से प्रायः पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है। बच्चन जी के इस क्षेत्र से हटने के साथ ही यह वाद हिन्दी साहित्य क्षेत्र से लुप्त हो गया।

पलायनवाद—दुःखवाद के साथ छायावादी कविता में पलायनवाद आ गया था। जीवन की आकांक्षाओं और उनकी असफलताओं के कारण कवि इस दुनिया से पलायन करने की सोचते हैं। यह पलायनवाद भी पाश्चात्य साहित्य से बंगला साहित्य में होता हुआ हिन्दी-साहित्य में प्रवेश कर गया। किन्तु अब पलायनवाद भी अन्य छोटे-छोटे वादों के समान हिन्दी-साहित्य से दूर हो गया है। इस वाद के अनुसार कवि-गण एक अलग लोक की कल्पना करते थे

ओर इस लोक को भूलने का प्रयत्न करते थे तथा उसी कल्पना में लोग विचरण करते थे। प्रसाद जी की कविताओं में इस प्रवृत्ति के कहीं-कहीं दर्शन होते हैं :—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

इसी प्रकार कुछ अन्य वादों का हिन्दी-साहित्य में जन्म हुआ किन्तु वे कुछ समय तक चलकर लुप्त हो गए।

आधुनिक हिन्दी–काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

अधुनिक हिन्दी काव्य को यद्यपि विभिन्न धाराएँ बही हैं तथापि उन सबों में कुछ ऐसी समान प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं, जिनके कारण उन सब को एक ही काल के अन्तर्भूत किया जा सकता है। इन विभिन्न धाराओं में भेद केवल प्रति क्रियामूलक है, नहीं तो सब धाराओं का आचार एक ही है जब कभी कोई विशेष राजनैतिक अथवा सामाजिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई तभी उससे प्रभावित काव्य की एक पृथक धारा का प्रवर्त्तन हो गया। किन्तु यह पृथकता केवल बाह्य रूप में दृष्टिगोचर होती है तथा विभिन्न धाराओं में कुछ ऐसी समानताएँ हैं कि पार्थक्य की भावना बिल्कुल नष्ट सी हो जाती है। अब हमें यह देखना चाहिए कि आधुनिक काव्य में ऐसी कौन सी समान बातें हैं जो सब वादों और धाराओं में उपलब्ध होती हैं।

आधुनिक काव्य में समान रूप से पाई जाने वाली सब से बड़ी बात सामाजिक चेतना सम्बन्धी है। आधुनिक काल के विभिन्न कालों और वादों के प्रायः सभी कवियों का ध्यान समाज-सुधार की ओर आकर्शित हुआ है। भारतेन्दु

युग के कवियों की सामाजिक चेतना का स्वरूप समाज के अन्धविश्वास तथा कुरीतियों की आलोचना में लक्षित होता है। वे समाज की आलोचना द्वारा समाज-सुधार करना चाहते थे। राधाचरण गोस्वामी तत्कालीन हिन्दू समाज की आलोचना निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं:—

यज्ञ-याग सब भेट पेट भरने में चातुर,
पितर पिंड नहिं देत यवन-सेवा में आतुर।
पढ़े जनम तें फारसी छोड़ वेदमारग दियो,
हा हा हा विधि वामने सर्वनास भारत कियो।

भारतेन्दु-युग के बाद द्वितीय उत्थान काल के कवियों में समाज की आलोचना के साथ समाज द्वारा सताए हुए प्राणियों के प्रति सहानुभूति भी मिलती है। विधवा, अछूत आदि कवियों की सहानुभूति के पात्र बन गए। द्विवेदी युग के कवि जहाँ सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन करते हुए मिलते हैं वहाँ समाज के दलित वर्ग की दशा पर खेद प्रकट करते हुए एक ओर से 'हरिऔध' जी तिलक चन्दन आदि की आलोचना करते हुए कहते हैं:—

लोग उतना ही बढ़ाते हैं तुम्हें,
रंग जितने ही बुरे हों चढ़ गए।
पर तिलक इस बात को सोचो तुम्हीं,
इस तरह तुम घटगए या बढ़गए।
इस तरह के हैं कई टीके बने,
जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मन के रोग का टीका बना,
तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा॥

दूसरी ओर श्रीधर पाठक देश के सामाजित अधःपतन का कारण विधवाओं का शाप बताते हैं।

बाल-विधवा-श्राप-बस यह भूमि पातक-मई।
होत दुःख अपार सज्जनो निरखि जग निठुरई।

द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि श्रीयुत मैथलीशरणजी गुप्त ने स्त्री शिक्षा और अछूतोद्धार का भरपूर समर्थन किया। सामाजिक उन्नति में इनकी रचनाओं ने विशेष योग दिया। इसके अतिरिक्त गुप्तजी ने समाज के सभी अंगों पर कुछ न कुछ प्रकाश डला है। प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति की भूमिका पर कवि आधुनिक सामाजिक अधोगति का चित्र खींचता है और इस प्रकार जनता को सामाजिक उद्धार के लिए उत्तेजित करता है। हिन्दू समाज में अग्रगण्य ब्राह्मणों से अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए गुप्तजी प्रार्थना करते हैं। ऐसा न करने से आधुनिक अवनति का सारा दोष उन्हीं पर होगा। प्राचीन सुखमय स्वप्न ही रहेगा और अच्छे दिन न आयेंगे:—

तुम होकर भी कुशपाणि विश्व के शासक थे।
बलविक्रम बुद्धि विकास त्रास दुखनाशक थे।
करते थे प्रकट प्रभाव नित्य तुम नए नए।
बोलो तो वे अब कर्म तुम्हारे कहाँ गए॥

छायावादी युग में सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती। कल्पना की तीव्रता तथा वास्तविक जीवन की दशाओं से अनभिज्ञ होने के कारण उनकी सामाजिक चेतना गौण रूप में ही प्रकट हो पाई है। प्रगतिवादियों का तो आधार ही समाजवाद है। उनकी कविताएँ आद्योपान्त सामाजिक चेतना से भरी हुई मिलती है।

आधुनिक काव्य की दूसरी समान भावना देश-भक्ति की ओर प्रवृत्ति है। भारतेन्दु युग में, विशेषकर भारतेन्दु जी की रचनाओं में, देशभक्ति की भावना चरम विकास पर पहुँच गई है। भारतेन्दु-युग की देशभक्ति की अधिकांश रचनाओं में भारत के अतीत गौरव के संकेत मिलते हैं। भारतेन्दु-युग के सभी प्रमुख कवि भारत की अतीत कालीन भव्यता की ओर संकेत करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र देश की सांप्रतिक दीन अवस्था पर आँसू बहाते सामने आते हैं। कृष्ण, अर्जुन, राम और बुद्ध के देश में आज अज्ञान और कलह का राज्य है-

जहँ भए शाक्य हरिचन्दरु नहुप ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।

जहँ भीम करन अर्जुन की घटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या-राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत - दुर्दशा न देखी जाई ॥

इस देश भक्ति का प्राधान द्विवेदी-युग में भी मिलता है। इस समय की बहुत सी रचनाओं में मातृभूमि के प्रति स्वाभाविक प्रेम मिलता है। इस प्रकार के कवियों में श्रीधर पाठक प्रधान हैं। इनका 'भारतगीत' वास्तव में भारत के सौन्दर्य का गीत है। कवि मातृभूमि को शोभा का वर्णन इस प्रकार करता है:—

बन्दहु मातृ भारत धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तप मय तरनि।
सरित बन कृषि भरित युवछवि सरस कवि-मनहरनि ॥

श्री मैथिलीशरण गुप्त का काव्य तो देश-भक्ति से ओत प्रोत है। इनकी देश-भक्ति की पूरी अभिव्यक्ति 'भारत-भारती' में हुई है। गुप्त जी संसार द्वारा सम्मानित प्राचीन भारत की श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं :—

जगत ने जिसके पद छुए, सकल देश ऋणी जिसके हुए।
ललित लाभ कला सब थी जहाँ वह हरे ! अब भारत है कहाँ ॥

छायावादी काव्य में भी देश भक्ति के दर्शन होते हैं। प्रसाद जी का 'अरुण वह मधुमय देश हमारा' गीत इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। प्रगतिवादी कवियों ने भी देशभक्ति की महत्ता स्वीकार की है। उदाहरण के लिए हम 'दिनकर' जी की 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता को उपस्थित कर सकते हैं।

आधुनिक काव्य की तीसरी समान प्रवृत्ति वास्तविकता का महत्व है। आज का समग्र जीवन आधुनिक कविता का कार्यक्षेत्र बन गया है। आधुनिक कवि के लिए कोई भी विषय भद्दा या काव्य के अनुपयुक्त नहीं है। सामान्य मानव, विधवा, किसान, मजदूर, भिखारी के सुख-दुख से उसका अबाध सम्बन्ध है। एक मध्य-सामाजिक जीवन के प्रति कवि की प्रजातन्त्रात्मक उत्सुकता केवल दिखावा नहीं है। अधिकांश कवि इतने सम्पन्न नहीं हैं कि वे कभी-कभी गरीबों का जीवन देखने जाते हों और फिर फैशन के रूप में उसका वर्णन करते हों।

सम्पूर्ण जीवन को उसकी सुन्दरता और कुरूपता के सहित—स्वीकार कर कवि निर्भय होकर सच्चाई के साथ उसकी अभिव्यक्ति कर रहे हैं। कविता में कुरूपता का कारण यह है कि आज का कवि सच्चा है और वह जीवन की कुरूपता पर परदा नहीं डालना चाहता यही वास्तविकता समस्त आधुनिक काव्य-साहित्य का प्राण है। भारतेन्दु युग से लेकर आजतक की कविता में इस वास्तविकता के तत्व के दर्शन किसी न किसी रूप में हो जाते हैं।

आधुनिक काव्य की चौथी समान प्रवृत्ति मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। आधुनिक काल की कविता को वास्तविकता कठोर रूप में ग्रहण करने के कारण देवत्व के सिंहासन से उतर कर मानव जीवन से ही अधिक सम्बन्धित हो गई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग से ही लोकोत्तरत्व की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। यह प्रवृत्ति द्विवेदी युग में तो अत्यन्त प्रबल हो उठी। 'साकेत' में तो यह प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस ग्रन्थ में राम का देवत्व तिरोहित हो गया है तथा वे एक आदर्श मानव के रूप में ही आते हैं। वे संसार में देवताओं के हित के लिए नहीं आए वरन् कि संसार में मानवता के प्रसार के लिए :—

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

आज कल के कवि अपने काव्य को मानवीय कहने में गर्व रखते हैं। आज-कल जहाँ देखिए वहाँ मानववाद का बोल-बाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक चेतना, देशभक्ति, मानवतावाद और वास्तविकता की चार विशेषताएँ सम्पूर्ण आधुनिक काव्य में समान रूप से पाई जाती हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर हम आधुनिक काल की विभिन्न काव्य धाराओं को एक ही काल के अन्तर्भूत कर सकते हैं।

———

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता

यों तो हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता कुछ पहले से भी चली आ रही थी, किंतु आधुनिक काव्य में जो राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ वह अत्यंत महत्व-पूर्ण है। कुछ आलोचकों का मत है कि हिन्दी में सर्वप्रथम राष्ट्रीय कवि भूषण थे, परन्तु उनकी राष्ट्रीयता एकांगी थी। वे तत्कालीन परिस्थितियों के कारण अपनी राष्ट्रीयता में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना का परिचय दे सके। आधु-निक काल से पूर्व राजस्थानी कवि बांकींदास (सं० १८२८-१८६०) ने सर्व-प्रथम शुद्ध राष्ट्रीयता की तान छेड़ी थी:—

आयो इँगरेज मुलक रे ऊपर... ....

राखो रे किहिंक रजपूती, मरदां हिन्दू की मुसलमाण।

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का जन्म भारतेन्दु जी के साथ ही होता है। श्रीधर पाठक, सत्यनरायण कविरत्न, मैथलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी 'चौहान' प्रभृति भारतेन्दु जी के बाद के प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं। भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में राष्ट्रीयता का पर्याप्त पुट दिया है। यद्यपि उनके नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की झलक मिलती है। तथापि उनमें राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ है। उनकी कविता में भारतवर्ष की दुर्दशा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है अपने दोषों को निर्भयतापूर्वक स्वीकार किया है 'जगत में घर की फूट बुरी, फूटहिं सो जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम।' अंग्रेजी राज्य की बुराई करते हुए भी उन्होंने विदेश को धन जाने तथा टैक्स की बुराई की है:—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चल जात यहै अति ख्वारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

भारतेन्दु-युग के सभी प्रमुख कवि भारतेन्दु-युग की अतीत कालीन की भव्यता की ओर संकेत करते हैं। प्रेमघन जी भी देश की अतीत और वर्तमान अवस्था के वैषम्य पर क्षुब्ध हैं। कहाँ तो प्राचीन काल का शक्तिशाली भारत

जिसकी ओर कोई दृष्टि तक उठाकर देखने का साहस नहीं करता था, और कहाँ आधुनिक काल का निर्बल तथा पददलित देश जिस पर सभी अत्याचार कर रहे हैं:—

रही सकल जग व्यापी भारतराज बड़ाई;
कौन विदेशी राज न जो या हित ललचाई।
रह्यो न तब तिनमें इहि ओर लखन को साहस;
आय राजराजेसुर दिग्विजयिन के भय-बस।
पै लखि वीर विहीन भूमि भारत की आरत;
सबै सुलभ समुभयो या कहँ आतुर असि धारत।

भारतेन्दु-युग के अन्य राष्ट्रीय कवियों में राधाकृष्णदास तथा अम्बिकादत्त व्यास प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग में तो राष्ट्रीयता अपने चरम विकास की अवस्था तक पहुँच गई। द्विवेदी-युग की बहुत सी रचनाओं में मातृभूमि के प्रति स्वाभाविक प्रेम मिलता है। मातृ-भूमि के सौन्दर्य ने सभी काल और देश के कवियों को प्रेरणा प्रदान की है। भारत देश का भी अपना सौन्दर्य है। इस युग के अनेक कवि देश के सौन्दर्य-गान में मग्न हैं।

मातृभूमि का सौन्दर्य-दर्शन श्रीधर पाठक की कविता में पूर्ण रूपेण मिलता है। पाठक जी भारतवर्ष की प्राकृतिक शोभा का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं :—

वंदहु मातृ भारति-धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तपमय तरनि।
सरित वन कृषि भरित युवछवि सरस कवि-मनहरनि।

भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा में तल्लीन होने वाले द्विवेदीकालीन कवियों में रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि प्रसिद्ध हैं। द्विवेदी-युग में राष्ट्रीयता की पूर्ण प्रतिष्ठा मैथिलीशरण गुप्त की कविता में हुई। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में "राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छेड़ी थी उसका स्वर गुप्तजी में बहुत ऊँचा हो जाता है।"

गुप्तजी का 'अनघ' गांधीवादी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत है। गुप्तजी संसार द्वारा सम्मानित प्राचीन भारत को श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं :—

जगत ने जिसके पद छुए।
सकल देश ऋणी जिसके हुए।
ललित लाभ कला सब था जहाँ।
वह हरे! अब भारत है कहाँ।

'भारत-भारती' में गुप्त जी का प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम स्पष्ट परिलक्षित होता है। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि के नाते गुप्त जी ने जनता की मौन भावना को वाणी दी। इनकी यह विशेषता इस पुस्तक में भी दिखाई देती है। इतिवृत्तात्मक होते हुए भी 'भारत-भारती' राष्ट्रीय भावना के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

द्विवेदी युग के दूसरे प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा" हैं। श्री कन्हैयालाल सहल के शब्दों में 'राष्ट्रीय कवियों में श्री माखनलालजी चतुर्वेदी का नाम अन्यतम है। 'एक भारतीय आत्मा' के नाम को वे सर्वथा सार्थक करते हैं राष्ट्रीयता के स्वस्थ वातावरण में ही वे साँस लेते रहे हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' आपकी केवल सर्वप्रिय रचना ही नहीं है, उसी में आपकी कविता का मूलमन्त्र भी छिपा हुआ है। बलिदान की भावना ही इनकी सर्वप्रिय भावना है। इनके 'मरण-त्यौहार' की कल्पना तो बड़ी ही रोचक है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य ही मरण-महोत्सव के भव्य चित्र देखे जाते हैं। देश और धर्म की रक्षा के लिए पुत्र का धारा-तीर्थ में स्नान करना और सती का चितारोहण राजस्थान में परम कर्तव्य समझा जाता है। 'भारतीय आत्मा' के लिए बलिशाला ही मधुशाला है। उदात्त आदर्शों की रक्षा के लिए कवि बलिदान की भावना को लेकर मृत्यु का जय-जयकार कर रहा हो, जो केवल स्वप्न-लोक में ही नहीं, किन्तु वास्तविक जगत में भी राष्ट्रीय पथ का सच्चा पथिक रह चुका हो, और जेलों में ही जिसके रवि उदय और अस्त हुए हों, उस कवि के काव्य की ओजस्विता और मार्मिकता का तो भला कहना ही

क्या ? दिनकर ने इस कवि को शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी कहा है। कवि की बहुत सी पंक्तियाँ रह-रह कर याद आती हैं:—

तुम बढ़ने हो चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले।
काठ खोदने चले सहस दल की नव पंखड़ियाँ भूले॥

कवि ने अपने लिए सच ही कहा है:—

सूलों का पथ ही सीखा हूँ,
सुविधा सदा बचाता आया।
मैं बलि-पथ का अंगारा हूँ,
जीवन ज्वाल जगाता आया॥

चतुर्वेदी जी के बाद सुभद्राकुमारी चौहान का राष्ट्रीय कवियों में नाम आता है। आपने अधिकतर राष्ट्रीय कविताओं की सृष्टि की है। आपकी देशभक्ति की रचनाएँ बड़ी प्रभाव डालने वाली हैं। आपकी राष्ट्रीय कविताओं में 'झाँसी की रानी' बहुत लोकप्रिय हुई है आपकी कविता में आत्मविश्वास और राष्ट्रीयता के उद्देश्य के साफल्य का दृढ़ निश्चय स्पष्ट झलकता है :—

है इतना उत्साह कि डर है हम उन्मत्त न बन जावें।
है इतना विश्वास कि भय है हम गर्विष्ठ न कहलावें।
इतना बल है प्रबल कहीं हम अत्याचार न कर डालें।
यही सोच संकोच यही मर्यादा पार न कर डालें।

रामधारीसिंह 'दिनकर' हिन्दी साहित्य के राष्ट्रीय कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपकी कविता पर राष्ट्रीयता की गहरी छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'हुंकार' नामक कविता में आपकी ओजस्वी कविताएँ संगृहीत हैं। 'दिनकर' जी प्रगतिवाद के श्रेष्ठ कवि हैं। आपने अत्याचारी के विरुद्ध विद्रोह करना धर्म-संगत बताया है। भारत की दुर्दशा का कारण आप उसकी गुलामी की अवस्था को बताते हैं, इसी कारण से आप अतीत के भारत का स्मरण करते हैं, जब देश स्वतन्त्र और समृद्धिशाली था। आपकी हिमालय

के प्रति कविता इस दृष्टि से बड़ी ओजस्वी रचना है। आपकी ओजस्वी ललकार निम्नलिखित पंक्तियों में सुनी जा सकती है :—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा।
स्वयं युग-धर्म की हुँकार हूँ मैं।

× ×

पुरोधा कवि कोई है यहाँ
देश को दे ज्वाला के तीर। आदि।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का स्थान भी राष्ट्रीय कवियों में महत्वपूर्ण है। आपके 'पराजय गीत' में देश की तत्कालीन परिस्थिति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में देखिये क्या सुन्दर ढंग से तत्कालीन भावना की व्यंजना हुई :—

आज खड्ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ।
विजय-पताका झुकी हुई है लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।
वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर कालिख, क्या वेश बना।
आँखे सकुच रहीं, कायरता के पंकिल में देश सना।

आजकल के नवयुवक राष्ट्रीय कवियों में श्री नरेन्द्र शर्मा का स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी 'प्रभात की फेरी' नामक राष्ट्रीय गानों का एक संग्रह निकला है। अन्य राष्ट्रीय कवियों में सोहनलाल द्विवेदी, शिवमंगलसिंह सुमन, रामेश्वर शुक्ल अंचल प्रभृति हैं। छायावादी पन्त की कविता में इधर कुछ दिनों से राष्ट्रीय भावना का उदय हो रहा है।

—:-※-:—

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का विकास आधुनिक युग की देन है। वैसे तो मनुष्य नित्य के व्यवहार में गद्य का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। पर प्रत्येक जाति के साहित्य में गद्य के पूर्व पद्य का ही विकास पाया जाता है। हिन्दी साहित्य का

आरम्भ ईसा की ११ वीं शताब्दी से माना जाता है। जिसकी प्रायः सभी प्रारम्भिक रचनाएँ पद्य-रूप में प्राप्त हैं जो रासो के नाम से विख्यात हैं। हिन्दी में गद्य का जन्म और विकास बहुत समय बाद हुआ है। यह एक प्रकार से आधुनिक युग की देन है।

यद्यपि प्राचीन काल में भी कुछ गद्य का नमूना यत्र-तत्र बिखरा हुआ देखने को मिलता है, तथापि उस समय पद्य की ही प्रधानता रही। सब से प्राचीन गद्य का नमूना गोरखनाथ के हठ योग, ब्रह्म ज्ञान आदि धार्मिक विषयों पर लिखे गये ग्रन्थों में मिलता है। गोरखनाथ का गद्य ब्रजभाषा का गद्य है, जिसका नमूना नीचे के उदाहरण में देखा जा सकता है :—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप—शरीर जिन्हि को जिन्हि के नित्य गाए ते शरीर चेतन्नि अरुआनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गौरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दर-नाथ।" गोरखनाथ के ग्रन्थों का निर्माण काल सम्वत् १४०७ के आस पास है। यह ब्रजभाषा गद्य का प्राचीन रूप है।

इसके बाद हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति शाखा के भीतर गद्य ग्रन्थ मिलते हैं श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने 'श्रृंगार रस मण्डन' नामक एक ग्रन्थ ब्रजभाषा गद्य में लिखा। विक्रम की १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" नामक दो साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखे गये जिनकी भाषा सुव्यवस्थित और चलती हुई है। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" तो और भी पीछे औरंगजेब के समय लगभग लिखी प्रतीत होती है। ये कथाएँ साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से नहीं लिखी गई हैं। इनका सृजन तो वल्लभ-मत का प्रचार करने के लिए हुआ है। नाभादास जी ने भी संवत् १६६० के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा गद्य में लिखी जिसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। ब्रजभाषा गद्य में एक अज्ञातनामा लेखक का लिखा हुआ 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है। यह अनुमानतः १७६० के उपरांत ही लिखा गया है। संवत् १७६७ में सूरत मिश्र द्वारा संस्कृत से कथा लेकर लिखा हुआ 'बैताल पच्चीसी' नामक

गद्य ग्रन्थ मिला है जिसका आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिन्दुस्तानी में अनुवाद किया। लाला हीरालाल ने 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' नामक एक बड़ी पुस्तक का सं० १८५२ में सृजन किया। इसी प्रकार की ब्रजभाषा गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं, जिससे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। केवल काव्यों की टीकाओं के रूप में वह यत्र-तत्र दिखाई देने लगा।

ब्रजभाषा—गद्य का विवेचन करने के पश्चात् अब खड़ी बोली-गद्य के विकास पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। अकबर के समय में गंग कवि ने "चन्द-छन्द बरनन की महिमा" नामक एक पुस्तक खड़ी बोली के गद्य में लिखी। इसके पश्चात् सं० १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा-योग-वशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। इसके बाद पं० दौलतराम ने 'पद्म पुराण' का अनुवाद खड़ी बोली में किया। किन्तु इसकी भाषा उतनी परिमार्जित नहीं है जितनी "योग-वशिष्ठ" की है। अतः हम 'योग-वशिष्ठ' को परिमार्जित खड़ी बोली गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी जी को खड़ी-बोली गद्य का प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं। इसके उपरान्त करीब दो सौ वर्ष तक खड़ी बोली का गद्य क्षेत्र सूना पड़ा रहा।

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा करने वालों में चार लेखकों का नाम महत्वपूर्ण है—प्रतिष्ठा करने वाले चार सज्जन ये हैं—

(१) मुंशी सदासुखलाल
(२) इंशाअल्ला खाँ
(३) लल्लूलाल
(४) सदल मिश्र

ये चारों लेखक संवत् १८६० के आसपास हुए हैं।

१—मुंशी सदासुखलाल ने श्री मद्भागवत का अनुवाद 'सुखसागर' नाम से खड़ी बोली में किया। उन्होंने भाषा का रूप संस्कृत-मिश्रित रखा जिनमें पंडिताऊपन भी था। अपने समय में उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर पूर्वी प्रान्तों में प्रचलित पाई उसी में रचना की।

२—इंशाअल्ला खाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे। इन्होंने "उदयभान-चरित" या "रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और १८६० के बीच लिखी होगी। उन्होंने चटकीली, मटकीली और मुहावरेदार भाषा में बड़े अच्छे ढंग से कहानी कही है। उन्होंने अपनी भाषा को अरबी-फारसी तथा ब्रजभाषा और अवधी से सुरक्षित रखने का प्रण किया, जिसका वे बहुत कुछ निर्वाह करने में सफल रहे। हाँ कहीं-कहीं उसका वाक्य विन्यास अवश्य फारसी का सा हो गया है। गद्य के प्रारम्भिक काल के लेखक होने के कारण उनकी भाषा में पद्य के समान सानुप्रास विरामों की भरमार है।

३, ४—लल्लूलाल और सदल मिश्र ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में अंग्रेज अध्यापक जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से क्रमशः 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। प्रेमसागर की भाषा में ब्रजभाषा का पुट और पंडिताऊपन बहुत पाया जाता है। उसमें फारसी और अरबी के शब्द को बहुत बचाया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं ऐसे शब्द पाये जाते हैं। 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में ब्रजभाषा की झलक के साथ पूर्वी भाषा का पुट अधिक है। उसमें व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया गया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर फिर भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा के और पूर्वी बोली के शब्द मिलते हैं।

खड़ी बोली गद्य के प्रवर्त्तक इन चार लेखकों में से किसी की भाषा को साफ सुथरी नहीं पाते। किसी में पंडिताऊपन है तो किसी में फ़ारसीपन। तब भी आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। इन दो में भी मुंशी सदासुखलाल की साधु भाषा अधिक महत्व की है। उनका समय के अनुसार और भाषा की दृष्टि से भी चारों गद्य प्रवर्त्तकों में विशेष स्थान है। इन लेखकों के पश्चात् संवत् १९१५ तक हिन्दी गद्य क्षेत्रः पुनः सूना सा हो गया। ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा गद्य का प्रसार और विकास कुछ न कुछ होता रहा। अपने धर्म का प्रचार करने के निमित्त ईसाई पादरियों ने बाइबिल का अनुवाद शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी में करवाया। शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें पहले पहल तैयार करने का गौरव भी उन्हीं को है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचार का प्रभाव हिन्दू जनसंख्या पर पड़

रहा था। अतः स्वधर्म रक्षा की आकुलता हिन्दुओं के शिक्षित वर्ग में दिखाई पड़ी। ब्रह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने वेदान्त सूत्रों के भाष्य का हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित कराया था।

जब चार्ल्स वुड ने संवत् १९११ में गाँवों और कस्बों में शिक्षा प्रचार के लिए देशी-स्कूल खोलने की योजना बनाई, तब यह प्रश्न उठा कि उनके शिक्षा के माध्यम के लिए हिन्दी अपनाई जाय या उर्दू? उसी समय राजा शिवप्रसाद सं० १९१३ में शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्न से हिन्दी को शिक्षा-विधान में स्थान मिला। राजा साहब ने हिन्दी की रक्षा के लिए यह आवश्यक समझा कि उसका 'आम-फहम' तथा 'खास-पसंद' रूप रक्खा जाय जिसमें अरबी फारसी के चलते शब्दों को भी अपनाया जाय। मुसलमान और उर्दू पढ़े हुए लोग हिन्दी को मुश्किल जबान कह कर उसका विरोध करते थे। अतः राजा साहब ने यह युक्ति सोची और स्वयं इसे कार्य रूप में परिणित भी किया, तथा ऐसी भाषा के उदाहरण रूप में उन्होंने 'इतिहास तिमिर नाशक' नामक ग्रन्थ की रचना की। 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह वृतान्त' आदि कोर्स की पुस्तक तैयार करके उन्होंने खड़ी बोली के प्रचार में योग प्रदान किया।

खड़ी बोली-गद्य के विकास में राजा लक्ष्मणसिंह ने महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने गद्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर राजा शिवप्रसाद के विरुद्ध आवाज उठायी। वे विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। संवत् १९१९ में जब राजा-लक्ष्मणसिंह ने 'शकुंतला नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देखकर वे स्वयं बहुत प्रसन्न हुए। खड़ी-बोली-गद्य का विशुद्ध रूप 'शकुन्तला नाटक' में देखने को मिलता है।

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी गद्य के विकास में सहयोग दिया। उन्होंने अपने मत के प्रचार की एकमात्र पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना खड़ी बोली हिन्दी गद्य में की। वे अपने उपदेश भी खड़ी बोली गद्य में ही दिया करते थे।

इसके पश्चात् भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली गद्य के विकास में पूर्ण सहयोग दिया। उनकी भाषा शैली का प्रभाव थोड़े-बहुत रूप में उनके

समकालीन लेखकों पर भी पड़ा। भारतेन्दु जी से पूर्व का गद्य जैसा कि हम कह आए हैं, बहुत अव्यवस्थित था। अधिकांश गद्य में प्रांतीयता की प्रधानता थी। लेखक जिस प्रान्त का होता उसकी बोली से अपने गद्य को भर लेता था। इंशा, लल्लू लाल और सदल मिश्र की भाषा देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु के पूर्ववर्ती गद्य लेखकों की शैली पंडिताऊपन और संस्कृत अन्वय की शैली का आभास लिए हुए है। इन दो महत्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि उस समय पद्य की प्रधानता के कारण लेखक गद्य लिखते समय पद्य की ओर झुक जाते थे। राजा शिवप्रसाद ने इन दोषों को दूर करने का भरसक यत्न किया किन्तु वे असफल रहे। उनकी शैली में भी अपने दोष थे जो निम्न प्रकार हैं—

१—अधिक संख्या में उर्दू फारसी शब्दों का प्रयोग।

२—वाक्यों की रचना उर्दू के ढंग पर। राजा लक्ष्मणसिंह इस शैली के विरोध में तत्सम शब्द शैली को लेकर अवतीर्ण हुए। किन्तु उस समय एक सामान्य भाषा शैली स्थापन की आवश्यकता थी। भारतेन्दु जी ने यह कार्य करके हिन्दी-गद्य के विकास में अपूर्व मौलिकता का परिचय दिया।

भारतेन्दु ने सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया। इसलिए उन्होंने ऐसी भाषा शैली की सृष्टि की जिसमें तत्सम शब्दों का अभाव था। जो तत्सम शब्द आते थे वे चाहे फारसी अरबी के हों, चाहे संस्कृत के, अपने विकृत रूप में तद्भव बनकर आते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने इन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया जो प्रतिदिन के व्यवहार में आकर हिन्दी-कोष में सम्मिलित हो गए थे। भारतेन्दु ने अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया है—

(१) जो शुद्ध हिन्दी है— उन्होंने अधिकांश गद्य विशेष कर अपने नाटकों का गद्य इसी शैली में लिखा। साधारण और सरल विषयों पर लेख लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया। परन्तु वह शैली उन्हें सर्वत्र मान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना सम्बन्धी विचारपूर्ण और गंभीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसर पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिये चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिए।

(२) जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हों—इस शैली में संस्कृत के तत्सम शब्द मिलते हैं। किन्तु उनके कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत के शब्द बहुत अधिक मिलते हैं।

भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में लाला श्रीनिवास दास, प्रतापनरायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने हिन्दी गद्य का पर्याप्त विकास किया और उपन्यास, नाटक और निबन्ध साहित्य की रचना की। विषयों और रुचि की विभिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। ये सब भारतेन्दु मण्डली के लेखक कहे जाते हैं, परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इनका गद्य अनेक रूपों में स्वतन्त्र है। लाला श्रीनिवासदास के गद्य में उर्दू शब्दावली नहीं के बराबर है और संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है। पं० प्रताप-नरायण मिश्र की शैली में संस्कृत और फ़ारसी दोनों प्रकार की शब्दावली का सम्मिश्रण मिलता है। उन्होंने शैली को सरस सजीव बनाने की बड़ी चेष्टा की। इससे वे उर्दू शब्दावली को त्याग नहीं सकते थे। चौधरी जी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी थी। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कला के अनुसार भाषा को गढ़ना और उनके अपने शब्दों में "अपनी शैली को सुडौल और सुन्दर" बनाना प्रारम्भ किया।

भारतेन्दुकालीन गद्य शैलियों के कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काल क्रम से संस्कृत प्रधान होती गईं। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की शैली में युगान्तर अवश्य उपस्थिति किया किन्तु उनकी शैली में अनेक दोष थे। भारतेन्दु युग, गद्य के विकास की दृष्टि से आरम्भ का ही युग था। उसमें साहित्य निर्माण का कार्य तो प्रारम्भ हो गया किन्तु भाषा के परिमार्जन और शुद्धता की ओर ध्यान कम गया। जिसके मन में आया उसने वैसा ही लिख डाला। इस बात की ओर सर्वप्रथम 'सरस्वती' के सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। उन्होंने सरस्वती में ऐसे अशुद्ध गद्य लिखने वाले लेखकों की कुछ आलो-चना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक नवयुवक लेखकों को शुद्ध खड़ी बोली लिखने की प्रेरणा दी। उन्होंने स्वयं लेख लिखकर शुद्ध खड़ी बोली का नमूना उपस्थिति किया।

द्विवेदी जी की शैली की कई विशेषताएँ हैं। उनकी शैली में संयम प्रत्येक स्थल पर पाया जाता है जबकि उनके पूर्ववर्ती लेखक इस ओर ध्यान नहीं दिया करते थे और उनकी शैली विशृङ्खल होती थी। उनकी शैली की दूसरी विशेषता प्रसाद और ओज गुण का पाया जाना है। इसके अतिरिक्त उनकी सजीवता लिए हुए है। उनमें सर्वत्र प्रवाह के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु की भाँति द्विवेदी जी का भी प्रभाव उनके युग के लेखकों पर पड़ा। द्विवेदी युग के लेखकों में माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुन्दर दास, गोविन्दनारायण मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, प्रेमचन्द, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि हैं। द्विवेदी युग में इन लेखकों द्वारा गद्य के विविध अंगों—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना—का पर्याप्त विकास हुआ।

डा० श्यामसुन्दरदास की शैली तो तत्समता अधिक लिए हुए है जो द्विवेदी की शैली से उसको पृथकता प्रदर्शित करती है किन्तु इसे द्विवेदी युग की शैली का विकसित रूप ही समझना चाहिये। पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली चलताऊपन अधिक लिए हुए है। उसमें चुलबुलाहट का पुट अधिक है और उर्दू ढंग की 'वाह-वाही' भी पर्याप्त रूप से मिलती है। किन्तु यह न समझना चाहिये कि उनकी शैली में तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ। उनकी शैली में जो उपर्युक्त बातें मिलती हैं वह उनके स्वभाव के कारण थीं। जहाँ वे गम्भीर विषयों का विवेचन करते थे वहाँ उनकी शैली एक दम गम्भीर और संस्कृत प्रधान हो जाती थी। प्रेमचन्द की शैली पर द्विवेदी का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। किन्तु प्रेमचन्दजी द्विवेदी की अपेक्षा खड़ी बोली का अधिक चलता हुआ रूप व्यवहार में लाए। उनकी शैली में पद्मसिंह शर्मा की शैली से कुछ समानता मिलती है।

द्विवेदी युग के अन्य लेखकों में गद्य के विकास की दृष्टि से माधवप्रसाद मिश्र और अध्यापक पूर्णसिंह मुख्य हैं। दोनों की शैली भावात्मक है। यद्यपि इन लेखकों ने बहुत कम लिखा तथापि शैली की दृष्टि से इनके निबन्धों का बड़ा मूल्य है। भावात्मक होते हुए भी दोनों की शैली में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ मिश्र जी की शैली ओज प्रधान तथा उत्तेजनापूर्ण है वहाँ अध्यापक पूर्णसिंह की शैली गम्भीर तथा स्वाभाविक अनुभूति को लिए हुए है।

यद्यपि द्विवेदी युग में भाषा का परिमार्जन पर्याप्त रूप से हो चुका था तथापि उसमें प्रौढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता न आई थी। खड़ी बोली गद्य के विकास का विशद रूप द्विवेदी युग के बाद के वर्तमान युग में ही दिखाई पड़ता है। शैली के विकास की दृष्टि से इस युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुंशी प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद, आदि मुख्य हैं।

द्विवेदी युग तक निबन्ध और आलोचना की शैली इतनी प्रौढ़ और प्रांजल नहीं हुई थी कि उसमें उच्चकोटि के तथा गंभीर, विचारात्मक विषयों का प्रतिपादन हो सके। द्विवेदी युग के लेखकों की शैली व्यास प्रधान थी अतः आवश्यकता ऐसी शैली की थी जो समास प्रधान हो तथा जिसमें थोड़े में बहुत विषय का प्रतिपादन हो सके। शुक्ल जी ने इस प्रकार की शैली को जन्म देकर हिन्दी गद्य के विकास में अपूर्व सहयोग प्रदान किया। शुक्ल जी की शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। उनकी शैली की दूसरी विशेषता संयम तथा गठीलापन है। उनके निबन्धों तथा आलोचनाओं में एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं होता। यही बात उनके विचारों के सम्बन्ध में भी सत्य है। एक विचार दूसरे विचार से व्यवस्थित रूप में सम्बद्ध रहता है। शुक्लजी गद्य की शैली में इतनी प्रौढ़ता ले आए कि उनके परवर्ती लेखक भी शैली के सम्बन्ध में उतनी प्रौढ़ता प्राप्त न कर सके। शुक्लजी की शैली ने वर्तमान युग के प्रायः सभी गद्य लेखकों को पूर्णरूपेण प्रभावित किया। जितने आजकल के उदीयमान निबन्धकार और समालोचक हैं वे सब शुक्ल जी का आधार लेकर चले हैं।

कहानी और उपन्यास लेखकों के लिए प्रेमचन्द ने एक नवीन शैली का निर्माण किया। यद्यपि प्रेमचन्द का उल्लेख हम द्विवेदी युग के लेखकों में कर आए हैं, तथापि अपने बाद की रचनाओं में वे द्विवेदीकालीन न होकर वर्तमान-युगीन हैं। शैली की दृष्टि से उनका 'गबन' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहीं से उनके शैली सम्बन्धी दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है। यही परिवर्तन उन्हें द्विवेदी युग से खींच कर वर्तमान युग में डाल देता है। प्रेमचन्द की शली से उनके परवर्ती कथाकार बहुत अधिक प्रभावित हुए। सुदर्शन, विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जैनेन्द्र, प्रभृति कथाकारो पर तो इनकी शैली का प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टि-

गोचर होता है। इधर कथा क्षेत्र में कुछ नवीन शैलियों का प्रवर्त्तन हुआ है। ये शैलियाँ प्रेमचन्द की शैली से अधिक प्रौढ़ तथा परिमार्जित हैं। इसका विशेष कारण यही है कि प्रेमचन्द के कथा साहित्य में उन गंभीर तथा जटिल समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है जब कि आजकल के कथा साहित्य में इनकी प्रधानता है। प्रेमचन्द सीधी-साधी समस्याओं को लेकर चले थे। इन नवीन शैलियों का प्रवर्त्तन करने वालों में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा प्रभृति मुख्य हैं।

नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के जन्मदाता जयशंकर प्रसाद हैं। उन्होंने एक नयी शैली को जन्म देकर आगे के नाट्यकारों के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने प्राचीन आर्य संस्कृति की खोज नाटकीय कला द्वारा की उन्होंने इन ऐतिहासिक तत्वों के विश्लेषण में जो ढंग अपनाया वह एकदम मौलिक था, अतः उनकी शैली में दुरूहता आजाना स्वाभाविक ही था किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्रसाद के नाटकों की शैली में उत्तरोत्तर दुरूहता कम होती गई। उनकी शैली में जो दुरूहता है वह एक नयी शैली के प्रवर्त्तक होने के नाते है। प्रायः प्रत्येक नवीन शैली के प्रवर्त्तक को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रसाद जी की इस शैली ने परवर्ती नाटककारों को बहुत अधिक प्रभावित किया। लक्ष्मीनरायण मिश्र, सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट आदि नाटककार किसी न किसी रूप में आपकी शैली से प्रभावित हैं। यह बात अवश्य है कि उन्होंने प्रसाद जी की शैली की दुरूहता का त्याग कर दिया। इसके अतिरिक्त इन नाटककारों की शैली में प्रसाद जी की शैली से विभिन्नता नाटकीय विषयों के कारण दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए लक्ष्मीनरायण मिश्र का गरुड़ध्वज, जोकि एक ऐतिहासिक नाटक है, प्रसाद जी की शैली से प्रभावित दीख पड़ता है, किन्तु उनके समस्यामूलक नाटक जैसे 'राजयोग', 'मुक्ति का रहस्य' आदि में उन्होंने एक नयी शैली का प्रवर्त्तन किया है।

सारांश यह है कि इस युग में हिन्दी-गद्य का पर्याप्त विकास हुआ और हो रहा है। गद्य के विभिन्न अंगों का पूर्ण उत्कर्ष इस युग में देखा जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से वर्तमान युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाता है।

नाटक का विकास

हिन्दी का उदय काल लड़ाई-झगड़े का युग था, अतएव रंग-मंच की स्थापना और उन्नति की सम्भावना बहुत कम थी। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में नाटकों का बाहुल्य होने पर भी उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी में इसका बहुत समय तक अभाव ही रहा। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हृदयराम ने संस्कृत से हनुमन्नाटक का अनुवाद किया। हिन्दी-नाट्य-साहित्य की सब से प्राचीन पुस्तक यही मानी जाती है। इसके अनन्तर सुकवि नेवाज कृत 'शकुन्तला' नाटक मिलता है। इसके बाद देव कृत 'देवमाया प्रपंच' नाटक का सृजन हुआ। व्रजवासीदास कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। किन्तु इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता है और नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है अतएव साहित्यिक दृष्टि से इन नाटकों का बहुत कम महत्व है।

पात्रों के प्रवेश आदि नियमों का पालन करते हुए सब से पहला नाटक भारतेन्दु बाबू के पिता गिरधरदासजी ने 'नहुष' लिखा। इनके बाद समय के क्रम से नाटकीय नियमों का पालन करते हुए रचना करने वालों में राजा लक्ष्मणसिंह का नाम आता है यद्यपि उनका 'शकुन्तला-नाटक' संस्कृत के महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शांकुतल' का अनुवाद है तथापि उसमें मूल का सा सौन्दर्य है। समय क्रम के अनुसार इनके बाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का नाम आता है। भारतेन्दु बाबू हिन्दी नाट्य-साहित्य के वास्तविक जन्मदाता हैं।

भारतेन्दु जी ने स्वयं तो नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि की ही साथ ही अन्य लोगों को भी इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। भारतेन्दु के समस्त संस्कृति साहित्य की अक्षय निधि थी उन्होंने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया। आपने संस्कृत लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर दृश्य काव्य पर एक निबन्ध पुस्तकाकार तैयार की। इनके सहयोगियों ने भी बहुत से मौलिक तथा अनूदित नाटकों की रचना की और इस प्रकार हिन्दी में नाटक साहित्य के अभाव को दूर करके इसे पुष्ट किया। उन्होंने कुल अठारह नाटक लिखे, जिनमें एक नाटक अप्राप्त है। उनके मौलिक नाटक ये हैं :—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'चद्रावली', विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, प्रेम जोगिनी,सतीप्रताप (अधूरा)।

अनूदित नाटकों के नाम इस प्रकार हैं:—विद्या-सुन्दर, पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्यहरिश्चन्द्र, भारत जननी।

'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेंदु का मौलिक नाटक समझा जाता है किन्तु शुक्ल जी का कथन है कि उन्होंने एक पुराना बँगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। भारतेन्दु जी के नाटकों के सम्बन्ध में सबसे ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नीलदेवी में पंजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त, भारतदुर्दशा में देश दशा का, विषस्य-विषमौषधम् में देशी रजवाड़ों की कुचक्र पूर्ण परिस्थिति और प्रेमजोगिनी में भारतेन्दु जी ने वर्तमान पाखण्डमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच मानव की परिस्थिति का चित्रण किया है। नाटकों में उन्होंने भारतीय प्रणाली की रक्षा करते हुए पाश्चात्य शैली का उपयोग किया। इस प्रकार उन्होंने प्राचीनता को प्राचीन मानकर नहीं छोड़ा और न नवीनता की चमक में फँसकर उसको पूर्णतया ग्रहण किया।

कथोपकथन में सजीवता आपकी मुख्य विशेषता है। हिन्दी भाषा-प्रेमी भारतेन्दु ने अभारतीय शब्दों की अकारण भरमार कर हठधर्मी से बनी हुई खिचड़ी भाषा का समर्थन न कर जिस परिष्कृत तथा परिमार्जित भाषा को अपनी प्रतिभा, कौशल तथा सतत प्रयत्न से प्रचलित किया, वही आज की वर्तमान राष्ट्र भाषा हिन्दी है। इसी कारण वे हिन्दी राष्ट्र भाषा के जन्मदाता कहे जाते हैं। भारतेन्दु जी के नाटकों में व्रज-भाषा कविता का बहुत बड़ा अंश आ गया है, यह नाट्य शास्त्र के प्राचीन लक्षणों की परम्परा का पालन करने के कारण प्रयुक्त हुआ है। भारतेन्दु के नाटकों में प्रायः सभी रसों का समावेश हो गया है। इनके नाटकों में जिन्दादिली अर्थात् सजीवता सर्वत्र दर्शनीय है। भारतेन्दु ने स्वागत की बहुत कम योजना की है। इनके नाटक रंगमंच पर अभिनय किये जाने योग्य हैं।

भारतेन्दु काल के नाटककारों में लाला श्रीनिवासदास का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने—'तप्ता संवरण', 'प्रहलाद चरित', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'रणधीर प्रेममोहिनी'—चार नाटक लिखे थे। लाला जी कवि न थे और यत्र-तत्र जो कविता का नाटकों में समावेश किया है उसमें अधिकतर दूसरों की हैं। इन्होंने प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसरण के साथ नवीनता को अपनाया है। इनके बाद बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम आता है। आपने 'भारत सौभाग्य' 'वीरांगना रहस्य' आदि नाटक लिखे। भारतेन्दु काल के अन्य लेखकों ने भी इसी प्रकार नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि में हाथ बंटाया। उस काल के अन्य नाटककारों में बाबू गोकलचन्द का 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग चले तमाशे', बाबू केशवराम का 'सज्जाद–सम्बल' और 'शमशाद सौसन' गजाधर भट्ट का 'मृच्छ-कटिक' अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' 'गोसंकट' और बाबू राधाकृष्णदास के 'दुःखिनीबाला' 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' मुख्य हैं।

इन नाटकों के विकास में दो बातें विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो हम यह देखते हैं कि समय के साथ ही देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी पात्रों की कमी हो गयी और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और उसके भावों का चमत्कार अधिक दिखाया जाने लगा। इस प्रकार नाटक का मनुष्य जीवन के विविध अंगों से सम्बन्ध स्थापित हो गया। दूसरी उल्लेखनीय बात पद्य के स्थान में गद्य का व्यवहार है। प्रारम्भिक नाटक व्रजभाषा में लिखे गये और उसके बाद गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की व्रजभाषा रही। इसके अनन्तर वर्तमान युग में गद्य का प्राधान्य हो गया और जो बीच बीच में कहीं थोड़ा बहुत पद्य भी मिलता है वह धीरे-धीरे खड़ी बोली में होता जा रहा है।

भारतेन्दु युग के अनन्तर लाला सीताराम ने संस्कृत नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी भाषा का बड़ा उपकार किया है। इनके साथ ही पं० ज्वालाप्रसाद ने 'वेणी-संहार' 'अभिज्ञान शाकुंतल' बा० बालमुकुन्द ने 'रत्नावली-नाटिका' और पं० सत्यनरायण कविरत्न ने 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' आदि संस्कृत नाटकों के अनुवादों की रचना की। बँगला के नाटकों का अनुवाद करने वालों में रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी आदि ने पर्याप्त कार्य किया।

इसके अनन्तर रूपनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलालराय के उसपार, दुर्गादास, ताराबाई, शाहजहाँ आदि नाटकों का और रवीन्द्रनाथ के 'अमलायतन' गिरीष घोष के 'पतिव्रता' आदि नाटकों का बँगला से अनुवाद किया। शेष बंगला के अनुवादकों में नाथूराम प्रेमी का कार्य उल्लेखनीय है। धन्यकुमार जैन ने भी रवीन्द्र साहित्य का अनुवाद करते हुए रवीन्द्रनाथ के बहुत से नाटकों का अनुवाद किया।

अङ्गरेजी साहित्य से अनुवाद करने वालों में गंगाप्रसाद पाण्डेय, पुरोहित गोपीनाथ, ला० सीताराम आदि का नाम उल्लेखनीय है। गंगाप्रसाद और लाला सीताराम ने शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया। पुरोहित गोपीनाथ ने भी 'रोमियो जूलियट' और 'वेनिस का व्यापारी' और 'एज यू लाइक इट' आदि का अनुवाद किया। मथुराप्रसाद उपाध्याय ने भी 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का क्रमशः 'साहसेंद्र साहस' और 'जयंत' नाम से अनुवाद किया।

इस प्रकार इस द्वितीय उत्थान काल में प्रधानता तो अनूदित नाटकों की ही रही किन्तु मौलिक नाटकों का भी सृजन हुआ। कथावाचक पं० राधेश्याम ने श्रीकृष्ण अवतार' 'अभिमन्यु विजय' आदि नाटकों का, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मणि परिचय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नाटक का और बलदेवप्रसाद ने 'प्रयास मिलन' 'मीरा बाई' आदि नाटकों का सृजन किया। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त 'सीता बनवास' नामक नाटक लिखा। इसी काल में शिवनन्दन सहाय ने 'सुदामा' और राय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक नाटक लिखा। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रथम उत्थान के अन्त में दो नाटक लिखे थे— 'चौपट चपेट' और 'मयंक मंजरी' किन्तु इनका साहित्यिक मूल्य न होने के कारण ये जल्दी विस्मृत हो गए। इस द्वितीय उत्थान काल के विकास में सर्व श्री विश्म्भरनाथव्याकुल और नारायण प्रसाद 'बेताब' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके नाटक रंगमंच के अधिक उपयुक्त हैं। किन्तु साहित्यिकता का इनमें अभाव है। इस प्रकार इस युग में विशेषतः अनूदित नाटकों का बाहुल्य रहा। साहित्यिक मौलिक नाटकों का इस युग में प्रायः अभाव ही रहा।

इसके अनन्तर तृतीय उत्थान काल आता है। इस युग के प्रमुख नाटककार सर्व श्री जयशंकर प्रसाद हैं। नाटक के विकास का यह युग 'प्रसाद' युग के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रसादजी के नाटक क्षेत्र में अवतीर्ण होने से नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हो गया। यद्यपि और देशों के समान यहाँ भी उपन्यासों और कहानियों के आगे नाटकों का प्रणयन बहुत कम हो गया है तथापि हमारा साहित्य इस युग में बहुत समृद्ध हुआ। नाटकों के बाहरी रूप रंग भी कई प्रकार के हुए हैं और अवयवों के विन्यास और आकार-प्रकार में भी वैचित्र्य आया है। स्वगत-भाषण लम्बे भाषण आदि का रिवाज उठ रहा है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र में कुछ बातों का जैसे मृत्यु, आत्महत्या, वध आदि दिखलाना वर्जित था, क्योंकि ये घटनाएँ रंगमंच पर अभिनय योग्य नहीं थीं, किन्तु इनका पालन वर्तमान युग में बहुत कम या बिल्कुल ही नहीं होता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में इन बातों की ओर ध्यान नहीं रक्खा है। उनके 'ध्रुव-स्वामिनी', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्यश्री', 'जनमेजय का नाग यज्ञ' आदि सभी नाटकों में वध, आत्महत्या, युद्ध के दर्शन होते हैं।

वर्तमान युग में सबसे पहले नाटक में चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। प्रसादजी ने अपने सभी नाटकों में इस तत्व को बड़ा महत्व दिया है और रस की धारा प्रवाहित की है। उनके नाटकों में प्राचीन भारत की संस्कृति का भव्य चित्र नेत्रों के सामने खिच जाता है। उनके सभी नाटकों का आधार यही चित्रण है। परन्तु उनके नाटक उच्चकोटि की साहित्यिक कलाकृति होते हुए भी, प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन न करने से और भाषा काठिन्य के कारण अभिनय के योग्य नहीं रहे हैं। प्रसादजी ने यूरोप में प्रचलित शील वैचित्र्यवाद का पूर्ण रूप से अनुसरण न करके रसविधान और शील वैचित्र्य का सामंजस्य रक्खा है। आपके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं:—

'स्कंदगुप्त', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख', 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'राज्यश्री', तथा 'एक घूँट'।

प्रसाद जी के पश्चात् उनकी परम्परा का अनुसरण करने वाले श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' हुए। इनके 'रक्षा-बंधन' और 'शिवा-साधना' आदि नाटक हैं। इनके भी नाटक अधिकतर ऐतिहासिक हैं। प्रसाद ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दू-

काल के भीतर चुना और प्रेमी ने मुस्लिम-काल के भीतर। प्रेमी के कथन बड़े नाटकोपयुक्त हैं। सेठ गोविंददास ने पौराणिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक नाटकों का सृजन किया। इनके नाटकों में प्रमुख 'कुलीनता', 'कर्ण', 'प्रकाश', 'कर्त्तव्य', और 'हर्ष' आदि हैं।

लक्ष्मीनरायण मिश्र ने अंग्रेजी ढंग के नाटक लिखने का सफल प्रयास किया। आपके नाटक अधिकांशतः समस्यात्मक हैं। उन्होंने 'गरुड़ध्वज' नाम का ऐतिहासिक नाटक भी लिखा है। समस्यामूलक नाटकों के क्षेत्र में आपका प्रयत्न सराहनीय है। आपके नाटकों में प्रमुख—'राजयोग', 'सिंदूर की होली', 'गरुड़ध्वज', 'आधीरात', 'मुक्ति का रहस्य', 'सन्यासी' आदि हैं। जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नामक नाटक ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि को लेकर लिखा, इसने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा', माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुनयुद्ध', पं० गोविंदवल्लभ पन्त का 'वरमाला', 'अँगूर की बेटी' आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं। हास्यरस सम्राट श्री जे० पी० श्रीवास्तव हास्यरस के नाटकों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द का 'संग्राम', और 'प्रेम की वेदी', श्री सुदर्शन का 'अजंता' कौशिक का 'भीष्म', सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्सना' नामक नाट्य रूपक, सत्येन्द्र का 'मुक्ति यज्ञ' नामक वीर रसात्मक नाटक, रामनरेश त्रिपाठी का 'प्रेमलोक', चतुरसेन सास्त्री का 'अमर राठौर' तथा 'उत्सर्ग', इत्यादि नाटकों ने भी नाट्य साहित्य क्षेत्र में ख्याति पाई है। पौराणिक नाटक लेखकों में सर्व श्री उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। आपके 'दादर का सिंध-पतन' तथा 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक और 'कमला' नाम का सामाजिक नाटक है। 'अम्बा' 'सागरविजय' 'मत्स्य गंधा', 'विश्वामित्र' आदि प्रसिद्ध पौराणिक नाटक हैं।

नाटक साहित्य के विकास के प्रस्तावना काल में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर जिस प्रकार पद्य बद्ध नाटक रचना हुई है, उसी प्रकार की प्रवृति वर्तमान युग के 'गीत नाटकों' में परिलक्षित होती है। इनमें प्रसादजी का 'करुणालय', उदय शंकरभट्ट का 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र', मैथलीशरणगुप्त का 'अनघ' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो तो अत्यन्त भावपूर्ण काव्य के रूप में और अन्तिम कथोपकथन पद्य बद्ध सामाजिक नाटकों के रूप में हमारे सामने आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इधर २०,२५ वर्षों मे नाट्य-साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की है। रंगमंच की स्थापना भारतेन्दु युग में कुछ हुई किन्तु इस प्रवृत्ति का शीघ्र अन्त हो गया। हिन्दी नाटकों का रंग-मंच से सदा विच्छेद सा रहा है, इसका कारण रंगमंच का एक व्यवसायिक विषय हो जाता है।

समय की बचत और अभिनय की सुगमता का ध्यान रखकर अँग्रेजी नाटक कम्पनियों ने छोटे-छोटे एकांकी नाटक लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया। हमारे यहाँ के नाटककारों ने भी इस ओर ध्यान दिया। रंग-मंच के अभाव में नाटकों का महत्व घट जाता है। एकांकी नाटककारों का कार्य इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न करता है। इधर हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं। जिनका एक अच्छा संग्रह 'आधुनिक एकांकी नाटक' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री सुदर्शन, रामकुमार-वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनन्द, उदयशंकर भट्ट के क्रमशः 'राजपूत की हार', 'दस मिनट', 'स्ट्राइक', 'लक्ष्मी का स्वागत' 'सबसे बड़ा आदमी', दीन तथा 'दस हजार' नाम के नाटक संग्रहीत हैं। एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा का स्थान प्रमुख है। इनकी 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नामक एकांकी नाटकों के दो संग्रह प्रकाशित हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी इस क्षेत्र में काफी ख्याति पाई है। उन्होंने एकांकी को जहाँ से लिया वहाँ से उसे कहीं ऊँचा उठा दिया। उसे न केवल आधुनिक काल से वेष्ठित किया, वरन् उसमें आधुनिक विचारों का अति आधुनिक ढंग से प्रतिपादन कर, उसे साहित्य का महत्वपूर्ण अङ्ग बनाया। आपका सात एकांकी नाटकों का एक संग्रह 'देवताओं की छाया में' नाम से प्रकाशित हुआ है। भुवनेश्वर मिश्र के 'कारवाँ' एकांकी ने भी एकांकी नाट्य साहित्य क्षेत्र में काफी ख्याति पाई है।

इस युग में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भी हुआ है, जो नाट्य-साहित्य के विकास में उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में अब तक नाटकों के बाहरी रूप रंग में, अवयवों के विन्यास और आकार-प्रकार में काफी परिवर्तन हुआ है। वर्तमान हिन्दी युग में साहित्य के विविध अंगों के साथ नाट्य-साहित्य भी समृद्धिशील है और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है।

उपन्यास का विकास

साहित्य के और अंगों के साथ उपन्यासों का भी सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हो गया था। किन्तु उस समय के उपन्यास अधिकतर बंगला, अंग्रेजी आदि से अनुवादित हैं। यद्यपि उस समय श्रीनिवासदास आदि ने मौलिक उपन्यासों का सृजन किया किन्तु वे कोई विशेष महत्व नहीं रखते हैं। इस समय के अनुवादकों में गदाधरसिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं इनमें हरिश्चन्द्र कालीन युग की भाषा की पूर्ण छाप थी। हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' बहुत काल तक शिक्षित समाज में आदर पाता रहा। इसमें हितोपदेश की सी उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। इसके अतिरिक्त बाबू राधाकृष्ण दास का 'निःसहाय हिन्दू' और पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' भी प्रसिद्ध हुए हैं।

द्वितीय उत्थान काल में उपन्यास क्षेत्र में अद्भुत कार्य हुआ। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा लोगों की रुचि उपन्यासों की ओर उन्मुख हुई। इस काल में अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यासों की भी बाढ़ सी बह निकली। रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अँग्रेजी उपन्यासों का अनुवाद किया। इन्होंने बंगला से भी अनुवाद किया किन्तु इस क्षेत्र में बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने अधिक ख्याति पाई। इन्होंने 'इला', 'प्रमीला' 'जया', 'मधुमालती', नामक उपन्यासों का अनुवाद किया। द्वितीय उत्थान काल के आरम्भ में गोपालराम गहमरी ने बंगभाषा के कुछ गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद किया। उनके कुछ उपन्यास तो प्रथम उत्थान या भारतेन्दु काल की ही रचना हैं। भाषा उनकी चटपटी और वक्रतापूर्ण है। इसी काल के प्रारम्भ में उदितनरायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमें मुख्य 'दीपनिर्वाण' नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इस काल में बंकिमचंद्र, रमेशचन्द्र दत्त, चंडीशरणसेन, शरतबाबू प्रभृति प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद हुए। रवीन्द्रबाबू के 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ। अनुवादकों में ईश्वरी प्रसाद शर्मा और रूपनरायण पांडेय

विशेष उल्लेख योग्य हैं। गंगाप्रसाद गुप्त और बा० रामचन्द्र वर्मा ने क्रमशः उर्दू और मराठी के उपन्यासों का अनुवाद किया। मराठी से अनूदित उपन्यासों में बा० रामचन्द्र वर्मा का 'छत्रसाल' बहुत ही उत्कृष्ट है। अँग्रेजी के भी दो चार उपन्यास जैसे रेनाल्डस् कृत 'लैला' और 'लंडन-रहस्य' 'टाम काका की कुटिया' आदि का अनुवाद हुआ।

मौलिक उपन्यास लेखकों में सर्वसाधारण में सबसे अधिक ख्याति बाबू देवकीनन्दन खत्री ने पाई। बाबू देवकीनन्दन के प्रभाव से 'तिलस्म' और 'ऐयारी' के उपन्यासों की हिन्दी में बहुत दिनों तक भरमार रही। जनता की कुतूहल वृत्ति की तृप्ति करने के कारण इनके उपन्यास बहुत लोकप्रिय बन गये। बहुत से उर्दू जानने वालों ने इनकी 'चन्द्रकान्ता संतति' पढ़ने के लिए हिंदी पढ़ने का अभ्यास किया। 'चन्द्रकांता' के अतिरिक्त द्वितीय उत्थान के पहले ही ये 'नरेन्द्रमोहिनी', 'कुसुमकुमारी', 'वीरेन्द्रवीर', आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। इनके ये उपन्यास वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं है, अतएव इनका सिर्फ ऐतिहासिक महत्व है हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके नाम का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रन्थकार ने नहीं।

ऐय्यारी के उपन्यासों की एक परम्परा के पालन करने वालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खत्री जी के अतिरिक्त उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्यिक कोटि में आती हैं। 'अँगूठी का नगीना', 'लखनऊ की कब्र,' 'चपला', 'तारा', 'प्राणदायिनी' आदि इन्होंने साठ से ऊपर उपन्यास लिखे हैं। साहित्यिक होते हुए भी इनके उपन्यासों में वासना का विलास अधिक दिखाई देता है। इन्होंने उपन्यासों में कई शैलियों का प्रयोग किया है। इनके उपन्यासों में सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिये। प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिन्दी में लिखे, 'ठेठ

हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'। परन्तु इनमें औपन्यासिक कौशल का अभाव है, तथा भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गई हैं। पं० लज्जाराम मेहता के 'धूर्त रसिकलाल' और 'आदर्श हिन्दू' तथा बाबू व्रजनन्दनसहाय के 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' भी अच्छे उपन्यास हैं इनमें घटना वैचित्र्य और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा भावावेश अधिक है।

तृतीय उत्थान काल में उपन्यास-साहित्य सबसे अधिक समृद्ध हुआ। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द इसी युग में अवतीर्ण हुए। नूतन विकास लाने वाले प्रेमचन्द की रचनाएँ उपन्यास-साहित्य की अमर निधि हैं। अब तक जो उपन्यास लिखे गए थे उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन था, पर प्रेमचन्द के उपन्यासों में सर्वप्रथम चरित्र-चित्रण की ओर पूर्ण रूपेण ध्यान दिया गया। इनके उपन्यासों में जीवन के विविध अंगों की झलक मिलती है। इन्होंने ने इस क्षेत्र में नवीन युगान्तर प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द के परिस्थित चित्रण बहुत ही वास्तविकता लिए हुए हैं। ग्रामीण दृश्यों के और पुलिस अफसरों के अत्याचारों के उद्घाटन में प्रेमचन्द जी बड़े सिद्धहस्त हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी कला में कृत्रिमता नहीं है। यह बात सत्य है कि उन्होंने आजकल की भांति 'कला कला के अर्थ' में नहीं मानी है। तत्कालीन धार्मिक उत्थान की प्रवृत्ति का थोड़ा बहुत प्रभाव उन पर था।

उनकी रचनाएँ तीन श्रेणी में विभक्त की जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी में 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' आते हैं जो उनकी प्रारम्भिक अवस्था का निर्देश करती हैं। दूसरी श्रेणी में 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'गबन' आते हैं, जिनमें सामाजिक समस्याओं के कारण और निराकरण का चित्रण किया गया है। सेवासदन में दहेजप्रथा, निर्मला में वृद्धावस्था में दूसरे विवाह और शंका और अविश्वास के दुष्परिणाम और गबन में गहने की चाल के बुरे फल को दिखाया गया है। तीसरी श्रेणी की वे उत्कृष्ट चेष्टाएँ हैं जिनमें प्रेमचन्द सम्पूर्ण जीवन के द्रष्टा हैं। इनमें 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' आते हैं। प्रेमचन्द की भाषा चलती हुई, मुहावरेदार तथा पात्रानुकूल है।

प्रेमचन्द के बाद जयशंकर प्रसाद का नाम आता है। कविता और नाटक के क्षेत्र में धूम मचाने वाले प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' नामक उपन्यास लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्त की। 'कंकाल' यथार्थवादी उपन्यास है तथा 'तितली' ग्राम्यजीवन के यथार्थ चित्र उपस्थित करता है।

ऐतिहासिक-उपन्यास क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा अद्वितीय हैं। उनकी 'झाँसी की रानी' सन् ५७ के गदर का सुन्दर औपन्यासिक रूप में इतिहास है। उनके 'कचनार', 'विराटा की पद्मनी', 'मृगनयनी', 'गढ़कुंडार' आदि बड़े उत्कृष्ट उपन्यास हैं। इतिहास की घटनाओं को लेकर उपन्यास का ढाँचा खड़ा करने में वर्मा जी बड़े कुशल कलाकार हैं। आपके 'गढ़ कुण्डार' नामक उपन्यास में इतिहास और कल्पना का बड़ा सुन्दर सामंजस्य किया गया है। इनके बाद पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'भिखारिणी' और 'माँ' नाम के उपन्यास आते हैं। 'कौशिकजी' को कहानी की अपेक्षा उपन्यास क्षेत्र में कम सफलता मिली है।

हमारे उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं का चित्रण करने में जैनेन्द्रजी को काफी सफलता मिली है। उनके 'परख', 'तपोभूमि', 'कल्याणी', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि प्रायः सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ही प्रधानता है। आदि से अन्त तक इनके पात्रों की प्रत्येक बात, उनका प्रत्येक संकेत, उनके मनोभावों की असलियत का प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है। रागों के मूल स्रोत से हमारे हृदय में कितनी उथल-पुथल मची रहती है, उनकी किस प्रकार अभिव्यक्ति होती है, उसका दमन कैसे होता है और उस दमन के कारण कैसी प्रतिक्रिया होती है आदि बातों का बड़ा कुशल विश्लेषण इनके उपन्यासों में मिलता है। अब तक समाज के उस वर्ग का चित्रण करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया था जो नगरों की अमरावती 'सिविल लाइन्स' के बंगलों की शोभा है। साधारण जनता से दूर, लोगों के आदर, भय और बहुत से रहस्यों की प्रतिमाएँ, अँगरेजी सभ्यता के कर्णधार इन साहबों के जीवन को हमारे कलाकारों ने दूर से ही देखा, उनके पास जाने का साहस नहीं कर सके। इस ओर प्रतापनरायण श्रीवास्तव ने कदम उठाया। उन्होंने केवल तीन

उपन्यास लिखे—'विदा', 'विकास', 'विजय'। इन उपन्यासों में प्रायः स्त्री स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया गया है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में सफलता प्राप्त की तो शहरी उच्च वर्ग के चित्रण में श्रीवास्तव का कार्य सराहनीय है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मनुष्य की कमजोरियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। इनकी भाषा चलती हुई और व्यंग्यपूर्ण है। इनके 'चाकलेट', 'बुधुआ की बेटी', 'दिल्ली का दलाल' आदि उपन्यास हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इनके साहित्य को 'घासलेटी' कहकर प्रोपेगण्डा किया किन्तु 'उग्रजी' की प्रतिभा आज भी वैसी ही जागरूक है। हम देखते हैं कि उनके उपन्यासों में समाज, व्यक्ति और नियति के प्रति आदि से अन्त तक एक व्यंग्य छिपा रहता है। यह उनके युग के क्रान्तिकारी हृदय का प्रसाद है। समाज-सुधार का सबसे बड़ा साधन वे उसकी दुर्बलताओं की निवृत्ति और उस पर व्यंग्य को ही समझते हैं। परन्तु सुधार का कार्य मानव के साथ सहानुभूति और समवेदना दिखलाकर ही किया जा सकता है। 'उग्रजी' ऐसा नहीं कर सके।

ऋषभचरण जैन भी उग्र जी से बहुत कुछ मिलते-जुलते उपन्यासकार हैं; इनका 'भाई' उपन्यास तो पूर्णतः प्रेमचन्दजी के ढर्रे पर लिखा गया था। यथार्थवाद के चक्कर में इनकी प्रतिभा भी अड्डों और अखाड़ों में ही घर करके बैठ गई। इन्होंने 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', 'वैश्यापुत्र' आदि उपन्यास लिखकर किशोरीलाल गोस्वामी का अनुशरण किया। इनकी भाषा बड़ी सजीव और भावपूर्ण होती है। चण्डीप्रसाद हृदयेश ने 'मंगलप्रभात' नामक उपन्यास लिखकर भारतीय संस्कृति के प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया।

चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' एवं 'आत्मदाह' आदि उपन्यास लिखे हैं। आपकी शैली प्राचीन ढंग की है। जैसे 'पाठक, अब आपको वहाँ लिए चलते हैं' अथवा 'प्यारे पाठको,

आप ही यह सोचें' आदि फिर भी उनके उपन्यासों को देखकर यह कहना होता कि शास्त्री जी में प्रतिभा, मौलिकता, अनुभव और भावुकता का [illegible] है कवि भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'तीन वर्ष' आदि उपन्यासों का सृजन किया है। 'चित्रलेखा' ने हिन्दी जगत में बड़ी [illegible] प्राप्त की तथा इसका एक चित्र भी बन गया है। इस उपन्यास में लेखक ने पाप क्या है, और उसका कहाँ निवास है, इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। यह उपन्यास शुद्ध चरित्र प्रधान है। इसकी वर्णन प्रणाली उत्कृष्ट कोटि की है। संवादों में बड़ी सजीवता एवं चुस्ती है। भाषा भावानुकूल तथा माधुर्य से पूर्ण है। उसमें पीयूष धारा-सी झरती हुई प्रतीत होती है। उसमें नाटकीय रम्यता है। भाषा का जितना माधुर्य इस उपन्यास में बन पड़ा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसके उपरान्त टेढ़े-मेढ़े रास्ते में वर्मा जी की कला कुछ भटक गई है उस पर तत्कालीन स्वातन्त्र्य आन्दोलन और वादों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। सभी पात्रों के रास्ते प्रायः अलग-अलग हैं। इस उपन्यास में स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न पार्टियों के प्रयत्नों का बड़ा सजीव चित्रण है। इसके उपरान्त 'तीन वर्ष' में वर्माजी चित्रलेखावाली पीयूष धारा का प्रवाह अबाध रूप से बहने लगा है। एक प्रकार से यह अत्यधिक आधुनिक उपन्यास है। उसका विषय भारतीय समाज का एक ऐसा अंग है जो अभी अस्तित्व में आ रहा है। इसमें भारतीय समाज के उस अंग का, जिस पर पश्चात्य सभ्यता का सब से अधिक प्रभाव पड़ा है, वर्णित है। इस प्रभाव के फलस्वरूप थोड़ा-बहुत, उन सब शंकाओं अनिश्चयों और नैतिक दुर्बलताओं को प्रतिबिम्बित करता है जो पश्चात्य संसार की विशेषताएँ हैं। भारतीय विश्वविद्यालय का ऐसा स्वाभाविक चित्रण अन्य उपन्यासों में नहीं मिलता अभी तक हिन्दी-उपन्यास-लेखकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था।

मानसिक विश्लेषण के नवीन निष्कर्षों के कारण पाश्चात्य कथा साहित्य में पर्याप्त उथल-पुथल रही। फ्रायड, जुंग, एडलर आदि के मन सम्बन्धी विचारों का वहाँ के कथाकारों ने पूर्ण प्रयोग किया। 'मनुष्य के सारे कार्य व्यापारों में अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी प्रवृत्तियों का विशेष महत्व होता है।' इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से प्रभावित हो यूरोप के उपन्यासकार बड़े वेग से अपनी

रचनाओं में इसकी सत्यता को प्रतिपादित करते चले। यूरोप की यह मनो-विश्लेषण की प्रवृत्ति बहुत बाद में श्री इलाचन्द्र जोशी में परिलक्षित हुई। अंग्रेजी में हार्डी की भाँति हिन्दी में जोशी जी ने औपन्यासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति 'घृणामयी' के रूप में की किन्तु उल्कापात की तरह अपनी क्षणिक आभा में समाहित हो गयी। अपने दूसरे उपन्यास 'सन्यासी' में जोशी जी ने अपनी यात्रा का दूसरा कदम बढ़ाया। यह उपन्यास मनोविज्ञानिकों, सत्यों की खोज में जीवन के जिन गहन और अज्ञात स्तरों का उद्घाटन करता है, वे हिन्दी में एकदम नवीन तथा जीवन के लिए स्वास्थ्यकर और आवश्यक हैं। उनसे उपन्यासों के क्षेत्र में एक नवीन भावना का उद्बोधन और एक नई शैली का प्रणयन होता है। जोशी के उपन्यासों में जीवन की आँधी उठती हुई दिखाई देती है और अन्त तक चलती भी रहती है। 'सन्यासी' में यथार्थ की जीवन भूमि पर मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्वों का विश्लेषण और विवेचन अपनी एक विशेषता रखता है। जीवन के बाह्य तथा अन्तर के भावों-प्रतिभावों का भीषण संघर्ष और उनका सामंजस्य हमें प्रथमबार 'सन्यासी' में मिलता है। जोशी जी ने अपने साहित्य में उल्लास और विषाद का पूर्ण सामंजस्य किया है। जोशी जी ने अपने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ चरित्रों का ऐसा निर्माण किया है जो सिद्धान्तों, सुधारों और आदर्शों की मूर्तियाँ नहीं हैं, रूस में जीवन की सफलता विफलता-मयी सजीवता है। 'पर्दे की रानी' जोशी जी का नवीनतम उपन्यास है। इसके पात्र और घटनाएँ सभी किसी न किसी मनोवैज्ञानिक सत्य की आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। इसमें नाटकीय ढंग से पात्रों के आत्म-विश्लेषण द्वारा ही सारा रहस्योद्घाटन किया है। उनके अन्य उपन्यास 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' आदि हैं।

वर्तमान उपन्यासकारों में **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** सबसे अधिक विज्ञापित उपन्यासकार हैं। छायावादी भाव प्रवणता उनके कथानकों की मुख्य केन्द्रीय पीठिका रहती है। जीवन संघर्ष से दूर भावुकता की कोमल क्रोड़ में उनके पात्र एक सहज दिव्यता का झीना आवरण डाल कर पाठकों का मनोरंजन करने में समर्थ होते हैं। उनके औपन्यासिक चरित्र जीवन संघर्ष की ओर बढ़ते तो हैं

किन्तु अन्त में काम-विकार, तथा जीवन की निराशा से पीड़ित होकर घबरा जाते हैं। 'प्रेम-पथ' 'लालिमा' और 'पिपासा' उपन्यासों में रोमान्स के आकर्षण-विकर्षण का यही द्वन्द्व वाजपेयी जी ने चित्रित किया है। साहित्य में ऐसे पात्रों की सृष्टि समाज में निष्क्रियता को प्रश्रय देने वाली और थोथी भावुकता को उभाड़ने वाली है। वाजपेयी जी का नवीनतम उपन्यास 'पतवार' है।

दार्शनिक तथ्यों के विवेचन से पूर्ण और जीवन सम्बन्धी गहन विचारों का बड़ा ही सुलझा हुआ रूप प्रस्तुत करने वालों में **सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दार्शनिक तथ्यों के विवेचन की गुजराती में चल रही परम्परा का अनुकरण करके 'अज्ञेय' जी ने उपन्यास क्षेत्र में एक नवीन और सफल आविष्कार किया। इनका 'शेखर एक जीवनी' दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। 'शेखर एक जीवनी' लेखक के जीवन का प्रत्यालोकन है। इसमें उसने अहं की महानता का बड़ी सतर्कता के साथ समर्थन किया है। इसमें उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में दार्शनिकता का पुट देकर एक बड़ा ही कठिन कार्य किया है, किन्तु विषय काठिन्य के बावजूद भी उन्होंने बड़ा सुलझा हुआ विवेचन किया है जो उनकी मौलिक प्रतिभा का परिचायक है।

हिन्दी में सर्वप्रथम **यशपाल** ने रूसी साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपने उपन्यासों में किया। पहले आप हिंसात्मक विप्लव में विश्वास करते थे किंतु निर्दोष रक्तपात की व्यर्थता से उनका विश्वास विचलित हो उठा। इधर उनका झुकाव रूसी तरीकों की ओर दिखाई पड़ रहा है। आपके उपन्यासों में 'दादा कामरेड,' 'देशद्रोही' आदि ने बहुत ख्याति पाई है। यशपाल में उच्चकोटि की प्रतिभा है।

अन्य उपन्यासकारों में अवधनरायण का 'विमाता', सूर्यकांत त्रिपाठी का 'अप्सरा', 'प्रभावती', आदि गोविन्दवल्लभ पंत का 'मदारी', 'प्रतिभा,' 'जूलिया' आदि सर्वदानन्द वर्मा का 'रानी की डायरी', 'प्रश्न', आनन्द निकेतन आदि, उषादेवी मित्रा का 'जीवन की मुस्कान', 'वचन का मोल,' 'पिया', 'पथचारी', आदि नरोत्तम प्रसाद नागर का 'दिन के तारे' कटुम्ब प्यारी का 'हृदय की ताप'

शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया', आदि प्रसिद्ध हैं। श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन ने भी इस क्षेत्र में काफी कार्य किया है। आपने 'सिंह सेनापति', 'शैतान की आँख' आदि बहुत से उपन्यास लिख डाले हैं। श्री पहाड़ी ने 'सराय' तथा 'चलचित्र' आदि अनेक उपन्यासों का सृजन किया है। राष्ट्रप्रेम और स्वातन्त्र्य आन्दोलन के चित्रणों से पूर्ण गुरुदत्त के उपन्यास बहुत उत्कृष्ट हैं। सियाराम-शरण गुप्त ने 'नारी' आदि उपन्यासों का सृजन करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' उपन्यास वर्तमान युग की उत्कृष्ट कलाकृति है। इसमें जीवन और समाज के मसलों पर लम्बी लम्बी तकरीरें हैं। इसकी भाषा चित्रमयी, मुहावरेदार, और साफ सुथरी है जिसमें भावों का रंग उतार लेने की क्षमता है। हास्यरस के क्षेत्र में 'लतखोरीलाल' 'मूर्खराज और चतुरसिंह' आदि उपन्यासों के रचयिता श्री जी० पी० श्रीवास्तव हैं।

इस युग में बंगला, अद्वितीय अँग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं से अनुवाद भी काफी हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रायः सभी उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। उनका 'गोरा' उपन्यास एक श्रेष्ठ कलाकृति का नमूना है। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के प्रायः सभी उपन्यासों का अनुवाद धन्यकुमार जैन, रूपनरायण पाण्डेय, रामचंद्र वर्मा आदि ने किया है। अँग्रेजी के 'जूलियस फूचिक', 'अलेक्जेंडर कुप्रिन', 'टाल्स्टाय', आदि उपन्यासकारों की कुछ कृतियों का अनुवाद हिंदी में हो चुका है। गुजराती के उपन्यास सम्राट श्री के० एम० मुन्शी के 'किसका अपराध' 'जय सोमनाथ', 'पृथ्वी वल्लभ', 'पाटन का प्रभुत्व', 'भगवान परशुराम', आदि उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हो चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा उपन्यास-साहित्य दिन पर दिन उन्नति करता जा रहा है। वर्तमान युग एक विशेष हलचल का युग है। सामाजिक, धार्मिक, एवं राजनैतिक सभी क्षेत्रों में अस्थिरता आ गई। ऐसी परिस्थिति में उपन्यासकार का कर्त्तव्य बड़ा गुरुतर हो गया है। हमारा उपन्यास साहित्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया है। उपन्यास साहित्य की थोड़े समय में ही इतनी उन्नति बड़ी आश्चर्यजनक है।

———

कहानी का विकास

हिन्दी में कथा-साहित्य का जन्म सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही हुआ था। हिन्दी में पहले-पहल कहानियाँ अनुवाद के रूप में आती हैं। 'वैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', और 'शुक बहत्तरी' आदि कथा ग्रन्थ संस्कृत और अन्य भाषाओं से अनूदित हुए। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी हुई श्री गोकुलनाथ जी की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' कदाचित हिन्दी की पहली गद्य—कहानियों का संग्रह है। इसके बाद जटमल की गोराबादल की पद्य बद्ध कथा का गद्य रूपान्तर हुआ। इसके अनन्तर हमें श्री लल्लूलाल, सदलमिश्र और इशांअल्ला खाँ की कथाएँ मिलती हैं। लल्लूलाल जी का 'प्रेमसागर' और 'सुखसागर' प्रसिद्ध हैं। इनका सृजन अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' भी इसी समय का लिखा हुआ है। किन्तु इन अनूदित ग्रन्थों का महत्व भाषा विकास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'प्रेमसागर' और 'सुखसागर' 'भागवत' के आधार पर और 'नासिकेतोपाख्यान' 'उपनिषद' की एक कथा के आधार पर लिखा गया है।

कहानी लेखन की कला को ध्यान में रखते हुए इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की पहली मौलिक कहानी की रचना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में कथा-साहित्य के जन्म के साथ ही माना जाता है। रानी केतकी के बाद अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का लिखा हुआ 'राजा भोज का सपना' निकला।

इस काल की कृतियाँ केवल मनोरंजन के उद्देश्य से रची गई हैं। उनमें साहित्यिकता का तो प्रायः बिल्कुल ही अभाव है।

कथा साहित्य का सूत्रपात भी भारतेन्दु के युग से ही माना जाता है। लेकिन उस युग में भी आरम्भ में बँगला, अंग्रेजी और मराठी आदि भाषाओं से अनुवादित कहानियाँ ही मिलती हैं। वास्तव में कहानियों का उद्भव सर्व-प्रथम अंग्रेजी साहित्य में हुआ। अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियाँ निकला करती हैं, वैसी कहानियों की रचना उनके अनुकरण पर बंगला में 'गल्प' के नाम पर चल पड़ी। और हिन्दी में नए ढंग की

कहानियों का बीज बंगाली साहित्यिकों की कृतियों से आया। भारतेन्दु ने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नाम की कहानी लिखी थी। उनके बाद हिन्दी में पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी सरस्वती में छपी जो इस ओर का प्रथम मौलिक प्रयास है। सरस्वती ने हिन्दी कहानी के विकास में बहुत योग दिया। पं० माधवप्रसाद मिश्र ने भी कुछ मौलिक कहानियाँ उसी समय लिखीं थीं। लाला पारवतीनंदन के नाम से बाबू गिरिजाकुमार घोष ने अँग्रेजी की अनेक कहानियों का भावानुवाद किया और कहानियों की ओर जनता की रुचि बढ़ाने में सहायता दी. बंगमहिला ने कुछ मौलिक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दुलाई वाली' जो सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, सर्वथा मौलिक कहानी है इसी समय के आसपास श्रीभगवानदास ने 'प्लेग की चुड़ैल' पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा श्री गिरिजादत्त वाजपेयी ने 'पंडित और पंडितानी' आदि मौलिक कहानियों का सृजन किया। इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से देखें तो भाव प्रधान कहानियों में तीन मिलती हैं— 'इंदुमती', 'ग्यारहव वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'—और 'इंदुमती' ही हिन्दी की पहली मौलिक और साहित्यिक कहानी ठहरती है।

ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए। १९११ में श्री जयशंकर प्रसाद ने इंदु पत्रिका में 'ग्राम' नामक कहानी लिखी। उसके विपरीत तो उन्होंने 'आकाशदीप' 'बिसाती' 'प्रतिध्वनि' 'स्वर्ग के खंडहर' आदि अनेक कहानियाँ लिखीं जो तृतीय उत्थान के भीतर आती हैं। हास्यरस सम्राट जे० पी० श्रीवास्तव ने भी इसी समय कहानियाँ लिखना शुरू किया। इसी समय के आसपास श्री विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी कहानियाँ लिखना शुरू किया उनकी पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' १९१३ में सरस्वती में छपी। राजा राधिका-रमणसिंह जी भी हिन्दी के अत्यन्त भावुक और भाषा की शक्तियों पर अधिकार रखने वाले प्रसिद्ध लेखक हैं। इनके बाद पं० ज्वालादत्त और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९१५ में सरस्वती में गुलेरी जी की प्रथम कहानी 'उसने कहा था' छपी। इस उत्कृष्ट कलाकृति ने साहित्य में धूम मचा दी। गुलेरी जी की यह कहानी हिन्दी की सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है और कला के प्रत्येक अंग पर पूरी उतरती है।

द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में उपन्यास सम्राट कहानी क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। आपके आने से हिन्दी कहानी साहित्य में एक अपूर्व परिवर्तन आगया है। प्रेमचंद की कहानियाँ भारतीय सामाजिक जीवन का चित्र हैं। गाँव के चित्र और कवित्वमयता ये दो प्रेमचन्द की कहानियों की अपनी विशेषताएँ हैं। प्रेमचन्द जनता के लेखक थे। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा सहस्रों मूक और दीन किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जो पहले साहित्य में अछूत माने जाते थे। उन्होंने पहली बार वर्ग साहित्य की सृष्टि की है। प्रेमचन्द जी की सर्व श्रेष्ठ कहानियाँ प्रायः वे ही हैं जिनमें आदर्शवाद का पुट है। 'कामनातरु' 'आत्माराम' और 'शतरंज के खिलाड़ी'। इन कहानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रेमचन्द भारतीय जीवन की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण में अन्यतम हैं।

प्रेमचन्द की साहित्य साधना के समय उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगन में प्रदीप्त नक्षत्रों की भाँति प्रज्वलित हो उठा था। इनमें सर्वश्री सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी, शिवपूजनसहाय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन की कहानियों का उद्‌गमस्थान वही है जो प्रेमचन्द की कहानियों का है, किन्तु आगे चलकर वह एक उपदेशक तथा प्रचारक का रूप धारण कर लेते हैं। बख्शी जी ने कुछ भावात्मक कहानियों के लिखने के बाद एकदम इस क्षेत्र को छोड़ दिया।

पिछले महायुद्ध के बाद विश्व-जीवन की भावधारा के आमूल परिवर्तन से भारत भी तटस्थ न रह सका और साहित्य में जीवन की स्थापना के लिए कहानियों का प्रचार बहुत वेग से आगे बढ़ चला। हृदयेश का रचना काल यही समय है। इनकी रचनाएँ कवित्वपूर्ण होती हैं। इनकी कहानियाँ मार्मिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर चलती हैं, अतएव उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप रंगों के सहित परिस्थितियों का विशद चित्रण है। उनमें घटनाएँ और कथोपकथन स्वल्प हैं। 'शांति निकेतन' नामक उनकी प्रसिद्ध कहानी में घटना और कथोपकथन का अभाव है। हिन्दी के प्रायः सभी उपन्यासकारों ने कहानियाँ लिखी हैं। कुछ कवियों ने जैसे पंत, निराला महादेवी, भगवतीचरण वर्मा आदि ने भी इस क्षेत्र में अवतीर्ण होकर हिन्दी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि की है।

वर्तमान युग के कहानीकारों में सर्व श्री जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय', भगवती प्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, पहाड़ी, इलाचन्द्र जोशी विनोदशंकर व्यास, आदि का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल के मत से हिन्दी में जो कहानियाँ लिखी गई हैं वे निम्नलिखित प्रणालियों पर चल रही हैं :—

१—सादे ढंग से केवल एक अत्यन्त व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गंभीर संवेदना या मनोभाव में पर्यवसित होने वाली प्रणाली जिसका बहुत ही अच्छा नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया' और 'पेंसिलस्केच' नाम की कहानियाँ भी इसी ढंग की हैं। ऐसी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है।

२—परिस्थितियों के विराम और मार्मिकता कभी-कभी रमणीय और अलंकृत-वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मंद मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होने वाली प्रणाली। उदाहरण के लिए स्वर्गीय चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'शान्तिनिकेतन' आदि। ऐसी कहानियों में परिस्थिति के अंतर्गत प्रकृति का चित्रण भी प्रायः रहता है।

३—उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलने वाली प्रणाली जिसमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा विश्वास न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है; प्रेमचन्द की कहानियाँ पं० विश्म्भर नाथ शर्मा, 'कौशिक', पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री जैनेन्द्र कुमार, पं० विनोदशंकर व्यास, श्री सुदर्शन, पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', प्रभृति अधिकांश की कहानियाँ प्रायः इसी पद्धति पर चली हैं।

४—घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली प्रणाली। प्रसाद जी तथा राय कृष्णदास जी की कहानियाँ।

५—किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करने वाली लाक्षणिक कहानी जैसे पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'भुनगा'।

वस्तु-समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से बहुत से वर्ग किए जा सकते हैं जिनमें मुख्य ये हैं:—

१—सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लाने वाली प्रणाली। अधिकतर कहानियाँ इस वर्ग के अन्तर्गत आएँगी।

२—भिन्न-भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखने वाली प्रणाली—प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' और श्री ऋषभचरण जैन की 'दान' नाम की कहानी।

३—किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग-कल्पना के सहोदर किसी ऐतिहासिक काल का खंड-चित्र दिखाने वाली। उ० राय कृष्णदास जी की 'गहूला' और प्रसाद जी की 'आकाश दीप'।

४—देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लाने वाली, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी' 'हृद्गति' तथा श्री जैनेन्द्रकुमार की 'अपना अपना भाग्य' नाम की कहानी।

५—राजनैतिक आन्दोलन में सम्मिलित नव-युवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करने वाली, जैसे 'उग्र' की 'उसकी माँ' नाम की कहानी।

६—समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट में होने वाले पाखंडपूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लानेवाली कहानियाँ जैसे 'उग्र' जी की हैं। 'उग्र' जी की भाषा बड़ी अनूठी, चपलता और आकर्षक वैचित्र्य के साथ चलती है। इस ढंग की भाषा उन्हीं के उपन्यासों और 'चाँदनी' ऐसी कहानियों में ही मिल सकती है।

७—सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का अन्तिम रूप झलकाने वाली, जैसे, रायकृष्णदास जी की 'अंतःपुर का आरम्भ' श्रीमंत की 'चँबेली की कली' श्री जैनेन्द्र कुमार की 'बाहुबली'।

८—अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक काल-खंड के बीच अत्यन्त मार्मिक और रमणीय प्रसंग का चित्रण करने वाली, जैसे, श्री विंदु ब्रह्मचारी और श्रीमंत संत (पं० बालकराम विनायक) की कहानियाँ।

६——हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करने वाली। श्री० जे० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द और कांतानाथ पांडेय 'चोंच' की कहानियाँ।

इस श्रेणी की कहानियों का इस युग में अच्छा विकास हो रहा है। समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की बेढंगी विशेषताओं को हँसने-हँसाने योग्य बनाकर सामने लाना इस युग में बहुत बढ़ रहा है।

वर्तमान युग में अनेक महत्वपूर्ण कहानीकार पैदा हुए हैं। फिर भी आज कहानी की जो प्रवृत्ति है वह खटकने वाली है। इन कहानियों में कला के अनेक विधान मिलेंगे और सामायिक जीवन एवं इतिहास तथा संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया गया है। पिछले दस वर्ष में भारत के राजनैतिक, और सामाजिक जीवन की प्रगति विद्युत्गति से हुई है और हमारे कहानीकारों ने देश के विभिन्न भागों के नर-नारियों की संवेदनाओं को सुन्दरतम रूप में रखने का प्रयत्न किया है। बंगाल के अकाल, कलकत्ते और पंजाब के जनसंहार और युद्ध कालीन अव्यवस्था और मध्यवित्तों के आर्थिक और नैतिक संघर्ष का चित्रण हमारे कहानीकारों का प्रिय विषय रहा है। कहानी जनता में लोकप्रिय भी खूब हुई है और पिछले दस वर्षों में बीसियों कहानी मासिक पत्रों में सहस्त्रों की संख्या में बराबर बिकते रहते हैं। परन्तु इन मासिक पत्रों में व्यवसाय की दृष्टि से कहानियाँ लिखी जाती हैं जो समाज के लिए हानिकारक और कला का दुरुपयोग करके लिखी गई हैं। इस नई परिस्थिति के कारण कहानी-लेखकों की बाढ़ आ गई है और उनके व्यवसायिक रूप का भी विकास हो गया है, फिर भी लोकप्रिय कहानी प्रेम, यौनि समस्याओं और जीवन के छोटे-मोटे चित्रों तक ही सीमित हैं।

किन्तु उत्कृष्ट कहानी-साहित्य का सृजन भी रुका नहीं है। आधुनिकतन् कहानीकारों में कुछ ने बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखने में पर्याप्त सफलता पाई है। विरेश्वर, रायपुरी, अज्ञेय, पहाड़ी, यशपाल, ब्रजमोहन गुप्त, उषादेवी मित्रा, सुशीला, आगा, और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा इनमें प्रमुख हैं। सुमित्रा कुमारी सिन्हा की कहानियों में जीवन की दिशा का उतना निर्देश नहीं जितना उसकी भग्नता का निरूपण है। अज्ञेयजी की प्रतिभा इस क्षेत्र में मौलिक है, राष्ट्र-पंथी और सामाजिक रूढ़ियों के मूलोच्छेदन का स्वर इनकी कहानियों

का केन्द्र-विन्दु सा मालूम होता है। किन्तु इनकी कहानियों की प्रेरणा कलात्मक होती है, इसमें सन्देह नहीं है। नवयुवक कहानीकारों में 'पहाड़ी' का विशेष स्थान है। 'सस्पेन्स' की सुन्दर आभा और कथानक की रोचकता 'पहाड़ी' की कहानियों में बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। यशपाल की कहानियाँ श्रमजीवियों की बौद्धिक समता से ओत प्रोत हैं। यदि इस प्रवृत्ति को वे अपनी संवेदना से देख सकें तो उनकी कहानियों की महत्ता की पूर्ण सम्भावना है। भारत के साहित्य में स्त्रियों का सहयोग अधिक नहीं रहा। यद्यपि छायावाद को अवश्य ही कुछ देवियों ने अपनी उदार करुणामयी सहानुभूति दी थी, किन्तु आज कहानी क्षेत्र में अनेक महिलाएँ बढ़ रही हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों का घरेलू वातावरण हिन्दी की मूल्यवान निधि है। तेजरानी पाठक, कमला देवी चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक आदि लेखिकाएँ कहानी-साहित्य की अच्छी सेवा कर रहीं हैं। काव्य की भाँति 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा-साहित्य को कुछ नये सुन्दर स्वर दिए हैं। समाज के पीड़ित, उपेक्षित वर्ग के प्रति ममता का जो स्वरूप उनके संस्मरणों (कहानियों) में पाया जाता है वह शरत् को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। कहानियों में प्रगति का सच्चा स्वरूप उपस्थित करने का श्रेय श्रीमती वर्मा को है। इसके पहले कहानीकारों ने निम्न वर्ग के इन प्राणियों को अपने साहित्य में, इस रूप में नहीं अपनाया था। 'नींव की ईंट' की लेखिका चन्द्रावती ने इधर कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं जिनमें स्त्री हृदय के वात्सल्य का समुचित निदर्शन और संसार के प्रति सहानुभूतिमय दृष्टिकोण का चित्रण है।

वर्तमान युग में पाश्चात्य श्रेष्ठ कहानीकारों की कृतियों का अनुवाद भी खूब हुआ है। मोपाँसा, टाल्स्टाय आदि श्रेष्ठ कहानीकारों की कहानियों का अनुवाद सन्तोष नागा, कान्तीचन्द्र सौनिरिक्सा आदि ने किए हैं। इस प्रकार अनुवाद के क्षेत्र में भी उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। चेखोव, पलवर्क, मोपाँसा, टाल्स्टाय आदि लेखकों से भारतीय शिक्षित वर्ग भी पूर्ण रूप से परिचित होता जा रहा है। साथ ही हिन्दी-कहानी-साहित्य की भी अभिवृद्धि हो रही है।

इसी प्रकार अन्य बहुत से लेखक एवं लेखिकाएँ अपना सहयोग हिन्दी कथा साहित्य को देने में दत्तचित्त हैं।

निबन्ध का विकास

हिन्दी पत्रों के जन्म के कारण उस गद्य-लेखन शैली का जन्म हुआ जिसे लेख कहते हैं। यही निबन्ध गद्य का मुख्य अंग है। निबन्धों का विकास भी हिन्दी पत्रों की संख्या के साथ होता गया। निबन्ध साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु ही हैं। प्रायः भारतेन्दु के समकालीन पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र को ही उस युग का सबसे महत्वपूर्ण निबन्धकार माना जाता है। भारतेन्दु के निबन्धों का प्रकाशन अभी-अभी हुआ है और वे निबध अपने युग के श्रेष्ठतम हैं। अतः यह कहना कि भारतेन्दु उस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और निबन्ध-साहित्य के जन्मदाता हैं, समीचीन प्रतीत होता है। भारतेन्दु के बाद पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनरायण मिश्र का नाम आता है। इनके निबन्ध हिन्दी में क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' में छपा करते थे। उन्होंने अपनी शैली और विकसित की। उनकी भाषा में यद्यपि प्रान्तीय प्रयोग आ जाते थे, परन्तु वह अर्थकारी और काव्योपयोग प्रयोगों से मुक्त हैं। प्रतापनरायण मिश्र ने हास्यरस के निबंधों और व्यंगात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों में जो चुलबुलापन है वह जितना उस युग के पाठकों का ध्यान आकर्षित करता था उतना लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन भी करता था। इस युग के अन्य निबन्धकारों में 'पं० अम्बिकादत्त व्यास', 'बदरीनरायन चौधरी' प्रेमचन्द, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, दयानन्द आदि का नाम उल्लेखनीय है। वास्तव में कुछ वैयक्तिक निबन्धों को छोड़कर इस युग के लेखों और निबन्धों में भेद करना कठिन है। जहाँ निबन्धों ने शैलियों की सृष्टि की वहाँ लेखों ने हिन्दी-प्रचार और विचार-प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस समय के लेखकों में हिन्दू-सभ्यता और त्यौहारों की अच्छी विवेचना रही। इन लेखों में देश की भावनाओं एवं उमंगों की झलक मिलती है और वे अधिकांशतः भावात्मक और वर्णनात्मक होते थे।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निबन्धों का एक छोटा-मोटा साहित्य तैयार हो गया था। उसमें विषय की विभिन्नता और लेखक की वैयक्तिकता की छाप स्पष्ट दृष्टि गोचर होने लगी। अधिकांश निबन्धों में हास-परिहास एवं

व्यंग्य का पुट भी रहता है। इस निबन्ध-साहित्य में विषय की विभिन्नता थी जैसे समाज के पर्व, तीज, त्यौहार, सामाजिक कुरीतियाँ, नवीन और प्राचीन समाज पर व्यंग्य और आक्षेप, साहित्य के अनेक अंगोंपर चमत्कार पूर्ण उद्-भावनाएँ, हलके विचार आदि ये विशेषताएँ भारतेन्दु के परवर्ती लेखकों के निबन्धों में थीं जिनका जन्म भारतेन्दु के साहित्य ही में हो चुका था।

परन्तु धीरे-धीरे निबन्धों में वैयक्तिकता का ह्रास हुआ। इसी समय द्विवेदीजी अवतीर्ण हुए। उनके आग्रह से नए लेखक इस क्षेत्र में आए और उन्होंने अनेक नवीन विषयों पर निबन्ध लिखे। परन्तु शैली और भाव गाम्भीर्य के विचार से इनका कोई महत्व नहीं है। उनमें सूक्ष्म विवेचना का प्रायः पूर्ण अभाव है। इस युग में भी निबन्ध प्रायः समाचार पत्रों में ही आए। ऐसे प्रयत्नों में नवी-नता, मौलिकता और विशिष्ट शैलो ढूँढ़ने का प्रयास ही व्यर्थ है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १६०३ में सरस्वती के सम्पादन का भार लिया और तभी से अपना सम्पूर्ण समय लिखने में लगाया। द्विवेदी जी लिखने की सफलता इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसी सरल भाषा में रख दिए जायँ कि साधारण से साधारण पाठक भी उसे समझ जाएँ। द्विवेदी जी के प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक श्रेणी के हैं पर उनमें विचारों की वह गूढ़ परम्परा नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति के पथ पर दौड़ पड़े। इस युग के अधिकांश लेखकों पर भाषा, शैली और विषय विभाजन की दृष्टि से द्विवेदी जी का प्रभाव था। द्विवेदी जी के बाद पं० माधवप्रसाद 'मिश्र' का नाम आता है। इनकी भाषा गम्भीर तथा शान्त थी। इनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारावाहिक शैली पर चलते थे। इनमें भारत की प्राचीन संस्कृति की दुर्दशा और देश-भक्ति की भावना काफी रहती थी। मिश्रजी के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को पढ़ने पर हृदय में उनकी मधुर स्मृति अङ्कित हो जाती है। गोपालराम गहमरी ने उपन्यास के साथ-साथ निबन्ध-साहित्य की भी अभिवृद्धि की। आपकी भाषा बड़ी चंचल, चटपटी और मनोरंजक होती है। उनका 'ऋद्धि और सिद्धि' नामक निबन्ध बड़ा प्रसिद्ध है। आप में शब्द चित्र खींचने की बड़ी शक्ति है। भारत मित्र सम्पादक बाबू बालमुकन्द गुप्त का 'गुप्त निबन्धावली' नाम से एक निबन्ध

संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने सामयिक, राजनैतिक परिस्थितियों को लेकर कई प्रबन्ध लिखे हैं जिनमें 'शिवशम्भू का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है। गुप्त जी की भाषा बहुत चलती हुई, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने बड़े पांडित्य पूर्ण निबन्धों का सृजन किया। आप साधारण विषयों को भी उच्च कोटि की भाषा में व्यंजित करने में सिद्धहस्त थे। आपके लिए भाषा भाव-प्रकाशन का माध्यम मात्र न होकर स्वयं एक साध्य वस्तु थी। हिन्दी में आपने बाण और दण्डी के आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

इनके अनन्तर शुक्ल जी इस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। शुक्लजी ने इस क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। गम्भीर लेखों का सर्व प्रथम प्रवर्त्तन करने वाले शुक्ल जी हैं। आपके लेखों का संग्रह पहले विचार वीथी के नाम से प्रकाशित हुआ था, अब उसका नवीन और परिवर्द्धित संस्करण 'चिन्तामणि' नाम से निकला है। उच्चकोटि के गम्भीर साहित्यिक निबन्धों का लेखन शुक्ल जी ने ही सर्व प्रथम हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ किया।

शुक्ल जी के सम्बन्ध में यह उक्ति पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है कि उनका हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है तथा जीवन एक अध्यापक है। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्झर-युक्त भूधर कह सकते हैं, जिसमें एक ओर मस्तिष्क की गुरुता है तो दूसरी ओर हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता। यह दोनों ही बातें शुक्ल जी की कृतियों में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं। उनकी निबन्ध शैली में मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता के साथ ही साथ सरस भावुकता के भी दर्शन होते हैं। आपके निबन्धों में बड़ी कसावट है। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक व्यवहार है। निबन्धों में शब्दों का प्रयोग ऐसा कसा हुआ है कि प्रत्येक शब्द की अपनी विशेषता है। आपके लेखों में कहीं-कहीं गम्भीर हास्य की एक क्षीण रेखा सी दिखाई पड़ती है। आपकी विचार धारा बड़ी शृंखला बद्ध और तर्क पूर्ण रहती है। आपने समास शैली का प्रयोग किया है। आपने कहीं-कहीं जीवन से उदाहरण देकर और कहीं-कहीं मीठी चुटकियाँ लेकर शैली को सजीवता प्रदान की है।

शुक्ल जी के अनन्तर डा० श्यामसुन्दरदास का नाम इस क्षेत्र में आता है। आपने प्रायः कवियों की खोज के सम्बन्ध में तथा इतिहास आदि के सम्बन्ध में

निबन्ध लिखे हैं। आपने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं और बहुत से अछूते विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं। आपकी भाषा में अधिकतर तत्सम शब्द आये हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी आपने कम ही किया है। आपने आधुनिक हिन्दी के नये और पुराने लेखकों, का संक्षिप्त जीवन परिचय 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' के दो भागों में प्रकाशित किया है। हास्य-विनोदपूर्ण लेख लिखने-वालों में पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी का नाम लिया जाता है, आपके कई हास्यपूर्ण भाषण लेख के रूप में निकल चुके हैं। 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि आपके कई लेखों ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अत्यन्त मार्मिक और पाण्डित्यपूर्ण शैली में व्याकरण जैसे रूक्ष विषयों के लेखों को भी विनोद और आकर्षण से भर दिया है। आपकी शैली में जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता है वह और किसी लेखक में नहीं है। आपने प्राचीन हिन्दी के सम्बन्ध में बड़े गवेषणापूर्ण लेख लिखे हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध भावुकता से पूर्ण हैं, तथापि उनकी तह में गूढ़ विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है। आप जो कुछ लिखते हैं, बड़े जोर के साथ लिखते हैं। आपकी भाषा में सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग रहता है। उसमें कला का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता वह सर्वत्र स्वभाविकता लिए हुए है। उसमें बड़े अच्छे लाक्षणिक प्रयोग पाए जाते हैं। इस प्रकार अध्यापक जी ने भाषा और भाव की एक नई विभूति हमारे सामने रक्खी। यूरोप के जीवन-क्षेत्र की अशान्ति से उत्पन्न आध्यात्मिकता की, किसानों और मजदूरों की महत्व-भावना की जो लहरें उठीं उसमें पूर्णसिंह बहुत दूर तक बहे। इन्होंने सिर्फ तीन निबन्ध लिखे हैं—आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम और सच्ची वीरता। आपने इन तीन निबन्धों के कारण ही निबन्ध-साहित्य में बहुत ख्याति पाई। इसी कोटि के निबन्ध लेखक बाबू गुलाबराय एम० ए० हैं। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के थोड़े बहुत निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों का संग्रह पुस्तक रूप में 'प्रबन्ध प्रभाकर' नाम से प्रकाशित हुआ है। आपके निबन्ध बराबर 'साहित्य-सन्देश' में निकलते रहते हैं। आपका नाम शुक्ल जी की कोटि के प्रौढ़ निबन्ध लेखकों में आता है। आपकी भाषा चलती हुई तथा मुहावरेदार है। कठिन से कठिन विषय को सरलातिसरल भाषा में अभिव्यक्ति करना

की एक विशेषता है। आपके निबन्ध साहित्य, समाज और राजनीति आदि सभी विषयों पर होते हैं।

वर्तमान युग में निबन्ध साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हुई है। निबन्धों का प्रकाशन पुस्तक रूप में कम होता है, तथापि पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी उच्चकोटि के निबन्ध निकलते रहते हैं। वर्तमान युग के गम्भीर और प्रौढ़ निबन्ध लेखकों में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति-प्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, माचवे, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, सद्गुरुशरण अवस्थी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाराज कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के भाव प्रधान ऐतिहासिक निबन्ध, इतिहास को भावुकतापूर्ण शैली में प्रस्तुत करते हैं। जैनेन्द्र जी के लेखों में भी विशेष व्यक्तित्व की झलक मिलती है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में एक विशेष सांस्कृतिता और शास्त्रीयता के साथ उनके विनोदपूर्ण व्यक्तित्व की झलक मिलती है। नगेन्द्र के निबन्धों में पाश्चात्य साहित्य का अनुशीलन मिलता है। उनकी निबन्धों की दो पुस्तकें 'विचार और विवेचन' 'विचार और अनुभूति' नाम की प्रकाशित हो चुकी हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों के दो संग्रह 'अशोक के फूल' और 'विचार और वितर्क' प्रकाशित हुए हैं। राहुल भी विविध विषयों पर निबन्ध लिखते रहते हैं। अन्य निबन्धकारों में महादेवी वर्मा, अमरनाथ झा, धीरेन्द्रवर्मा, डा० रामविलास शर्मा, रामनाथ सुमन आदि का नाम आता है। गीतांजलि के अनुसरण में हिन्दी में भी गद्य-काव्य की रचना हुई जिसमें रायकृष्ण दास जी की 'साधना', छायापथ, प्रवाल आदि, वियोगी हरि की भावना अन्तर्नाद आदि, भँवरमल सिंघी की वेदना आदि प्रसिद्ध हैं। भावात्मक निबन्ध लेखकों में आचार्य शान्ति प्रिय द्विवेदी का नाम भी आता है।

सारांश यह है कि निबन्ध क्षेत्र में काफी उन्नति हुई है। विषयों की विविधता के साथ शैली की भिन्नता भी बढ़ी। इस प्रकार हिन्दी का निबन्ध साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा है।

समालोचना का विकास

हिन्दी आलोचना का वर्त्तमान स्वरूप पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क का परिणाम है। यही कारण है कि वह अपने मूलरूप संस्कृत से इतना भिन्न है। हमारे हिन्दी-साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हुआ। लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना पं० बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादंबिनी' नामक पत्रिका में शुरू की। समालोचना का विधिवत सूत्रपात 'प्रेमघन' जी ने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, अपने उक्त पत्र में लिखकर किया परन्तु भारतेन्दु युग में किसी ग्रन्थकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिये कोई पुस्तक न निकली। इस प्रकार की पहली पुस्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' थी जो द्वितीय उत्थान के आरम्भ में निकली।

द्विवेदी जी ने निर्णयात्मक और परिचयात्मक-समालोचना की नींव डाली। इन्होंने 'विक्रमांकदेव चरितचर्चा' और नैषधचर्चा में परिचयात्मक समालोचना और 'कालिदास की निरकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किए। उन्होंने कवियों को लेकर गम्भीर मर्म्मज्ञ-साहित्य नहीं उपस्थित किया किन्तु भाषा परिमार्जन करके लेखकों को सावधान कर दिया।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस युग के दूसरे बड़े आलोचक मिश्र बन्धु थे। इन्हीं से एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य की आलोचना का आरम्भ होता है। आपका हिंदी नवरत्न आलोचना साहित्य की पहली पुस्तक है जिसमें कवियों का स्थान निर्धारित किया गया है। इस भाषा; में भाव और शैली की दृष्टि से हिन्दी के नौ श्रेष्ठ कवियों की आलोचना विस्तार से की गई है। आपने सर्वप्रथम तुलनात्मक समालोचना की पद्धति चलाई। आपने 'हिन्दी नवरत्न' में बिहारी से देव को ऊँचा बताया जिसके कारण देव और बिहारी पर एक बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद को लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई पर एक तुलनात्मक आलोचना की पुस्तक लिखकर बिहारी की तुलना

बड़ी विद्वता के साथ संस्कृत की गाथा सप्तशती तथा आर्या सप्तशती से की है। किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन साहित्यिक समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक् आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने बिहारी पर लगाए गए आक्षेपों का अनूठे ढंग के परिहार किया है। शर्मा जी की पुस्तक से एक तो 'देव बड़े कि बिहारी' यह भद्दा झगड़ा सामने आया, दूसरे 'तुलनात्मक समालोचना' के पीछे लोग बेतरह पड़े।

'देव और बिहारी' के झगड़े को लेकर पहली पुस्तक पं० कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक निकली। इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता, और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाओं का मिलान किया गया है। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने योग्य है मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा कृष्ण बिहारी जी साहित्यिक आलोचना के अधिक अधिकारी हैं। इस पुस्तक के उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक निकाली जिसमें उन्होंने मिश्र बन्धुओं के भद्दे आक्षेपों का उचित शब्दों में जवाब देकर पं० कृष्णबिहारी जी की बातों पर भी पूरा विचार किया।

इस प्रकार द्वितीय उत्थान के भीतर 'समालोचना-साहित्य' की बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई किन्तु कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अतः प्रकृति की छानबीन करने वाली उच्च-कोटि की समालोचना का प्रारम्भ तृतीय उत्थान में हुआ। इस काल में हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ और गम्भीर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अवतीर्ण हुए। आपके आते ही समीक्षा शैली की काया पलट हो गई। आपने यूरोपीय और भारतीय दोनों साहित्यों का अध्ययन किया और दोनों का संबंध दिखाकर हमारे साहित्य को गौरवान्वित किया। आपने हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम कवियों की विशेषताओं और अन्तःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का सफल प्रयास किया। आपकी सूर, तुलसी, जायसी की भूमिका रूप में आलोचनाएँ निकलीं। जायसी को हिन्दी-साहित्य गगन में चमकाने का आपका कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। आपकी आलोचनाएँ हिन्दी साहित्य में

सदा के लिए स्थान पा चुकी हैं। आपने कवियों की निष्पक्षता पूर्ण समालोचना कर उनका साहित्य-क्षेत्र में यथोचित स्थान निर्धारित किया। इसके अतिरिक्त आपने रहस्यवाद के तथ्य को समझाने के लिए 'काव्य में रहस्यवाद' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। आप मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त के पोषक हैं कि समालोचना में निष्पक्षता पूर्ण विचार होना चाहिए। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में जो कार्य किया वह बड़ा सराहनीय है। गम्भीर साहित्यिक आलोचकों में आप सर्व प्रथम और पूर्ण रूप से सफल हैं। आपका समालोचना के क्षेत्र का कार्य व्याख्यात्मक और गवेषणात्मक है।

शुक्ल जी के बाद इस क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम आता है। आपने तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर गवेषणात्मक आलोचनाएँ लिखी हैं। आपकी 'कबीर ग्रन्थावली की भूमिका' कबीरदास की कृतियों और कला की उत्कृष्ट आलोचना है। विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं के लिए आपने साहित्यलोचन सम्बन्धी एक सिद्धान्त ग्रन्थ भी लिखा है। इस ग्रन्थ के जोड़ का कोई ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थकारों में नलिनीमोहन सान्याल का 'समालोचना तत्व' सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। बख्शी जी ने 'विश्व साहित्य' पुस्तक में यूरोपीय साहित्य के विकास पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों के प्रचलित मतों का दिग्दर्शन कराया है।

आजकल आलोचना का भण्डार ही सबसे अधिक भरा जा रहा है और जितना कार्य इस क्षेत्र में हो रहा है उतना अन्य क्षेत्र में नहीं। विश्वविद्यालयों में पी० एच० डी० और डी० लिट० के अनेक विस्तृत निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। 'अष्ट-छाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक डा० दीनदयालु गुप्त की थीसिस, 'रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' डा० नगेन्द्र की थीसिस, 'सूरदास' नामक डा० ब्रजेश्वरशर्मा की थीसिस, 'तुलसीदास' और 'तुलसी दर्शन' नामक क्रमशः डा० माताप्रसाद और डा० बलदेवप्रसाद मिश्र की थीसिस 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक डा० सोमनाथ गुप्त की थीसिस, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक डा० रामकुमार वर्मा की थीसिस, 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' नामक

डा० जगन्नाथ शर्मा की थीसिस, 'आधुनिक काव्य धारा' नामक डा० केसरी नारायण शुक्ल की थीसिस, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' क्रमशः डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० श्री कृष्णलाल की थीसिस, 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नामक डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की थीसिस, 'हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण' नामक किरणकुमारी गुप्ता की थीसिस आदि आदि थीसिसों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग में थीसिस लिखने की बाढ़ सी आ गई है। डा० रघुवंश, डा० सूर्यकान्त, डा० रामरतन भटनागर, डा० सत्येन्द्र, डा० रागेय राघव आदि लेखकों ने भी विविध हिन्दी साहित्य के विषयों पर थीसिस लिखीं। साहित्य का यह अंग उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखने की प्रवृत्ति भी वर्तमान युग के साहित्य की एक मुख्य प्रवृत्ति है। इतिहासों में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', कृष्ण शंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' डा० श्याम सुन्दरदास का 'हिन्दी साहित्य', मोतीलाल मैनारिया का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' आचार्य चतुरसैन शास्त्री का 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' राहुल सांकृत्यायन का 'हिन्दी काव्यधारा' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परीक्षा की दृष्टि से साहित्य का सरल इतिहास आदि के नाम से जो इतिहास निकल रहे हैं, वे महत्वहीन हैं। उनमें इतिहास लेखक यथोचित सामग्री का उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं। इस ओर बाबू गुलाबराय का प्रयत्न अवश्य सराहनीय है। इतिहास लेखन कला की नींव डालने वाले आचार्य शुक्लजी हैं। उनका प्रयास इस क्षेत्र में विशेष रूप से सफल है। अभी हाल में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० श्री कृष्णलाल के हिन्दी साहित्य के ५० वर्षों की प्रगति पर लिखे गये क्रमशः आधुनिक हिन्दी साहित्य और आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास नामक इतिहास प्रकाशित हुए हैं। डा० वार्ष्णेय ने हिन्दी साहित्य का १८५० से १९०० तक का और डा० श्रीकृष्णलाल ने १९०० से १९२५ तक की हिन्दी साहित्य की प्रगति का उल्लेख किया है।

आधुनिक कवियों की अन्तः प्रवृत्ति की छानबीन करने के कारण प० कृष्णशंकर शुक्ल के इतिहास ने काफी ख्याति पाई है।

लेखकों और कवियों की विशेषताएँ एवं अन्तः प्रकृति की खोज सम्बन्धी बहुत ग्रंथ से निकले हैं। शुक्ल जी की सूर, तुलसी और जायसी सम्बन्धी आलोचनाएँ, भगवानदीन की सूर, तुलसी और दीनदयाल गिरि की समालोचनाएँ, अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर समीक्षा आदि विस्तृत समालोचनाएँ पुस्तकाकार और भूमिका रूप में निकलीं। डा० कमल कुलश्रेष्ठ का 'मलिक मोहम्मद जायसी', सूर पर मुन्शीराम शर्मा का 'सूर सौरभ', शुक्लजी का 'सूरदास', डा० ब्रजेश्वर शर्मा का 'सूरदास', जनार्दन मिश्र का 'सूरदास', हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'सूर-साहित्य', प्रभुदयाल मीतल का 'सूर निर्णय', नरोत्तमस्वामी को 'सूर समीक्षा', नलिन मोहन सान्याल का 'महाकवि सूरदास', डा० रामरतन भटनागर का 'सूरसाहित्य की भूमिका' आदि तुलसी पर डा० माताप्रसाद गुप्त 'तुलसीदास' और 'तुलसी' डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन', सद्गुरू शरण अवस्थी का 'तुलसी के चार दल दो भाग', ब्यौहार राजेन्द्रसिंह का 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना' दो भाग, चन्द्रबली पाँडे का 'तुलसीदास', रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास', श्यामसुन्दरदास का 'तुलसीदास' और डा० रामरतन भटनागर की 'तुलसी साहित्य की भूमिका'; केशव पर पं० कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्यकला', बिहारी पर विश्वनाथ प्रसाद की 'बिहारी की वाग्विभूति', लोकनाथ त्रिवेदी का 'बिहारी दर्शन', हरदयालु सिंह का 'बिहारी-वैभव', देव पर नगेन्द्र का 'रीति काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता', हरदयालुसिंह का 'देव दर्शन', भारतेन्दु पर ब्रजरत्नदास का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'भारतेन्दु की विचारधारा', प्रेमनारायण शुक्ल का 'भारतेन्दु की नाट्यकला' और डा० रामविलास शर्मा का 'भारतेन्दु युग', द्विवेदी जी पर प्रेमनरायण टण्डन की 'द्विवेदी मीमांसा', प्रेमचन्द पर डा० रामविलास शर्मा का 'प्रेमचन्द', जनार्दन 'द्विज' की 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला', मन्मथनाथ गुप्त का 'कथाकार प्रेमचन्द', सत्येन्द्र जी का 'प्रेमचन्द उनकी कहानी कला', 'हरिऔध' पर गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का 'महाकवि हरिऔध', गुप्त जी पर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की 'गुप्त जी की काव्य धारा', 'नगेन्द्र' जी की 'गुप्त जी की कला', और गिरीश जी की 'गुप्त जी की काव्य

धारा', प्रसाद पर रामनाथ 'सुमन' की 'कवि प्रसाद की काव्य साधना', नन्ददुलारे वाजपेयी का 'जयशङ्कर प्रसाद', जगन्नाथप्रसाद शर्मा का 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्यकला', विनयमोहन शर्मा का 'कविप्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ', विनोदशंकर व्यास का 'प्रसाद और उनका साहित्य,' रामलालसिंह का 'कामायनी अनुशीलन', गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'कामायनी एक परिचय,' शिखरचन्द जैन का 'प्रसाद का नाट्य चिंतन', फतेहसिंह का 'प्रसाद', आदि आदि, 'निराला' पर रामविलास शर्मा का 'निराला', बच्चनसिंह का 'क्रान्तिकारी निराला', और गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'महाप्राण निराला', पंत पर नगेन्द्र का 'सुमित्रानन्दन पंत', महादेवी पर मानव की 'महादेवी की रहस्य साधना' आदि ग्रंथ निकले हैं। एक अध्ययन, एक परिचय और कलाओं की तो गिनती ही नहीं है। रामरतन भटनागर की प्रायः सभी प्राचीन और आधुनिक कवियों पर एक अध्ययन सीरीज निकल चुकी है। इसी प्रकार प्रसाद के नाटकों का और प्रेमचन्द के उपन्यासों का एक परिचय प्रेमनरायण टंडन ने निकाला है।

इसी प्रकार रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने 'सुकवि समीक्षा' में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी मीरा, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। बाबू गुलाबराय एम० ए० ने 'काव्य विमर्श' में प्राचीन और आधुनिक ग्यारह कवियों का अच्छा आलोचनात्मक परिचय दिया है। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता', नाम की पुस्तक लिखकर हिन्दी के वर्तमान कवियों और लेखकों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है। चन्द्रबली पाँडे ने अपने 'हिन्दी कवि चर्चा' और 'विचार विमर्श' में कबीर, जायसी, विद्यापति मीरा, आदि पर उच्चकोटि के साहित्य-समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में महावीरप्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, प्रसाद, निराला और पंत, महादेवी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र और रामेश्वर शुक्ल पर विचारपूर्ण समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

इसी प्रकार वर्तमान युग के सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रंथों

में सेठ गोविंददास का 'नाट्यकला मीमांसा', सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पुरुषोत्तम लाल का 'आदर्श और यथार्थ', शांतिप्रिय द्विवेदी का 'कवि और काव्य,' रामकुमार वर्मा का 'साहित्य समालोचना', विनोदशंकर व्यास का 'कहानीकला' और 'उपन्यासकला', प्रसाद जी का 'काव्य और कला', इलाचंद्र जोशी का 'साहित्य सर्जना', गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'छायावाद रहस्यवाद', अंचल का 'समाज और साहित्य', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'विचार और वितर्क' नगेन्द्र का 'विचार और अनुभूति' और 'विचार और विवेचन', गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'निबंधनी', शिवनरायण श्रीवास्तव का 'हिंदी उपन्यास', शिवचंद्र का 'प्रगतिवाद की रूपरेखा', दिनकर का 'मिट्टी की ओर', शिवदानसिंह चौहान का 'प्रगतिवाद', विजयशंकर मल्ल का 'हिंदी काव्य में प्रगतिवाद', धर्मवीर भारतीय का 'प्रगतिवाद' इलाचंद्र जोशी को 'विवेचना', आदि हैं। आलोचना सम्बन्धी बहुत सा उत्कृष्ट-साहित्य मासिक और साप्ताहिक पत्रों में छिपा पड़ा है जो अभी तक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित नहीं हो सका है।

'भारतीय साहित्य शास्त्र का इतिहास' डा० बल्देव मिश्र का उच्चकोटि का गवेषणात्मक ग्रन्थ है। भाषा शास्त्र पर और भी काफी ग्रंथ निकल चुके हैं।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविश्लेषण के सहारे मन के भीतरी तहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है! नगेन्द्र जी, अज्ञेयजी, नंददुलारे वाजपेयी आदि की आलोचनाओं में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद जी पर 'जयशंकरप्रसाद' नामक एक पुस्तक लिखकर उनकी कृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

काव्य की छायावादी कही जाने वाली शाखा चले काफी दिन हुए। इसकी भी दो शाखाएँ हुईं 'अभिव्यंजनावाद और प्रभाभिव्यंजक'। अभिव्यंजनावाद की प्रणाली पर लिखी हुई पुस्तकों का प्रायः अभाव है। केवल प्रो० नगेन्द्र की 'सुमित्रानन्दन पन्त' पुस्तक ही ठिकाने की मिली। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा का फैशन हिन्दी में बंगाल से होता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसमें किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुन्दरता और अनूठेपन के साथ वर्णन करे। कोई

पूर्ववर्ती साहित्य से आधुनिक युग का साहित्य अपनी अलग विशेषताएँ रखता है। ये विशेषताएँ इतनी प्रमुख तथा मार्मिक हैं कि इस साहित्य के काल को हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ युग कहा जा सकता है। आधुनिक काल की सब से बड़ी विशेषता गद्य का विकास है। "इसके पूर्व के साहित्य में कालानुसार परिवर्तन होते आ रहे थे, पर उसमें प्रधानता पद्य की थी; गद्य साहित्य तो नगण्य था। आधुनिक काल गद्य की उन्नति के पूर्ण अनुकूल रहा और उसमें गद्य की धारा अनेक शाखाओं में होकर पूर्ण वेग से बही।"

आधुनिक हिन्दी साहित्य की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत है। इसके पूर्ववर्ती साहित्य में राष्ट्रीयता का एकदम अभाव था। वीरगाथाकाल में तो चारण लोग अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही मग्न रहा करते थे और उन्हें अपने देश और जाति की तनिक भी चिन्ता न थी, अतः उनके साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं का कुछ पता चलता। वीरगाथा काल के पश्चात् भक्ति काल में भी राष्ट्रीय भावना उपेक्षित रही। विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों में आध्यात्मिकता की प्रधानता के कारण राष्ट्रीयता, जोकि एक लौकिक विषय है, की पूर्ण रूप से अवहेलना हुई है। रीतिकाल के कवि भी वीरगाथाकालीन कवियों की भाँति आश्रयदाताओं की चापलूसी किया करते थे तथा उनके मनोविनोद के लिए कविता करना ही उनका उद्देश्य रह गया था। यद्यपि 'भूषण' और 'लाल' जैसे राष्ट्रीय कवियों का भी इस युग में प्रादुर्भाव हुआ था, तथापि उनकी राष्ट्रीयता एकांगी है। उन्होंने हिन्दुओं का पक्ष लेकर मुसलमानों के विरुद्ध काव्य-रचना की किन्तु आधुनिक काल का सम्पूर्ण काव्य राष्ट्रीयता से प्रभावित दीखता है। आधुनिक साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने जो राष्ट्रीयता की तान छेड़ी वह अब तक चली आ रही है। इस राष्ट्रीयता का आधुनिक हिन्दी साहित्य में विकास भी खूब हुआ। वह राष्ट्रीयता भारतेन्दु युग से लेकर वर्तमान युग तक विकसित ही होती चली आ रही है। भारतेन्दु युग के साहित्य की राष्ट्रीयता का विषय तब तक इतिहास और परम्परा था। द्विवेदी युग में जाकर इस राष्ट्रीयता में आर्थिक समस्याओं का भी योग हो गया। साहित्यकारों की राष्ट्रीय भावना अतीत को छोड़कर वर्तमान की ओर अधिक प्रवृत्त हुई। द्विवेदी युग के पश्चात

वर्तमान युग के साहित्य में इस राष्ट्रीय भावना का इतना अधिक विकास हुआ कि उसने सक्रिय रूप धारण कर लिया। इस वर्तमानकालीन राष्ट्रीयता में आर्थिक और राजनैतिक समस्याएँ भी गम्भीर रूप धारण कर गई हैं।

आधुनिक काल की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता शुद्ध-शृंगारिकता है। शुद्ध शृङ्गारिकता से मेरा अभिप्राय न तो रीतिकालीन अश्लीलता से है और न भक्ति काल के अत्यन्त मर्यादापूर्ण और आध्यात्मिक आवरण से आच्छन्न शृंगार वर्णन से है। आधुनिक काल का शृङ्गार-वर्णन इन दोनों बातों को छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। आशा है कि साधारण पाठक की दृष्टि आधुनिक काल के शृङ्गार की इस सामान्य भूमि तक पहुँचने में समर्थ होगी। आधुनिक साहित्य में इस प्रकार के शुद्ध शृङ्गार के प्राचुर्य का विशेष कारण यही है कि इसका जन्म रीतिकालीन परम्पराबद्ध और अश्लील शृंगार के दुर्गन्धपूर्ण वातावरण से ऊब गए थे वे आधुनिक काल के शुद्ध शृङ्गारिक वातावरण की साफ हवा में आए। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल के साहित्यकारों में भक्ति की भावना इतनी प्रबल नहीं थी कि वे शृङ्गार को आध्यात्मिक आवरण से ढक सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी शुद्ध शृङ्गारिकता के कारण आधुनिक साहित्य पूर्ववर्ती साहित्य से ऊँचा उठ गया है।

आधुनिक साहित्य का पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व इस कारण भी है कि वह जीवन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। पूर्ववर्ती साहित्य में कल्पना की उड़ान अधिक दीख पड़ती है और वह आधुनिक साहित्य की भाँति वास्तविकता की सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ नहीं है। यदि हम हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पूर्ण रूप से विचार करें तो हमें इस तथ्य की प्रतीत भली भाँति हो जायगी। वीरगाथा काल में राजाओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में कल्पना का अंश अधिक दीख पड़ता है तथा वास्तविकता की ओर कम ध्यान दिया गया है। भक्तिकाल में भी अलौकिकता के समावेश के कारण कविता वास्तविकता से दूर हट गई है। राम और कृष्ण के अलौकिक चरित्रों में वास्तविकता की झलक देखने का प्रयत्न निरर्थक है। इसके अतिरिक्त निर्गुण संत कवियों का रहस्य बानियों में भी वास्तविकता ढूँढ़ना व्यर्थ है। प्रेममार्गी [कवि]यों ने जिस अलौकिक प्रेम का वातावरण उपस्थित किया है वह भी

वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ता है। रीतिकाल की कविता में तो वास्तविकता की घोर उपेक्षा हुई है। रीतिकाल की वास्तविकताहीन ऊहात्मक-पद्धति ने तो आचार्य शुक्ल जी को झुँझला दिया। किन्तु आधुनिक युग के साहित्य में वास्तविकता का बड़ा महत्व है। उसमें जीवन की उपेक्षा नहीं हुई है। संपूर्ण आधुनिक-युग के साहित्य में केवल छायावाद की रोमैंटिक कविता को छोड़कर सामाजिक समस्याओं को स्थान दिया गया है। आधुनिक साहित्य के प्रवर्त्तक भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों और कविताओं में तत्कालीन समाज की परिस्थितियों की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है। रीतिकालीन परम्परा का पालन करने वाले बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का काव्य भी जीवन की वास्तविकता को लिये हुए है। 'हरिऔध' 'गुप्त' तथा 'प्रसाद' की रचनाओं में तो यह वास्तविकता का आदर्श अपनी चरम अभिव्यक्ति पा गया। ये कवि यद्यपि आदर्श को लेकर चले हैं तथापि उन्होंने अपने समय की परिस्थितियों को भुला नहीं दिया है। ये अपने समय की परिस्थितियों के बीच आदर्श का दर्शन करने वाले हैं। प्रेमचन्दजी का साहित्य भी इसी प्रकार का है। वे भी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं। आजकल के साहित्य में भी इसी वास्तविकता की प्रधानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन और वास्तविकता की दृष्टि से आधुनिक साहित्य पूर्ववर्ती साहित्य से श्रेष्ठ है।

वास्तविकता के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण भी इस प्रकार का हुआ है जो पूर्ववर्ती साहित्य से स्पष्ट ही अपना एक पृथक अस्तित्व रखता है। आधुनिक युग में ही सर्वप्रथम छायावादी कविता में जाकर प्रकृति की आलम्बन रूप में स्वीकृति हुई। आधुनिक युग से पूर्व रीतिकाल में प्रकृति शृङ्गारी भावनाओं की पृष्ठ-भूमि बनकर रहगई थी। रीतिकाल से पहले भक्तिकाल में प्रकृति उपदेशात्मकता की सहायिका के रूप में चित्रित की गई है। इस प्रकार आधुनिक युग से पूर्व के कवियों ने प्रकृति की पृथक सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने या तो उसे शृङ्गार रस के उद्दीपन के रूप में चित्रित किया है अथवा उसके द्वारा उपदेश दिये हैं। आधुनिक युग में ही प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत हुआ। यद्यपि आचार्य शुक्लजी ने अपनी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदासजी को ही हिंदी में

ऐसा कवि बताया है जिसका ध्यान प्रकृति के सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रों की ओर आकर्षित हुआ है तथापि छायावादी काव्य का प्रकृति-चित्रण तुलसीदास जी के प्रकृति-चित्रण से अधिक सुन्दर है। छायावादी कवियों ने प्रकृति के प्रति यह दृष्टिकोण अंग्रेजी कविता से ग्रहण किया और प्रकृति के प्रति इसी भावना के कारण उनका प्रकृति-चित्रण हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक सुन्दर हुआ है।

आधुनिक युग के साहित्य में प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ दार्शनिकता की अभिव्यक्ति भी महत्वपूर्ण है। आधुनिक युग से पूर्व जो दार्शनिक कविताएँ हुई हैं उनका विकास हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों के अनुसार न होकर दार्शनिक युक्तिजाल के आधार पर हुआ है। आधुनिक युग के छायावाद काल में ही जा कर दार्शनिक कविताओं का विकास हृदय की अनुभूतियों के आधार पर हुआ। इन नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण के ही कारण छायावाद की कविता समूचे हिन्दी साहित्य में अपनी सानी नहीं रखती।

आधुनिक युग की यह भी एक बड़ी विशेषता है कि उसमें साहित्य के सभी अङ्गों का विकास हुआ है। आधुनिक युग से पूर्व साहित्य केवल कविता ही तक सीमित था। गद्य के विकसित हो जाने के कारण आधुनिक युग में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का सूत्रपात हुआ और आगे चलकर ये साहित्य के विभिन्न अङ्ग अत्यन्त विकसित हो गए। आजकल इन विविध अङ्गों की इतनी अधिक उन्नति हो गई है कि हिन्दी साहित्य अन्य किसी भी भाषा के साहित्य से टक्कर ले सकता है। इस प्रकार आधुनिक युग अपने बहुमुखी विकास के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

आधुनिक युग के साहित्य की अन्तिम विशेषता यह है कि उसमें वादों की इतनी प्रधानता मिलती है जितनी किसी अन्य युग के साहित्यमें नहीं आधुनिक हिन्दी साहित्य में वादों की बाढ़ आ गई है। यदि इन वादोंकी बाढ़ का बाँधों द्वारा सुचारु रूप से नहीं रोका गया तो इससे आधुनिक साहित्य की उर्वरताके नष्ट हो जाने का भय है। किन्तु इन वादों से अभी हिन्दी साहित्य समृद्ध